॥ श्री हरिः ॥

पण्डितश्रीरघुनाथशर्मरचित

अहमर्थविवेक-समीक्षा

सम्पादकः

श्रीसन्तशरणवेदान्ती

प्रकाशकः

बिहार धर्मसंघ शाखा

बिन्दगांवा-बन्धु छपरा, भोजपुर

अहमर्थविवेक-समीक्षा

लेखकः

पण्डितश्रीरघुनाथशर्मा
भूतपूर्ववेदान्तविभागाध्यक्ष
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादकः

श्रीसन्तशरणवेदान्ती
वेदान्तवाचस्पति

प्रकाशकः

बिहार धर्मसंघ शाखा

विन्दगांवा बन्धु छपरा, भोजपुर

सं० २०३१] [मूल्य [illegible])

प्रकाशकः—

बिहार धर्मसंघ शाखा

विन्दगांवा वन्धुछपरा, भोजपुर

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

सन् १९७४

मुद्रकः—

मोहन लाल

केशव-मुद्रणालय

सुधाकर रोड, खजुरी, वाराणसी–२

श्र:

उपोद्घात

कार्य मात्र के प्रति कोई न कोई कारण अवश्य होता है। जैसे पुत्र के जन्म में मात-पिता कारण हैं, वैसे ही पुत्र का जीवनादृष्ट भी उसके जन्म में कारण है। इसी कारण की चिन्ता में बड़े-बड़े महर्षियों ने विभिन्न दर्शनों की रचना की और परवर्ती विद्वानों ने उन पर विभिन्न प्रकार की टीकाएँ भी कीं। इन टीकाओं के भेद में उन उन आचार्यों का अपनी साधना का प्रकार ही नियामक था। एक आचार्य ने जिन श्रुतियों को अर्थवाद माना, दूसरे आचार्य ने उन्हें मुख्य अर्थ में मान लिया, यही कारण है कि एक वस्तु के विवेचन में एकत्ववाद और द्वैतवाद का जन्म हुआ। आचार्य भर्तृहरि ने कहा है—

तस्यार्थवादरूपाणि निश्चित्य स्वविकल्पजाः।
एकत्विनां द्वैतिनाञ्च प्रवादा बहवो मताः॥

ठीक यही स्थिति वेदान्तसूत्र के भाष्यों में भी भेद का कारण बनी, और अनेक आचार्यों ने उनकी व्याख्यायें कीं। जब कि भगवान् रामानुजाचार्य सविशेष-ब्रह्म को अहंपद का वाच्यार्थ मानते हैं, वहीं भगवान् शङ्कराचार्य "अहं ब्रह्मास्मि" में अहंपद का निर्विशेष-ब्रह्म को लक्ष्यार्थ मानते हैं। इस पर दोनों आचार्यों में मत-भेद है। और दोनों की आराधना पद्धति भी भिन्न-भिन्न है। दोनों प्रकार के आराधक सद्गति प्राप्त करते होंगे, इसमें संशय भी नहीं। विद्वान् लोग तो जिस ग्रन्थ पर टीका लिखते हैं उसके पक्ष को ही प्रौढ़ि के साथ समर्थन करते हैं। इसमें वाचस्पति मिश्र का नाम षड्दर्शन टीकाकार के नाम से प्रसिद्ध है और उनकी टीकाएँ प्रत्येक दर्शन के विद्वानों के लिए मान्य हैं।

इसलिए विद्वानों के विचार पर खण्डन-मण्डन चलते हैं, और अपनी कल्पना-शक्ति को बलवती बताने का प्रयत्न भी करते हैं। यह तो विद्या और बुद्धि की शोभा है।

इधर देखा जाता है कि ईसा से लेकर अब तक जितने विदेशी धर्माचार्य हुए वे अपने विरुद्ध सम्प्रदाय वालों के प्रति अशिष्ट शब्द का प्रयोग करते रहे, इसका

प्रभाव भारत में भी आया, तथा कतिपय सम्प्रदायों के लोग अन्य सम्प्रदायों से तथा उनके देवमन्दिरों से भी घृणा और द्वेष का वातावरण बनाते रहे। इस पर शङ्कराचार्य से लेकर तुलसीदास तक ने संघर्ष मिटाने का प्रयास किया, किन्तु एकत्ववाद में विश्वास न करने वाले लोगों ने न तो उनकी बात सुनी और न उनपर आक्षेप करने से बाज ही आए।

यह तो पुरानी बात है। अभी मार्क्सदर्शन के खण्डन में स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज ने "मार्क्सवाद और रामराज्य" नाम का ग्रन्थ लिखा है, जिसमें दर्शनों की और उनके भेदों की सामान्यतः चर्चा की है। इसके खण्डन में राहुलसांकृत्यायन ने "रामराज्य और मार्क्सवाद" पुस्तक की रचना की जिसमें वैष्णव समुदाय द्वारा शङ्कराचार्य के मत के खण्डन का प्रश्न उपस्थित किया गया। जिसका खण्डन श्रीस्वामी जी ने "राहुल की भ्रांन्ति" नामक पुस्तक में केवल शङ्कराचार्य के पक्ष का समर्थन करने की दृष्टि से वैष्णवों के पक्षों का उपस्थापन तथा शङ्कराचार्य के पक्ष का प्रतिपादन किया। इस पर विहार में भ्रमण करने वाले त्रिदण्डी स्वामी श्रीविष्वक्सेनाचार्य जी ने "आत्ममीमांसा" नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की। जिसमें कुपित होकर उन्होंने स्वामी करपात्री जी को मायावादी गजराज कहकर ग्रन्थनिर्माण का उद्देश्य कुम्भस्थल का विदारण लिखा साथ ही कहा गया कि स्वामी करपात्री जी ने अपनी पुस्तक में श्रीभाष्य का खण्डन किया है। जैसे—

१. अद्वैतवादिकरिकुम्भदृढं विभेन्तु-
मातन्यते कृतिवरा खलु वक्ष्यमाणा।

२. मायीभराजकरपात्र्युपनामधेय
आनन्दको हरिहराख्यसरस्वती सः।
स्वे मार्क्सवादकृतिमध्यगते हि रुद्रे
च्छेदे स्वकीयमदतापरिचिह्नरूपम्॥

३. चक्रे श्रीभाष्य आक्षेपं तद्विनाशनहेतवे।
कुर्वेऽहमात्ममीमांसां श्रीवैष्णवमुदावहाम्॥

इस कुवाच्य का उत्तर देना स्वामी जी के लिए शक्य नहीं था। अतः कुछ लिखा नहीं गया, किन्तु स्वामी जी के अनन्य भक्तों को यह कुवाच्य अच्छा नहीं

लगा और उन लोगों ने उसी प्रकार के कुवाच्य लिखना आरम्भ किया। जैसे—

१. कश्चिद् वाचाटपाशो नररुधिरभुजामग्रणीर्वीतलज्जो
याथाजातैकबन्धुः कुटिलकुलकलिः कामिकः कुञ्चिताक्षः।
मार्क्सैकान्ताध्वनीनः कपटपटुवटुः शूर्पजीवातुशिष्यो
विष्वक्सेनाभिधानं मलिनयति हरेः कौलिकः कालनेमिः ॥

२. रे रे रावण राक्षसाधम पुनर्जागर्षि विध्वंसने
किं रे दाशरथेश्चमूपतिबृहद्गर्जा न संतर्जिताः।
श्रीमद्राघवराज्यवर्धनरिपुप्रध्वंसदीक्षाव्रतैः
पूज्यश्रीकरपात्रमान्यचरणैर्व्यर्थं नु वैरायसे ॥

इन श्लोकों से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि त्रिदण्डी स्वामी का आरा जिला में वक्सर के निकट रहना और ताटकावन में उनका यह उन्माद कभी भी जगत् के कल्याण के लिए नहीं हो सकता। इस चीज को ध्यान में रख कर श्री स्वामी करपात्री जी ने एक वक्तव्य देकर इस साम्प्रदायिक उन्माद को रोकने का प्रयास किया और उन्हें अवगत कराया कि जितने आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन हैं सब में अहमर्थ पर विचार है और प्रत्येक विचार यदि श्रीभाष्य का खण्डन ही है तो आप के लिए बड़ी कठिन समस्या है। मेरा श्रीभाष्य का खण्डन करना उद्देश्य कभी नहीं रहा। इस पर श्री त्रिदण्डी स्वामी जी ने स्वामी करपात्री जी के "अहमर्थ और परमार्थसार" ग्रन्थ की "अहमर्थविवेक" नाम के ग्रन्थ में आलोचना की। इस ग्रन्थ को स्वामी जी ने देखा, बीच-बीच में "मत्तप्रलाप" "ज्ञानदौर्बल्य" जैसे कटु शब्दों का प्रयोग देखकर और सांप्रदायिक उन्माद न बढ़े धर्मसंघ के कार्यों में इस प्रकार मन्थरा का अकाण्ड ताण्डव कोई विपरीत दिशा न बना दे इसलिए मौन रहना ही अच्छा माना।

क्योंकि "अनुंहुकुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी।" (सिंह मेघों की गर्जना सुनकर गर्जता है सियारों का रोना सुनकर नहीं) किन्तु जब वृन्दावन के श्रीरङ्गाचार्य ने यह सन्देश बार-बार भेजा कि—'आत्ममीमांसा' पुस्तक तो श्रीनीलमेघाचार्य द्वारा रची गयी थी उसका उत्तर भले ही स्वामी करपात्री जी ने "अहमर्थ और परमार्थसार" में लिखा। किन्तु यह "अहमर्थ विवेक" त्रिदण्डी स्वामी जी की बुद्धि का परिणाम नहीं, मेरी बुद्धि का परिणाम है। इसका उत्तर

कथमपि दिया नहीं जा सकता। इस प्रकार का प्रचार सुन कर भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वेदान्तविभागाध्यक्ष पं० श्रीरघुनाथशर्मा जी ने "अहमर्थ विवेक-समीक्षा" नाम के ग्रन्थ का निर्माण किया।

इसमें किसी प्रकार की अशिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। यदि कहीं कुछ प्रयोग है भी तो प्रतिवन्दी उत्तर के रूप में ही है। जैसे—"यह स्वामी जी का प्रलाप नहीं आपका ही प्रलाप है"।

हम तो स्वामी जी के परम भक्त हैं। मुझे तो अपने महाराज जी के प्रति यदि किसी ने अशिष्ठ शब्द का प्रयोग किया है। मैंने गुरुओं से सुना है कि गुरु के प्रति गाली सुनने से भी पाप लगता है।

न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।

इस कालिदास की उक्ति को ध्यान में रखते हुए, इस कृति का प्रकाशन किया है। मुझे ताटकावन के इस साधक के प्रति अब उतना रोष नहीं है जब उनके ही लोग यह कहने लगे हैं कि—

"अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः।"

तब हम बेचारे त्रिदण्डी स्वामी पर दोषारोप ही क्यों दें। यह तो किसी का लिखित जारजात ग्रंथ है। जिसमें अपनी असमर्थता का निवारण गाली देकर क्रोध उत्पन्न करके विषय से दूर भागने की चेष्टा की है।

हम इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता करने वाले विहार-धर्मसङ्घ शाखा विन्दगांवा के निवासियों को धन्यवाद देते हैं। जिन लोगों में कतिपय त्रिदण्डी स्वामी के भक्त होते हुए भी उनकी गाली देने की नीति से असन्तुष्ट होकर इस ग्रंथ के मुद्रण में आर्थिक सहायता देकर अपने कर्तव्य का पालन किया है।

हम भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना करते हैं कि सब प्राणियों में सद्भावना हो और वह किसी की नियत को गलत न लगावे तथा अपने-अपने सम्प्रदायानुसार भगवान् की आराधना में लगे रहें। व्यर्थ के कीचड़ उछालने से किसी भी पक्ष को शान्ति नहीं है। स्वामी जी महाराज से मैं क्षमा चाहता हूँ, क्योंकि उनके रोकने पर भी मैंने इस ग्रन्थ का मुद्रण कराकर श्री रङ्गाचार्य जी के हाथों में समर्पण करने की प्रतिज्ञा ली थी। विज्ञजन मेरे प्रति अनुग्रह रखेंगे।

—सन्तशरण-वेदान्ती

अहमर्थं समीक्षा का उद्देश्य

श्रीकरपात्री जी महाराज ने एक पुस्तक "अहमर्थ और परमार्थसार" लिखा। उसका खण्डन श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने किया। यह दोनों ही महात्मा महान् पुरुष हैं। श्रीकरपात्री जी ने अहंपद का लक्ष्यार्थ निर्विशेष-चैतन्य को बताया जो कि "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतियों में अहंपद का लक्ष्यार्थं है।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने अहंपद के वाच्यार्थ को अहमर्थ बताया जिसका लोक में तथा लोकानुयायी-न्यायादि-शास्त्रों में बहुधा प्रयोग पाया जाता है।

यह विवाद—"अहं ब्रह्माऽस्मि" इस श्रुति के अर्थ-निर्णय के लिए उपस्थित हुआ। "अहं ब्रह्माऽस्मि" इस श्रुति का अर्थ जीवब्रह्मैक्य है और वही उपक्रम तथा उपसंहार से सिद्घ होता है। और वही लोकतः अप्राप्त होने से विधेय भी है। जीव-ब्रह्मभेद तो लोकतः प्राप्त होने से विधेय नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में जीवब्रह्मैक्य अहंपद की निर्विशेष-चैतन्य में लक्षणा के विना उपपन्न नहीं हो सकता। अतः यह विवाद भिन्न विषयक होने से उचित नहीं प्रतीत होता।

"अहमर्थ विवेक" के पढ़ने से मुझे बहुत दुःख तथा आश्चर्य हुआ, क्योंकि स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसमें अपशब्दों का प्रयोग किया गया है जो कि विद्वेष का द्योतक है। और स्वार्थ का साधक नहीं है। स्वार्थ की सिद्धि तो साधनों से होती है।

मान्यान् प्रणम्य विहिताञ्जलिरेष भूयो-
भूयो विधाय विनयं विनिवेदयामि।
दूष्यं वचो मम बुधैर्निपुणं विभाव्य
भावावबोधविहितो न दुनोति दोषः॥

मातृसदन — रघुनाथशर्मा

छाता–बलिया।

१५–३–७४

श्रीहरिः

अहमर्थविवेक-समीक्षा

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकोनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥

श्रीकरपात्री जी महाराज ने आत्मतत्त्वबुभुत्सु लोकों के उपकार के लिये "अहमर्थ और परमार्थसार" नामक ग्रन्थ लिखा। उसके प्रत्याख्यान में अभिनिविष्ट होकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी उसका प्रत्याख्यान किये। जिसका नाम है— "अहमर्थविवेक"। उसकी भूमिका श्रीमञ्जुमणि माधव प्रपन्नाचार्य ने लिखी।

सम्मुखीन समीक्षा

उस भूमिका में श्रीमञ्जुमणि जी लिखते हैं कि—"तीसरे प्रकार के उपनिषद् वाक्य 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' आदि को मानकर विशिष्टाद्वैतवेदान्त की स्थापना हुई"। इस वेद वाक्य से विशिष्टाद्वैतवेदान्त की स्थापना नहीं हो रही है।

आगे चल कर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं कि—"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्' इत्यादि ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से और 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इत्यादि उपनिषद् मन्त्रों से शून्यवाद और अन्य नास्तिकवाद के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत होता है"।

प्रथम या द्वितीय किसी भी उद्धृत उपनिषद्वाक्य से शून्यवाद का संकेत नहीं मिलता। क्योंकि वेदों में "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे" यह लिखा है जिससे तमोवाद अर्थात् मायावाद का संकेत मिलता है और नासदासीद् इत्यादि वाक्यों से अनिर्वाच्यतावाद की पुष्टि होती है।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं—"बाद में श्रीस्वामीशङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य कर एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया, फिर भी ब्रह्मसूत्र से सर्वथा असंमत रहा, क्योंकि आद्यन्त ब्रह्मसूत्र सविशेष ब्रह्म का ही निरूपक है"।

इसका उत्तर है—श्रीशङ्कराचार्य के बाद में श्रीस्वामीरामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्यकर एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया, फिर भी ब्रह्मसूत्र से

सर्वथा असंमत रहा, क्योंकि आद्यन्त ब्रह्मसूत्र का निर्विशेष ब्रह्म में ही तात्पर्य है, जिसका सोपपत्तिक निरूपण श्रीशङ्कराचार्य ने किया है।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं—"श्रीशङ्कराचार्य जी का भाष्य सूत्रानुसारी न होकर स्वसिद्धान्तानुसारी अधिक है, अतः जहाँ कहीं सूत्र से स्वसिद्धान्त का विरोध पड़ा वहां—'सूत्राक्षराणि त्वेवं नेतव्यानि' ऐसा स्पष्ट ही कर दिया है जो कि भाष्य सूत्रार्थ के विपरीत है"।

इसका उत्तर है कि शांकरभाष्य श्रुत्यनुसारी है और श्रुति सिद्धान्तानुसार ही श्रीशङ्कराचार्य ने सूत्रों का अर्थ किया है। प्रत्येक सूत्रों का अर्थ श्रुतियों का उद्धरण देकर ही उन्होंने किया है। सूत्रों का अर्थ अनेक प्रकार का होता है।

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

यह सूत्र का लक्षण है। सूत्र विश्वतो मुख होता है। अतः सूत्रों के श्रुति विरुद्धार्थोंन्मुख्य को रोकने के लिए—'सूत्राक्षराणि त्वेवं नेतव्यानि' इस प्रकार श्री शङ्करचार्य लिखते हैं।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं—"शाङ्करभाष्य की इस उत्सूत्रता को सभी पाश्चत्य विद्वान् स्वीकार करते हैं, और स्वयं अद्वैतवेदान्ती भी इस दूषण को भूषणरूपी मानते हैं"।

यह श्रीमज्जुमणि जी का आक्षेप अनुपपत्तिक है क्योंकि उन्होंने ५,७ पाश्चात्य विद्वानों का तथा कुछ अद्वैतवेदान्तियों का नाम निर्देश नहीं किया है।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं कि—"श्रीस्वामी शङ्कराचार्य अपने पूर्व के किसी भाष्य का नाम नहीं लेते वल्कि वृत्तिकार या भागवत नाम से उद्धरण कर खण्डन करते हैं, जो इनके भाष्य के सर्वथा विरुद्ध थे। इससे और भी यह पुष्ट होता है कि निर्विशेषाद्वैतवाद का ब्रह्मसूत्र पर कोई भाष्य नहीं था"।

यह श्रीमज्जुमणि जी की उक्ति अयुक्त है क्योंकि श्री शङ्कराचार्य को वेदान्तसूत्रों की व्याख्या करना अभीष्ट था, उस व्याख्या में प्रमाणरूप से श्रुतियों का उन्होंने उपन्यास किया, और जो स्वव्याख्या के विरोधी ग्रन्थ थे उनका खण्डन

किया। श्रीशङ्कराचार्य जी के निर्विशेषाद्वैतवाद के भाष्य के पहले निर्विशेषाद्वैत-वाद का कोई भाष्य नहीं था इस कथन से निर्विशेषाद्वैतवाद का खण्डन नहीं हो सकता। क्योंकि इसके समर्थन के लिए श्रीशङ्कराचार्य ने विष्णुसहस्रनाम—आपस्तम्बधर्मसूत्र—सनत्सुजातीय–गीता तथा उपनिषदों के ऊपर भाष्य लिखा है। तथा निर्विशेषाद्वैतवाद के समर्थन में श्रीगौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषत् कारिका लिखा है।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं कि—"इसके विपरीत बड़े ही सौम्य शब्दों में श्रीरामानुजाचार्य ने अपने पूर्वाचार्यों का सबहुमान स्मरण किया है।"

इसका उत्तर—अपने समर्थकों का सबहुमान स्मरण सभी करते हैं।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं—"बोधायन, भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मनन्दी प्रभृति अनेक विशिष्टाद्वैत प्रतिपादक लघु या वृहद्भाष्य या वृत्तियाँ थीं जो शङ्करा-चार्य के खण्डन से प्रमाणित हो जाती हैं"।

इसका उत्तर—बोधायन, भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मनन्दी प्रभृति ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक हैं यह आपके कह देने से सिद्ध नहीं होगा।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं कि—"विशिष्टाद्वैत का प्रति तन्त्र सिद्धान्त शरीरशरीरिभाव है, इसको मीमांसाचार्य भट्ट कुमारिल भी स्वीकार कर अभेद प्रतिपादक श्रुतियों का समन्वय करते हैं। ग्रहैकत्वाधिकरण (३–१) तथा व्योम् शरीरोऽपि परमात्मा श्रतौ श्रुतः इत्यादि"।

इसका उत्तर यह है—कि श्रीमज्जुमणि जी को भट्टकुमारिल के स्वार्थसाधक वाक्यों का यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक था भट्ट कुमारिल के ग्रहैकत्वाधि-करण के वाक्यों से श्रीमज्जुमणि जी की स्वार्थसिद्धि कदाऽपि नहीं होगी। श्रुतियों में सविशेष और निर्विशेष द्विविध परमात्मरूप का वर्णन है उसमें सविशेष रूप मायाकार्य व्योमाद्युपाधिक होने से व्यावहारिक है और निर्विशेषब्रह्म परमार्थ है। इस प्रकार परस्पर विरोधि श्रुतियों का समन्वय श्री शङ्कराचार्य ने किया। नैयायिक शिरोमणि उदयनाचार्य ने 'आत्मतत्त्वविवेक' में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ के अवसर पर निर्विशेषाद्वैतवाद को महावहित्र तथा वेदनय शब्द से कहा है "किमार्द्रकवणिजां महावहित्रचिन्तया।"

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः
तद्बाधने बलिनिवेदनये जयश्रीः।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः॥ इति।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं—"इसलिए शङ्कर से पहले से भी यह शरीरात्मभाव निबन्धन विशिष्टाद्वैतवाद अबाधगति से चला आ रहा है"।

श्रीमज्जुमणि जी की इस बात को मैं अवश्य मानता हूँ। क्योंकि विशिष्टाद्वैतवाद का निबन्धन शरीरात्मभाव अवश्य है और यह शरीरात्मभाव चार्वाकमत है जिसको लोकायत्त भी कहते हैं। यह देहात्मवाद अनादिकाल से लोक में प्रसिद्ध है।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं—"इसलिए वेदव्यास ने शरीरात्मभाव से समन्वय का द्योतक ब्रह्मसूत्र का पहला नाम शारीरकसूत्र ही रखा"।

यहाँ पर श्रीमज्जुमणि जी शारीरकशब्द की व्युत्पत्ति नहीं बता रहे हैं। 'कुत्सितं शरीरं शरीरकम्, तत्र भवः=तदभिमानी शारीरको जीवात्मा तस्य यथार्थस्वरूपविमर्शकं सूत्रम्=शारीरकसूत्रम्' इस व्युत्पत्ति से तो शारीरकसूत्र निर्विशेषाद्वैत प्रतिपादक ही सिद्ध होता है। क्योंकि जीवब्रह्मैक्य को शारीरकसूत्रभाष्य में श्री शङ्कराचार्य ने श्रुतियों का प्रमाण देकर विशदरूप से सिद्ध कर दिया है। "अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्" इत्यादि श्रुतियाँ विशिष्टाद्वैतवाद में कदापि उपपन्न नहीं हो सकतीं।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं कि—"श्रीशङ्करस्वामी को यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि शब्दार्थ से अतिरिक्त किञ्चित् योजना करें अथवा किञ्चित् न्यूनता करें"। इसके लिए उदाहरण देते हैं –'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' यह सूत्र।

इसका उत्तर है कि इस सूत्र पर श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य का उद्धरण देना श्रीमज्जुमणि जी को आवश्यक था। प्रतिज्ञामात्र से कभी साध्य सिद्धि नहीं होती।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं—"शङ्कराचार्य का शब्दानुसारी अर्थ नहीं होता। उदाहरण के लिए द्वितीय अध्याय के तृतीयपाद का त्रयोदश अधिकरण देखा जा सकता है"।

इसका उत्तर है—उक्त शाङ्करभाष्य के उद्धरण देकर स्वार्थ की उपपत्ति के विना आपकी वात अमान्य है।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी लिखते हैं—"सम्भवतः उसी परम्परा में दीक्षित हो जाने के बाद ही कोशकार के माने ऊर्णनाभि (मकड़ी) (अहमर्थ और परमार्थसार पृष्ठ २२६) मालूम हो सकेगा"।

इसका उत्तर है—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

अव समाधान सुनिए—कोशकार शब्द का मकड़ी में प्रयोग श्रीकरपात्री जी ने 'सिंहो माणवकः' के तरह गौणी वृत्ति से किया है। यहां पर तन्तुरूप कार्य का साम्य गौणीवृत्ति का प्रयोजक है।

श्रीकरपात्री जी ने कहा है—"मिथ्या सर्पज्ञान से भय कम्पादि होता है, मिथ्या वस्तु में भी अर्थक्रियाकारित्व होता है"।

इसका खण्डन भी मज्जुमणि जी करते हैं—"जब कि सर्पज्ञान से ही भय कम्पादि होता है और मिथ्यासर्पज्ञान से तो भयकम्पादि की निवृत्ति ही होती है। हाँ यदि श्रीस्वामी जी दूध की आवश्यकता होनेपर 'नभो दुग्ध' से तुमड़ी भर लेते हों तो स्वामीजी का यह भी लिखना सिद्ध हो जायेगा कि—'मिथ्यावस्तु में भी अर्थ क्रियाकारित्व होता है"।

इसका उत्तर यह हैं कि—मिथ्या भूत जो सर्प उसके सर्पत्वेन ज्ञान से भी भय कम्पादि होता है। श्रीकरपात्री जी के वाक्य में मिथ्यात्व सर्प का विशेषण है ज्ञान का नहीं। मिथ्या सर्पज्ञान से भय कम्पादि की निवृत्ति नहीं होती। किन्तु सर्पज्ञान के मिथ्यात्वप्रकारक ज्ञान से भय कम्पादि की निवृत्ति होती है। मिथ्या वस्तु भी अर्थक्रियाकारी होता है। इसका उदाहरण है कि स्वप्नावस्था की मिथ्या स्त्री सत्य संभोग सुख का साधन है। 'यदा कृष्णं कृष्णदन्तं पुरुषं पश्यति

स एवैनं हन्ति' यह श्रुति भी इसमें प्रमाण है। 'नभो दुग्ध' से तुमड़ी नहीं भर सकती है क्योंकि 'नभो दुग्ध' मिथ्या नहीं है। शशविषाणादि के तरह अलीक है। मिथ्या शब्द का अर्थ अनिर्वाच्य है अलीक नहीं। मिथ्याशब्दोऽयमनिर्वच-नीयता वचनः' यह ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के अध्यासनिरूपणावसर में श्रीवाच-स्पति मिश्र का वचन है।

आगे चलकर श्रीमज्जुमणि जी महात्मा श्रीस्वामी महेश्वरानन्दजी के ऊपर आक्षेप करते हुए लिखते हैं कि—'आमुख में ही श्रीस्वामी जी ने 'परमार्थ-सार' जो एक अर्वाचीन किसी 'शेष' नामक पण्डित का बनाया ग्रन्थ है, उसको 'महर्षि पतञ्जलि' के नाम पर प्रामाणिक बनाना चाहते हैं। इसके लिये ३०० वर्ष के अर्वाचीन 'नागेशभट्ट' के द्वारा शेष नाम से उद्धृत 'परमार्थसार' कम से कम वि० पू० १५०० वर्ष के पूर्व वर्तमान महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि को ही परमार्थसार के निर्माता कहते नहीं हिचकते। यदि यह ग्रन्थ भगवान् पतञ्जलि का ही होता तो प्राचीन आचार्य श्रीशंकराचार्य आदि उसका उद्धरण न देते ? और पतञ्जलिचरित में उसका उल्लेख क्यों न आता"।

इसका उत्तर है—'परमार्थसार' के रचयिता शेष पतञ्जलि से अन्य थे इसके लिये आपके पास कोई पुष्ट प्रमाण है? यदि है तो उल्लेख क्यों नहीं किया। यदि शंकराचार्य आदि विद्वानों के उद्धरण न देने से शेष को पतञ्जलि से अर्वाचीन समझते हैं तो उद्धरणानुपयोग भी अनुद्धरण का कारण हो सकता है। जो कुछ भी हो यदि 'परमार्थसार' श्रुति स्मृति संमत है तो मान्य होगा ही। इसीलिए यह आप्तोक्ति है—'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इति। ३०० वर्ष के अर्वाचीन विद्वान् नागेशभट्ट परमार्थसार का आदर किये हैं अतः आपको भी पर-मार्थसार का आदर करना चाहिए। 'नागेशभट्ट' हमलोगों के तथा आपके गुरु हैं। उनके ग्रन्थों को पढ़कर हमलोग आज विद्वान् कहे जा रहे हैं।

उपोद्घात समीक्षा

'अहमर्थविवेक' का ही उपोद्घात श्रीरामावतारशर्मा लिखे हैं। उसमें उन्होंने लिखा है कि—

(१) "सर्वव्यापी ब्रह्म में चित् और अचित् (जड़) ये दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं।

(२) यह सृष्टि वास्तविक है, और यह जगत् उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म।

(३) अतः यह सृष्टि और जगत् भ्रममात्र नहीं है। 'यथार्थं सर्वविज्ञानम्' सभी ज्ञान सत्य होता है और कोई भी विषय मिथ्या नहीं है।

(४) रज्जु सर्पवाले भ्रम में भी यही बात है, जो तीनों तत्त्व (तेज, जल, पृथ्वी) सर्प में विद्यमान हैं, वे ही रज्जु में भी। इसीलिए जब वह वस्तुतः सत् सामानतत्त्व परिलक्षित होता है तब हमें रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। वहाँ असत् पदार्थ की प्रतीति नहीं होती।

(५) प्रत्येक विषय के मूल उपादान सभी विषयों में वर्तमान रहते हैं, अतः उसी प्रकार से सभी भ्रमों की उत्पत्ति हो सकती है"।

प्रथम का उत्तर है कि—इस सिद्धान्त में—'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति का विरोध है।

द्वितीय का उत्तर हैं—कि यह सृष्टि वास्तविक नहीं है और जगत् ब्रह्म के समान सत्य नहीं हैं इसमें श्रुति, स्मृति, पुराण आदि प्रमाण हैं - 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' यह श्रुति है जो सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वाच्य माया को तमः शब्द से कह रही है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञातं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनु)

"यत्र त्रिसर्गो मृषा" यह भागवत के पहले पद्य का अंश है। 'त्रयाणां पृथिव्यप्तेजसां सर्गः संसारो यत्र ब्रह्मणि मायया कल्पितस्तत्त्वादेव मृषा मिथ्या' यह इसका अर्थ है।

द्वितीय के खण्डन से ही तृतीय भी खण्डित हो जाता है।

चौथे का खण्डन है कि—यथा कथञ्चित् रज्जु और सर्प के उपादान कारण को एक मान भी लिया जाय तो रज्जु तथा सर्परूप कार्य का भेद तो है ही। अतः रज्जु का सर्पात्मना भान मिथ्या है और उस भान का विषय सर्प भी मिथ्या है।

चतुर्थ के खण्डन से ही पञ्चम का भी खण्डन हो जाता है।

आगे चल कर श्रीरामावतारशर्मा जी लिखते हैं कि—

(१) "ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (जड़ प्रकृति) दोनों तत्त्वों से युक्त है। वह एक मात्र सत्ता है—अर्थात् उससे पृथक् या स्वतन्त्र और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है।

(२) परन्तु उसमें जो जीव और प्रकृति हैं सो भी वास्तविक हैं इस प्रकार चित् और अचित् अंशों से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक है यही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है"।

प्रथम का खण्डन यह है कि—जब ब्रह्म एक मात्र सत्ता है। जीव तथा प्रकृति और उसके कार्य की सत्ता नहीं है। यदि कहें कि ब्रह्म की सत्ता से इनकी सत्ता है तब ये स्वरूपेण असत् हैं। और चित् तथा अचित् ब्रह्म के अंश हैं यह कहना भी असंगत है क्योंकि ब्रह्म में सावयवत्व मानने पर विकारित्व अनित्यत्व आदि की आपत्ति होगी।

आगे चलकर श्रीरामावतारशर्मा जी ने यह लिखा है कि—"ब्रह्म अनन्त-गुणों का भण्डार है, वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और कृपालु है अत एव ब्रह्म सगुण है निर्गुण नहीं। 'निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसंबन्धात् उपपद्यन्ते' अर्थात् उपनिषदों में जो ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म में जीव के हेयगुण (रागद्वेष आदि) नहीं पाया जाता"।

इसका उत्तर यह है कि—माया ब्रह्म की शक्ति तथा उपाधि है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति (श्रुति)। 'पराऽस्य शक्ति-र्विविधैव श्रूयते' इति (श्रुति) 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः' इति (गीता)। 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' इति (गीता)।

माया रूप उपाधि के गुणों से भगवान् सगुण हैं, तथा—स्वरूपतः निर्गुण निर्विकार हैं। इस पक्ष में सगुण तथा निर्गुण पद घटक गुण पद का उपादेय गुण-परतया तथा हेयगुणपरतया संकोच नहीं करना पड़ता। श्रुतिघटक पदों का संकोच नहीं करना यही उचित पक्ष है।

अहमर्थविवेक समीक्षा

अब हम 'अहमर्थविवेक' में श्रीकरपात्री जी के ऊपर किये गये आक्षेपो का उत्तर दे रहे हैं—अहमर्थविवेक में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है कि—

"तथाकथित अपने परम प्राप्य स्वामी का ही शेषभूत यह अहमर्थ आत्मा है। यह प्रजापति वाक्योक्त प्रकार से अपहतपाप्मत्व, विरजत्व (विजरत्व), विमृत्युत्व, विशोकत्व, विजिघत्सत्व, अपिपासत्व, सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व गुणाष्टक-विशिष्ट हैं"।

अहं पद का शक्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ यह वृत्तिभेद से दो अर्थ है। जिस अर्थ में जिस शब्द का बहुल प्रयोग देखा जाता है वह उस शब्द का शक्यार्थ है और जिस अर्थ में जिस शब्द का अल्प प्रयोग देखा जाता है वह उस शब्द का लक्ष्यार्थ है जैसे—'गङ्गा' शब्द का 'प्रवाह' शक्यार्थ है और 'तट' लक्ष्यार्थ है। अहं शब्द का बहुल प्रयोग देह इन्द्रिय प्राण मन और अहंकार में देखा जाता है अतः ये सभी अर्थ अहं शब्द के शक्यार्थ हैं और गुणाष्टकविशिष्ट में अहं शब्द का प्रयोग अल्प देखा गया है (केवल श्रुति में ही कहीं-कहीं देखा गया है) अतः गुणाष्टक-विशिष्ट आत्मा अहंपद का लक्ष्यार्थ है। यह आत्मा अपने परम प्राप्य स्वामी का शेष नहीं है, प्रत्युत गुणाष्टकसंपन्न होने से अविशेषात् स्वामी स्वरूप है।

इसके समनन्तर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"अन्तर्यामि ब्राह्मणोक्तरीति से इसके अन्तर्यामी, शरीरी, और नियामक तथा नारायणानुवाकोक्त मार्ग से इसके शेषी स्वामी सर्वकारण भगवान् नारायण हैं, यह उन्हीं का शरीर नियाम्य और शेष है"।

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कहना ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् नारायण और एतादृश जीव दोनों गुणाष्टक सम्पन्न होने से समान हैं अतः इन दोनों में अभेद है, इनमें सेव्य सेवकभाव, नियम्य-नियामकभाव, शेषशेषित्वभाव, शरीर-शरीरिभाव नहीं बनता। गीता में लिखा है—"उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः" इति। अहंपद का शक्यार्थ अन्तःकरणोपहित चिदात्मा जीव भगवान् का सेवक, नियम्य, शेष, शरीर सब कुछ हो सकता है।

इसके समनन्तर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"यह अहमर्थ आत्मा अपने अनादिकर्मप्रवाह में प्रवृत्त भगवत्स्वरूप ज्ञानप्रतिबन्धिका स्वात्म विपरीत ज्ञानजननी और स्वविषय में भोग्यता बुद्धिजननी देहेन्द्रियरूप से

भोग्यभोगोप- करणरूप तथा सूक्ष्मरूप से अवस्थित दैवीगुणमयी माया से बंधा हुआ है" ।

यह भी श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह अहमर्थ (अहंपद लक्ष्यार्थ, गुणाष्टकसंपन्न, आत्मा) दैवी गुणमयी माया से बद्ध नहीं है, यह तो सदा मुक्त है ।

इसके समनन्तर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"इसे यथार्थरूप से जानकर तथा हमारे पिता माता धाता गति भर्ता प्रभु साक्षी निवास सुहृत् एवं सर्वानिष्टदुरितपुञ्जनिवर्तक सर्वाभीष्टप्रद परमपुरुषार्थस्वरूप भगवान् नारायण हैं। इस तरह निदिध्यासन कर सर्वप्रकारेण सदा के लिए प्रकृतिबन्धन से छूट कर ब्रह्मानन्दवल्ल्युक्त प्रकारेण वाङ्मनसा परिच्छेद्यानवधिकानन्द ब्रह्म को प्राप्त होकर इस संसारावर्त में आवर्तन को नहीं प्राप्त होता है। इस अर्थ को होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा श्रुति, स्मृति, सूत्रात्मकवाक्य द्वारा आम्नान करते आ रहे हैं" ।

यह भी श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहना ठीक नहीं है क्योंकि -"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रुति मे मोक्षार्थ आत्मा का निदिध्यासन लिखा है, परमात्मा का नहीं ।

इसके समनन्तर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं—" 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' जिस निमित्तोपादानरूप कारण से प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध सर्वभूत उत्पन्न होते हैं इत्यादि अध्वर्युओं का आम्नान है" ।

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कहना इसलिए ठीक नहीं है कि—प्रकृत श्रुति में 'यतः' इस पञ्चमी से उपादानत्व ही प्रतीत होगा, निमित्तत्व नहीं। प्रमाणान्तर से निमित्तत्व भी प्रतीत हो यह बात अलग है ।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—" 'तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्' उपादेयविलक्षण निर्विकार परमात्मा से परस्पर विलक्षण चेतनाचेतनात्मक जगत् उत्पन्न है इत्यादि ब्रह्माओं का आम्नान है" ।

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कथन विवर्तवाद में ही बन सकता है अन्यथा नहीं क्योंकि आरम्भवाद या परिणामवाद में ब्रह्म की अनित्यता प्रसक्त होगी। विवर्तवाद मानने पर जगत् का मिथ्यात्व प्रसक्त होगा ।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"जिस अन्तर्यामी का पृथिवी शरीर है इत्यादि प्रकार से सर्वतत्त्वों को भगवच्छरीर कहता हुआ अन्तर्यामि ब्राह्मण जिसका आत्मा शरीर है इस प्रकार आत्मा को भी भगवच्छरीर कह रहा है"।

यहाँ आत्मा का अर्थ प्राणियों का शरीर है अथवा शरीरोपाधिक जीव है, गुणाष्टक सम्पन्न आत्मा नहीं, क्योंकि उसमें शरीरशरीरिभाव की अनुपपत्ति हम पूर्व में दिखा चुके हैं।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—" 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' निरुपाधिक अनन्याधीन असंकुचित सर्वविषयक ज्ञानवाले ब्रह्म के साथ ब्रह्म के कल्याण गुणों का ब्रह्मोपासक अनुभव करता है, 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादि।

यह भी श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ पर ब्रह्म शब्द का अर्थ अपर ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मा है। उसमें अनन्याधीनत्व आदि भवदुक्त गुण नहीं हैं। और कल्याण गुणों का आकर ब्रह्म अवाङ्मनस गोचर कैसे होगा। और परब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' यह श्रुति भी परब्रह्म को उपासना के आगोचर बताती है। 'रसो वै सः' इस श्रुति में रस शब्द का अर्थ आनन्दरूप परब्रह्म है। वह भी प्रागुक्त श्रुति के अनुसार उपासना का अगोचर है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—" 'अस्माल्लोकात् प्रेत्य एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' सब कोई ब्रह्मोपासक इस लोक से अपुनरावृत्त के लिए अन्तिम यात्रा करके अन्नमयादि समष्टि व्यष्टि विभूतिक निरतिशयानन्द भोग्यभूत परमात्मा को भोक्ता होकर अनुभव करता है"।

यह भी श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कहना प्रकृत श्रुति वाक्यार्थ विपरीत है। परमात्मा भोग्य है और जीव उसका भोक्ता है यह प्रकृत श्रुति का वाक्यार्थ कदाऽपि नहीं होगा।

आगे चल कर त्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स ते

आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' जो परमात्मा आत्मा में स्थित है आत्मान्तर्गत हैं जिसको आत्मा नहीं जानता जिसका आत्मा शरीर है जो आत्मा के भीतर प्रवेश करके प्रवृत्ति निवृत्ति रूप नियमन करता है वह अन्तर्यामी निरुपाधिक अमृतत्व धर्मा तुम्हारी आत्मा है" ।

इस वाक्य में अन्तःकरणोपाधिक जीव आत्म शब्दार्थ है। प्रागुक्त गुणाष्टकोपेत यहाँ पर आत्म शब्दार्थ नहीं है क्योंकि उसमें नियम्यत्व नहीं उपपन्न होगा। और अन्त में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी अन्तर्यामी को नियम्य का आत्मा बता रहे हैं। इस प्रकार जीव और पर ब्रह्म का ऐक्य श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी के वचन से ही सिद्ध होता है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—" 'पिबन्त्येनामविषमामविज्ञाताः कुमारकाः, अविज्ञाताः' देहसे विलगाकर अपने आत्मा को न जानने वाले मन्दबुद्धि कर्मपरवश होकर प्राकृतभोग भोगते हैं" ।

अविज्ञाताः यहाँ पर कर्म में प्रत्यय है, अविज्ञातारः पद है नहीं अतः श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का 'न जानने वाले' यह अर्थ असंगत है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी लिखते हैं कि—" "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" यह उपासक इस आनन्दमय परमात्मा में ध्यान का विच्छेद थोड़ा भी जो करता है उसको भय प्रकट होता है" ।

यहाँ पर—'ध्यान का विच्छेद' यह अर्थ वाक्यार्थ बहिर्भूत है। 'देह योगाद्वासोऽपि' इस सूत्र का अर्थ श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि वह जीव के कल्याणगुणों का तिरोधान भी प्रलयकाल में सूक्ष्मरूप से स्थित प्रकृति के संबन्ध से होता है। और सृष्टिकाल में देह रूप से स्थित अचिद् वस्तु के संयोग से होता है" इत्यादि। यह अर्थ इस सूत्र के अक्षरों से बहिर्भूत है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"ये सविशेषाद्वैताचार्य स्वाभिमत तत्त्वाहित पुरुषार्थ के अवधारण में उपबृंहणोपबृंहित मीमांसा न्यायावधारितार्थ श्रुत्येकशरण हैं" ।

इस उक्ति से श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यह कहना चाहते हैं कि निर्विशेताद्वैताचार्य श्रुत्येक शरण नहीं है। किन्तु यह समझना उनकी भूल है क्योंकि श्रीशङ्कर-

भगवत्पाद का शारीरकभाष्य में यह वचन है 'वेदान्त वाक्यकुसुमग्रथनार्थ-त्वात् सूत्राणाम्'। वेदान्तसूत्र उपनिषद् वाक्य कुसुमों के ग्रथन के लिए हैं।

और श्रीशङ्कराचार्य ने निर्विशेष आत्मतत्त्व को औपनिषद कहा है। 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतियों में भी निर्विशेष आत्मतत्त्व को निषेध मुख से उपनिषन्मात्र वेद्य बताया है।

इसके समनन्तर श्रीदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"(१) विवर्तवादी आचार्य स्वात्मज तर्क के अत्यन्त अनुरागी हैं।

(२) स्वाभिमतार्थ के साधन में प्रमाणसत्ता की अपेक्षा नहीं करते हैं, खण्डन कारने खण्डन ग्रन्थ में साभिमान कहा है—'भगवत्पादेन वा वादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि' इसका तात्पर्य है कि—प्रमाणादि सत्ता न मान कर भगवत्पाद ने वादरायणीय सूत्रों पर भाष्य बनाया ही है।

(३) इन लोगों का अभिमान है कि इनके सिद्धान्त में प्रमाण प्रमेय नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं, जो प्रमाणाभास या प्रमेयाभास अपने अभिमत के सिद्ध करने वाले हमारे आत्मजतर्कों के परिपन्थि होंगे उनको हमारे आत्मज तर्क कुचल देंगे।

(४) इन लोगों ने भेद सामान्य के धिक्कार का प्रयत्न स्वात्मजतर्कों के प्राबल्याभिमान से भेद धिक्कार 'खण्डनखण्डखाद्य' 'चित्सुखी' 'अद्वैतसिद्धि' 'इष्टसिद्धि' प्रभृति ग्रन्थों में पर्याप्त किया है।

(५) जब ये विवर्तवादी आचार्य भेद सामान्य के धिक्कार में प्रयत्नशील हैं तब भेद विशेष रूप श्रुत्यादि प्रमाण तथा जीवेश्वरादिरूप प्रमेय के धिक्कार में इनकी प्रवृत्ति शीलता दण्डापूपन्याय सिद्ध है।

(६) निर्विशेषाद्वैताचार्यों का स्वात्मज तर्कों में तथा स्वात्मजतर्क सिद्ध स्वाभिमतार्थों में अत्यन्त अनुराग होने से इनके स्वस्वात्मजतर्क तथा स्वस्वाभिम-तार्थ जब परस्पर में कलह करते हैं तब ये निर्विशेषाद्वैताचार्य लोग उनमें अनु-राग से परस्पर अत्यन्त तलातली करते हैं। इसका नमूना अप्पय दीक्षित निर्मित 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' नामक ग्रन्थ में दिदृक्षु जन देख सकते हैं—निर्विशेषाद्वैताचार्यों का मुख्य सिद्धान्त एक जीववाद है, श्रीमान् अप्पय्य दीक्षित प्रतिबिम्ब पक्षियों

से अवच्छेद पक्ष में दिये दोषों का प्रतिवन्दी युक्ति से परिहार करते कहते हैं"
इत्यादि ।

इस प्रकार श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी के छ आक्षेप हे, इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि विवर्तवादी आचार्य वेदशास्त्राविरोधी स्वात्मज तर्क के अनुरागी हैं ।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि विवर्तवादी आचार्य व्यवहार में तथा आपके साथ शास्त्रार्थ में प्रमाण की व्यावहारिकी सत्ता मानते हैं । श्रीशङ्करभगवत्पादने व्यावहारिकी प्रमाण सत्ता को मानकर ही वेदान्त सूत्रों पर भाष्य लिखा है ।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि विवर्तवादी व्यवहार दशा में प्रमाण प्रमेय दोनों की सत्ता स्वप्न व्यवहार की तरह स्वीकार करता है ।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि विवर्तवादो आचार्यों ने भेदधिक्कार 'खण्डन-खण्डखाद्य', चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि, इष्टसिद्धि' प्रभृति ग्रन्थों में पारमार्थिक भेद का खण्डन है व्यावहारिक जीवेश्वर भेद व्यावहारिक भेदमूलक उपास्योपासकभाव का खण्डन इन ग्रंथों में नहीं है । देखिये—'खण्डनखण्डखाद्य', 'चित्सुखी', 'अद्वैत सिंद्धि' का मङ्गल पद्य । श्रीमधुसूदनसरस्वती ने तो यह एक मनोमोहहारक पद्य लिखा—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्वफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।।इति

श्रीशङ्करभगवत्पादने तो स्मार्त मत का समर्थ किया है जिसमें शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश और सूर्य की उपासना है । इसमें सभी सम्प्रदायों का समन्वय है ।

पांचवें आक्षेप का उत्तर चौथे आक्षेप के उत्तर से ही हो जायेगा ।

छठवें आक्षेप का उत्तर है कि – विवर्तवादी आचार्यों को किसी भी पक्ष में आस्था नहीं है वह तो अद्वितीय आत्मतत्त्व को समझाने के लिए अवच्छेदवाद प्रतिविम्ववाद आदि भिन्न-भिन्न प्रक्रिया का अवलम्बन करते हैं । वह कहते हैं—

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सेह प्रक्रिया साध्वी विपरीता ततोऽन्यथा ।। इति

निर्विशेषाद्वैताचार्यों का ब्रह्माद्वैत के अतिरिक्त कोई सिद्धान्त नहीं है। अत एव 'खण्डनखण्डखाद्यकार' लिखते हैं—

अद्वैतसिद्धात्रपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा।
तत् किं न ता एव यथाऽभिलाषं सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वम् ॥इति

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी आगे चलकर लिखते हैं कि—(१) 'इस प्रकार यह एक जीववाद श्रुत्यादि प्रमाणों का भञ्जन करने वाले अप्रतिष्ठित तर्कों के बल पर अवलम्बित है यह अर्थ विवरणकार के—'तद्विषयकश्रुत्यादीनां प्रत्यक्षविरुद्धतयाऽर्थवादत्वात्' इस वचन से सिद्ध है।

(२) यहाँ यह विचारणीय है कि विवरणकार का इस स्वोक्तार्थ में यदि विश्वास का गन्ध भी होता तब—'निरुपाधिक चैतन्य प्रतिभा से मयि सोपाधिक चैतन्यभेदानां मदविद्याकल्पितत्वात्' ऐसा निश्चय होने से 'निरुपाधिकचैतन्ये-प्रतिभासे त्वयि सोपाधिकचैतन्यभेदानां कल्पित्वात्' ऐसा कहने का साहस न होता'।

यहाँ पर प्रथम आक्षेप का उत्तर यह है कि—प्रमाणान्तर विरोध में श्रुतियों को जगह-जगह अर्थवाद तो आपके परमादरणीय मीमांसक 'कुमारिल, प्रभाकर' आदि भी कहते हैं।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि– यद्यपि विवरणकार को स्वोक्तार्थ में पूर्ण-विश्वास रहा कि—निरुपाधिकचैतन्य प्रतिभासे 'मयि सोपाधिकचैतन्यभेदानां मदविद्याकल्पितत्वात्' इति, तथापि उन्होंने—'निरुपाधिचैतन्यप्रतिभासे त्वयि सोपाधिकचैतन्यभेदानां कल्पितत्वात्' ऐसा इसलिए कहा कि प्रतिवादी को इनके इस वचन पर विश्वास नहीं होता।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"सामने सरोवर रूप से प्रतीयमान पदार्थ में यह उदक नहीं है किन्तु मरुमरीचिकोदक है ऐसा निश्चय होने पर पानावगाहनार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है प्रतीयमान चेतन चेतन नहीं हैं, हमको अविद्या से भास रहे हैं ऐसा निश्चय होने पर उनसे कुछ कहने की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है"।

इन आक्षेपों का उत्तर यह है कि आत्मातिरिक्त में मिथ्यात्व निश्चय के बाद तथा मरुमरीचिकोदक में मिथ्यात्व निश्चय के बाद किसी प्रकार को तद्विषयक प्रवृत्ति नहीं होती। इसका उदाहरण देखिये ऋषभदेव के चरित्र संदर्भ भागवत में।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"यहाँ प्रदर्शित विवर्तवादी आचार्यों के वचनों से विवर्तवादी आचार्यों का प्रधान सिद्धान्त एक जीववाद है जिसका दूसरा नाम दृष्टिसृष्टिवाद है। आप लोग अपने आत्मज तर्कों की बलवत्ता के अभिमान से ईश्वर कारणता प्रतिपादक श्रुति स्मृति इतिहास पुराण सूत्रभाष्य प्रभृति को तृणवत् मानकर जीव को जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण मानते हैं"।

इसका उत्तर है कि एक जीववाद में ब्रह्मा जगत् का उपादान कारण है और ईश्वर सन्निधान मात्र से निमित्तकारण है। अज्ञान तथा उसका कार्य महत्तत्व ब्रह्मा के उपाधि हैं। अत एव 'मनो मतिर्महान् ब्रह्मा' यह सब ब्रह्मा के नाम हैं। ब्रह्मा का पद भी आधिकारिक तथा कल्पान्त स्थायी है। पूर्व जन्म कृत निष्काम कर्म तथा नानाविध उपासनाओं से यह पद प्राप्त होता है। एक जीववादी त्रिविध सत्ता मानते हैं। ईश्वर (ब्रह्म) की सत्ता पारमार्थिक है, ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) रूप जीव की तथा उसके उपाधि प्रकृति और उपाधि कार्यों की सत्ता व्यावहारिक है। और उसमें चित्रपुरुषवत् कल्पित जीवों की सत्ता प्रातिभासिक है। और उन प्रतिभासिक जीवों से कल्पित सृष्टि स्वप्न सृष्टि के तरह दृष्टि मात्र है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, सूत्रभाष्य प्रभृति में ब्रह्मा को ही जगत् स्रष्टा बताया गया है। जो 'ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादि, 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि श्रुतियों—'आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' इत्यादि वचनों से उपर्युक्त अर्थ सिद्ध होते हैं।

कल्पान्त में ब्रह्मा का अधिकार समाप्त होता है तब ब्रह्मा के साथ उसमें कल्पित जीव भी मुक्त हो जाते हैं।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति

यह वचन इसमें प्रमाण है। इस प्रकार एक जीववाद और अनेक जीववाद का समन्वय हो जाता है। एक जीव और अनेक जीवों की व्यावहारिक सत्ता में विवाद खड़ा होता है और वही भवदुक्त प्रकृत शास्त्रार्थ का विषय है।

ईश्वर के संकल्प से एक कल्प में एक ब्रह्माण्ड में एक ही जीव ब्रह्मा के रूप में पैदा होता है। ईश्वर के दो रूप हैं—अज्ञानानुपहित तथा अज्ञानोपहित। अज्ञानानुपहित ब्रह्म कहा जाता है। और अज्ञानोपहित ईश्वर कहा जाता है। वही अपने मायावृत्ति रूप संकल्प से ब्रह्मा को पैदा करता है।

इस प्रकार एक जीववाद में भी बन्ध मोक्ष व्यवस्था उपपन्न होती है। एक जीववाद में शुकदेव, वामदेव की मुक्ति भी ब्रह्मा के साथ ही होती है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

इत्यादि वचनों के प्रामाण्य से जब बन्ध अपारमार्थिक है तब मोक्ष भी अपारमार्थिक है क्योंकि जीव तो ब्रह्मस्वरूप होने से सदा मुक्त है। उसमें बद्धत्व विभ्रम है उसकी निवृत्ति अद्वितीयात्म साक्षात्कार से होती है। अतः बन्धमोक्ष प्रतिपादक श्रुतियाँ अर्थवाद मात्र हैं।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"दृष्टिसृष्टिवादियों की यह प्रक्रिया ही है कि परमार्थतः असत् पदार्थों की अपने प्रबल अज्ञान से प्रतीति करना आपलोगों का प्रबल अज्ञान श्रुति शेष शारदा से भी अनिर्वचनीय है यतः श्रुति स्मृति सूत्रों के—यह जगत् ईश्वर का बनाया है—इस प्रकार चिल्लाते रहने पर भी जो आपलोगों का अज्ञान श्रुति स्मृति सूत्रों को तृणवत् मानकर यह जगत् मेरा बनाया है इस प्रकार इन्द्रजाल करता हुआ ईश्वर की सृष्टि का हड़पने का साहस करता है"।

इसका उत्तर है कि श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी महाराज विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को पढ़े है और उसीको जानते हैं उन्होंने दृष्टिसृष्टिवादियों के सिद्धान्त का सावधानी से अध्ययन नहीं किया है। दृष्टिसृष्टिवादियों का सिद्धान्त है कि ईश्वर सृष्टि भिन्न तथा व्यावहारिक है और जीव सृष्टि प्रतिभासिक तथा मनोमयी है।

२

अन्या मांसमयी योषा काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ।। (पञ्चदशी)

दृष्टिसृष्टिवादी कभी भी ईश्वर की सृष्टि को हड़पना नहीं चाहता। वह कहता है कि जगत् सृष्टि का उपादानकारण ब्रह्म है जो कि जीव है। और उस सृष्टि का निमित्तकारण ईश्वर है। दृष्टिसृष्टिवादी मनोमयी सृष्टि को स्वनिर्मित कहता है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—आपलोगों का सुप्रबलत्वेनाभिमत अनोखा जो यह तर्क है कि—यदि एक एक युग में क्या एक एक कल्प में एक-एक जीव भी मुक्त हुए होते तो अनादिकाल के अनन्त कल्पों में अनन्त जीवों की भी मुक्ति हो गई होती तब आज जीवभेदवादी के मत में भी जगत् का दर्शन न होता अतः जीवभेदवादी के भी मत में बन्धमोक्षादि की व्यवस्था नहीं हो सकती है। यह प्रबलत्वेनाभिमत आपलोगों का लाडिला तर्क प्रमाण परतन्त्रों की दृष्टि में असार है। यह विज्ञों को सुविदित है कि महाकल्पों, कल्पों, मन्वन्तरों, युगों, देववर्षों, मनुष्यवर्षों, अयनों, ऋतुओं, मासों, पक्षों, दिवसों एवं घटीपलादिकों के अनन्त होने पर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से उत्तर अधिक हैं ऐसी स्थिति में अनन्तकल्पादिकों में अनन्तजीवों के मुक्त होने पर अनन्तजीवों की बद्धता में कोई अनुपपत्ति नहीं है, कल्पादिकों की अनन्तता से जीवों की अनन्तता अनन्त है, अतः जीवभेदवाद में अनन्त जीवों की मुक्ति मानने पर भी इदानीं संसार दर्शन में कोई अनुपपत्ति नहीं है" इत्यादि।

इसका उत्तर यह है कि–अनन्तशब्द का अर्थ है संख्यातः अपरिच्छेद्य। हम लोगों की दृष्टि में महाकल्पों, कल्पादिकों और जीवों को संख्यातः अपरिच्छेद्य होने पर भी भगवान् सर्वज्ञ हैं उनकी दृष्टि में तो इनका परिच्छेद है ही, अन्यथा भगवान् की सर्वज्ञता की हानि होगी। अतः एकजीववाद या अनेकजीववाद में बन्ध मोक्ष की व्यवस्था की उपपत्ति के लिए समाधानान्तर मृग्य है। वह समाधान यह है—कि जीव वस्तुतः नित्य मुक्त है अविद्या से अपने को बद्ध समझता है। अद्वैत दृष्टि रूप विद्या से अपने नित्य मुक्त स्वरूप को देखता है। संसार यदि परमार्थ हो तो उसकी निवृत्ति तथा अनिवृत्ति का प्रश्न खड़ा होता

है। संसार तो अपरमार्थ होने से नित्य निवृत्त है। तब संसार को तथ्य मानने वाले तथा जीवभेदवादियों के ऊपर यह आक्षेप हो सकता है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—" इस प्रकार 'दृष्टेऽपह्नुत्यभावात्' इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से सविशेषाद्वैताचार्यों का दर्शन अखिल तमः कर्शन है"।

इसका उत्तर है—क्या निर्विशेषाद्वैताचार्य इसकी व्याख्या नहीं किये हैं। 'ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य' में इसकी व्याख्या देखिये।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी आगे चल कर बहु प्रयोग रूप युक्ति से अस्मच्छब्द की शक्ति सविशेष आत्मा में मानते हैं देहेन्द्रियादि में अहं प्रतीति तथा प्रयोग को भ्रान्ति कहते हैं। निर्विशेष में अहं पद की लक्षणा को श्रुति का कदर्थन कहते हैं। किन्तु 'अहं ब्रह्माऽस्मि' यहाँ पर विना लक्षणा के निर्विशेष तथा सविशेष के ऐक्य का समर्थन नहीं कर रहे हैं। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' यहां पर अहं पद की निर्विशेष में लक्षणा अवश्य स्वीकार्य है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"ज्वालैक्य की तरह जगत् की भी प्रातिभासिकी सत्ता ही यौक्तिक बाध होने से मानना चाहिए। व्यावहारिक सत्ता नाम की कोई चिड़िया नहीं रह जायगी"।

यह कहना भी असंगत है, क्योंकि ज्वालैक्य का यौक्तिक बाध नहीं होता अपितु ज्वाला मन्द होने पर प्रत्यक्ष बाध होता है। व्यवहार दशा में जगत् का तो प्रत्यक्ष नहीं होता अतः जगत् की व्यावहारकी सत्ता को मानना आवश्यक है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"दृष्टिसृष्टिवाद में जगत में जीवाविद्या कल्पितत्व प्रातीतिकत्व सामान्य होने से श्रुतियों की 'बौद्धाद्यागमों' से तथा अहीरों के 'विरहा गाने' से कोई निर्विशेषता होगी"?

यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रातीतिक पदार्थों में भी भेद होता है। अतः जगत् के प्रातीतिकत्व पक्ष में भी श्रुतियों का अर्थ भिन्न है बौद्धाद्यागमोंका अर्थ भिन्न है अहीरों के विरहा का अर्थ भिन्न है। स्वाप्न पदार्थ प्रातीतिक होने पर भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

यद्यपि प्रातीतिकत्व तथा बाधितत्व सामान्य है किन्तु आत्मातिरिक्त श्रुत्यर्थं का पुनः पुनः प्रत्यय होता रहता है और आत्मसाक्षात्कार के बाद बाध होता है। और बौद्धाद्यागमार्थों का तथा अहीरों के विरहों के अर्थों का आत्म साक्षात्कार के पहले ही बाध हो जाता है।

आगे चल कर श्री त्रिदण्डी स्वामी जी लिखते है कि-- "जो आपलोगों का कथन है कि जीव परमार्थदशा में सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य-स्वरूप मात्र से प्रकाशता है वह भी कथन मात्र है। आपके घर में निर्गुण विद्यात्वेन घोषित भूमविद्या का फल निर्देश करती हुई भगवती श्रुति आम्नान करती है--- 'स वा एष एवं पश्यन्' इत्यादि 'न पश्यो मृत्युं पश्यति' इत्यादि 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा' इत्यादि।

इसका समाधान यह है कि-- भूमविद्या निर्गुणविद्यात्वेन घोषित कहाँ पर है यह बताने का कष्ट आपने नहीं किया। जिन श्रुतियों का यहाँ पर आपने उद्धरण किया है वह श्रुतियाँ जीवन्मुक्ति दशा परक हैं। स्वगतसजातीयविजातीयभेद-शून्य जीवस्वरूप विदेह कैवल्यदशा में अथवा निर्विकल्पसमाधि में प्रकाशता है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि---"एवं प्रदर्शित द्विविध श्रुतिप्रमाण से अशरीरत्व संकल्प से मुक्त अशरीर भी रहता है और एक, तीन, पाँच आदिक शरीरों का संकल्प होने पर संकल्पानुसार शरीर सहित भी रहता है इस प्रकार अनेक सूत्रों से भगवान् बादरायण ने भूमविद्या की उन फलश्रुतियों को स्वार्थं में प्रतिष्ठित किया है"।

यह कथन भी व्यामोहक तथा व्यामोह प्रयुक्त है--क्योंकि यह द्विविध श्रुतियां जीवन्मुक्त की समाधिदशा तथा व्यवहारदशापरक हैं। समाधिदशा में शरीर तादात्म्याभिमान न होने से अशरीरत्व है और व्यवहारदशा में शरीर तादात्म्याभिमान रहने से सशरीरत्व है। इस प्रकार इन द्विविध श्रुतियों में जीवन्मुक्ति का वर्णन है विदेहमुक्ति का वर्णन नहीं है क्योंकि विदेहमुक्ति दशा में स्थूल सूक्ष्म द्विविधशरीर के अभाव से किसी प्रकार का संकल्प नहीं होता।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी--"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात् मघवन्न मर्त्यं

वा इदं शरीरम्, य आत्माऽपहतपाप्मा सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'' इत्यादि श्रुतियों से, "संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्, मुक्तः प्रतिज्ञानात्, आत्मा प्रकरणात्'' इत्यादि सूत्रों से, 'इदं ज्ञान-मुपाश्रित्य मम सेधर्म्यमागताः' इस गीता स्मृति से तथा 'अविभागेन' इस सूत्र से जीव ब्रह्म के भेद की तथा ब्रह्म साम्य प्राप्तिरूप मुक्ति को और जीव तथा ब्रह्म की मुक्तिदशा में अपृथक् स्थिति (एक देशस्थिति) की सिद्धि होती है, यह कहते हैं।

यह सब श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की स्वबुद्धि के अनुसार बुद्धि परिकल्पना है इसमें प्रमाण नहीं है। 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों से सिद्ध जीवब्रह्मैक्य ही—'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस वाक्य का विषय है। इन्द्र प्रजापति संवाद श्रुति में भी जीवब्रह्मैक्य ही विषय है 'अविभागेन' इस सूत्र में अविभाग शब्द का अर्थ जीव तथा ब्रह्म का अभेद है। 'परमं साम्य-मुपैति' इस श्रुति में तथा 'मम साधर्म्यमागताः' इस स्मृति में अपर ब्रह्म हिरण्य-गर्भ का साम्य विवक्षित है। ब्रह्मणा सह विपश्चिता' यहाँ पर भी ब्रह्म शब्द का अर्थ अपर ब्रह्म ही है। क्योंकि परब्रह्म में भोग उपपन्न नहीं होता। परब्रह्म तो असंग है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"सशरीर जीव को ब्रह्म शरीर होने से उक्तार्थ में 'तत्वमसि' प्रभृति प्रयोग स्वरस है। 'अयमात्मा ब्रह्म, एतदात्मा शरीरी ब्रह्म है।''

यह कहना अनुचित तथा अनुपपन्न है क्योंकि उक्तार्थ में 'तत्त्वमसि' का प्रयोग 'अहं स्थूलः, अहं काणः, त्वं स्थूलः त्वं काणः' की तरह भ्रांतिमूलक हो जायेगा। श्रौतार्थ परमार्थ होना चाहिए। और 'अयमात्मा ब्रह्म' का—'एतदात्म-शरीरी ब्रह्म है यह अर्थ करना किसी वृत्ति के आधार पर होगा। और यहाँ पर यदि लक्षणा करना अनिवार्य ही हो तो लक्षणा में तात्पर्य ग्राहक प्रमाण का अभाव है।

आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यह लिखते हैं कि—"'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' तत्तत्प्रमाणों से सिद्ध यह कृत्स्न जगत् सद्ब्रह्मात्मक है'' ।

यह कथन भी असङ्गत है। क्योंकि ब्रह्म चेतन है जगत् जड़ है इन दोनों का परमार्थतादाम्य नहीं बन सकता। यह तादात्म्य विवर्तवाद में ही उपपन्न होगा। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति का भो विवर्तवाद में ही तात्पर्य है। जैसे—रज्जु में 'अयं सर्पः' :

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"य, आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमयति' इत्यादि वाक्यों से 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' इत्यादि वाक्यों से परमात्मा इस जीव का आत्मा है वह जीव परमात्मा का शरीर भाव से प्रकार है, यह अर्थ 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' इस सूत्र में प्रतिपादित किया गया है, अतः अविभागेन 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप से मुक्त स्वात्मा का अनुभव करता है"।

यह सब कथन असंगत है क्योंकि—जीव ब्रह्म का शरीर नहीं हो सकता। शरीर शीर्यमाण होता है आपके मत में भी जीव अणु होने से नित्य है। 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः, इसका अर्थ श्री त्रिदण्डी स्वामी जी ने यह किया है—"स्वशरीरभूत जीवात्मा में परमात्मा का अन्तर्यामिरूप से अवस्थान होने के कारण आकृत्यधिकरण न्याय से शरीरभूत जीव वाचि शब्दों से शरीरी परमात्मा के अभिधान के उपपन्न होने से तथा शरीरभूत जीव धर्मों का शरीरी परमात्मा में उपपन्न होने से जीववाचि शब्दों की तथा जीव धर्मों की परमात्मा में अनुपपत्ति नहीं है। इस सूत्र में प्रतिपादित किया गया है"।

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का अभिमत सूत्रार्थ कदापि इस सूत्र से लभ्य नहीं है! सूत्राक्षरों के बाहर यह अर्थ है यह स्पष्ट है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"अतः अविभागेन 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप से मुक्त स्वात्मा का अनुभव करता है"।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी के इस वाक्य से जीव ब्रह्मैक्य सिद्ध होता है क्योंकि यह अनुभवरूप श्रुति जन्य शाब्दबोध प्रमा रूप है। अतः जीव ब्रह्म ही है ब्रह्म सदृश या ब्रह्म सधर्मा नहीं है 'मम साधर्म्यमागताः' इत्यादि वाक्य सालोक्यमुक्ति परक है। विदेहमुक्ति परक नहीं। 'ब्रह्मणा सह विपश्चिता' इत्यादि श्रुति में ब्रह्मशब्द से अपर ब्रह्म हिरण्यगर्भ अभिप्रेत है परब्रह्म नहीं। क्योंकि पूर्व में जीव-

ब्रह्मैक्य सिद्ध हो चुका है। "ब्रह्म प्रकार भूत जीवात्मा प्रकारो ब्रह्म सहित ब्रह्म गुणों का अनुभव करता है इस अर्थ को सह 'ब्रह्मणा विपश्चिता' यह श्रुतिप्रतिपादन करती है"

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की उक्ति है। किन्तु यह प्रतिज्ञा मात्र है इससे हेतु का उपन्यास नहीं है अतः इस अर्थ की सिद्धि नहीं होती।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि – "ब्रह्मप्रकारतया ब्रह्माविभागकथन से 'संकल्पादेव तच्छ्रुतेः' इत्यादि पूर्वापर ग्रन्थ का विरोध नहीं होगा"।

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कथन उपपत्ति रहित होने से वस्तु का असाधक है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डीस्वामी जी लिखते हैं—"ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः परंज्योति को उपसन्न होकर तिरोधान निवृत्त हाने से जीवात्मा के स्वरूप का आविर्भाव होता है यह अर्थ कहा गया"।

यहाँ पर उपन्यास का अर्थ उपसादन है उपसत्ति नहीं है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"आत्मा का ज्ञानस्वरूपत्व, ज्ञानाश्रयत्व दोनों ही प्रमाणसिद्ध हैं"।

यह कथन असंगत है क्योंकि एक में आश्रयाश्रयिभाव नहीं बनता। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियाँ सगुण ब्रह्म परक है। क्योंकि मायावच्छिन्न ब्रह्म में मायावृत्ति रूप ज्ञान का आश्रयत्व उपपन्न हो सकता है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"श्रुतिवाक्यों से निश्चित जीव का पारमार्थिक स्वरूप, तथा निरतिशय दीप्त्यादि प्रतिपादक सम्पूर्ण वाक्यों से परब्रह्म के परमार्थिकस्वरूप रूप गुणविभूत्यैश्वर्यों का यथार्थज्ञान कृत्स्न समन्वयाध्याय से प्रमाण परतन्त्रों को सम्पादित है"।

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि अपर ब्रह्म में गुणविभूति ऐश्वर्य हैं परब्रह्म में नहीं। परब्रह्म को तो 'यद् वाचाऽनभ्युदितम्' कहा है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी श्रीकरपात्री जी के—"वेदान्तसंप्रदाय विदों को नित्य संविद में ही अहं बुद्धि होती है इस कथन तथा पक्ष का खण्डन

किया है कि–विवर्तवाद में वेदान्तार्थ का यथार्थ बोध वाला अनादि काल से अद्यावधि कोई हुआ ही नहीं। यदि हुआ होता संसार को खतम कर दिया होता"।

यह कथन असंगत है। क्योंकि शुकदेव वामदेव आदि जो मुक्त हुए उनकी दृष्टि में संसार खतम हो गया अस्मदादिदृष्टि में संसार तब भी था अब भी है और जब तक नित्यसंविद् में अहंबुद्धि नहीं होगी तब तक रहेगा।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"यदि वेदान्त-संप्रदायविदों की निर्विकार नित्य आत्मा में ही अहंबुद्धि होती है तो निर्विकार नित्य व्यक्ति आत्मा ही अहमर्थ है यह सिद्ध हो जाता है"।

यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि श्रीकरपात्री जी के इस उक्ति से—निर्विकार नित्य आत्मा ही अहंपद का लक्ष्यार्थ सिद्ध होता है। श्रीभाष्य का खण्डन तो श्रीकरपात्री जी ने न्यायवैशेषिकादिमत के खण्डन की तरह किया है। क्योंकि नैयायिक नित्य निर्विकार आत्मा को अहंपद का वाच्यार्थ मानते हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि श्रुति से विज्ञानमात्र स्वरूपत्व का प्रतिपादन होने पर भी सत्यकामत्वादि गुणों का भी उपनिषत् से ही प्रतिपादन होने से विज्ञानमात्र स्वरूपत्व के साथ सत्यकामत्वादि सर्वज्ञत्वादि गुणों का अविरोध है। ऐसा भगवान् वादरायण का सिद्धान्त है। यह कहना अत्यन्त अयुक्त है क्योंकि कामना अन्तःकरण का धर्म है आत्मा का नहीं। "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" यह श्रुति इसमें प्रमाण है। और सर्वज्ञानाश्रयत्व रूप सर्वज्ञत्व का विज्ञानमात्र स्वरूपत्व के साथ विरोध स्फुट है। इसके पूर्व में श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी कहते हैं कि—

(१) ज्ञाधिकरण में जीवात्मा के ज्ञातृत्व तथा अणुत्व का स्थापन किया।

(२) अंशाधिकरण में जीवात्मा के ब्रह्मांशत्व का निरूपण किया।

(३) तृतीयाध्याय में परमात्मा में अनुराग के लिए परमात्मा के अखिल हेय प्रत्यनीकत्व तथा कल्याणगुणकत्व सर्वस्मात् परत्व सर्वकर्मोपासनफलप्रदत्व का उपपादन कर सपरिकर उपासना का वर्णन किया।

(४) चौथे अध्याय में—परंज्योतिरूपसंपन्नावस्था में होने वाले विद्या फलों का निरूपण कर अनावृत्तिरूप विद्याफल को कहते हुए विद्याफलवर्णन का उपसंहार किया" ।

इन वाक्यों में प्रथम वाक्य असंगत इसलिए है कि—पूर्व प्रतिपादित विज्ञानमात्रस्वरूपत्व से ज्ञातृत्व का विरोध है और 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति से प्रतिपादित ब्रह्मरूपत्व के साथ विरोध होने से जीव का अणुत्व—दुर्गाह्यत्वरूप सूक्ष्म है ।

द्वितीय वाक्य असंगत इसलिए है कि—ब्रह्म सावयव नहीं है इसलिए जीव उसका अंश नहीं हो सकता । ब्रह्म यदि सावयव है तो उसमें अनित्यत्व प्रसक्ति होगी । अतः ब्रह्म तथा जीव में अंशांशिभाव कल्पित है ।

तृतीय वाक्य असंगत इसलिए है कि—'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने से उपास्य ब्रह्मस्वरूप भावनामय है वस्तुभूत नहीं है ।

चौथा वाक्य असंगत इसलिए है कि—पर ज्योति वाङ्मनसगोचर तथा निर्गुण निर्विकार है, उस अवस्था में विद्याफलों का संभव नहीं है ।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि ज्ञान संविद् आदि पर्यायवाची शब्द सकर्मक धात्वर्थधर्मभूत ज्ञान में रूढ़ हैं आत्मविषयक इनका क्वाचित्क प्रयोग स्वयंप्रकाशत्व लक्षण गुणयोग से या तद्गुणसारत्व से लाक्षणिक है । दूसरे लोगों को कम से कम इस वाक्य के स्वर का पर्यालोचन कर लेना था । इस श्रुति में 'ज्ञानम्' इस पद का अन्तोदात्तत्वेन आम्नान इस पद के 'अर्श आदिभ्योऽच्' इस सूत्र से विहित मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्ययान्तत्व को प्रमाणित कर रहा है" ।

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कहना अत्यन्त अयुक्त है । क्योंकि लक्षणा जघन्य वृत्ति है श्रुति में इसकी कल्पना अनुचित है । ज्ञान शब्द का आत्मा में प्रयोग 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति से सिद्ध है । ज्ञान शब्द का अन्तःकरण वृत्ति में प्रयोग औपचारिक है । 'वेदान्तपरिभाषा' में लिखा है 'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' यदि वृत्ति में भी ज्ञान शब्द को आप रूढ़ मानते हैं तो ज्ञान शब्द को सैन्धवादि के तरह नानार्थक मानिए । ज्ञान शब्द को अर्श आद्यजन्त

मानना अनुचित है क्योंकि वृत्तिद्वय कल्पन में गौरव है। अर्श आदि गण में ज्ञान शब्द का पाठ नहीं है। ऋङ् मन्त्र में अन्तोदात्त स्वर संप्रदाय स्वर व्यत्यय से सिद्ध होगा।

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङाञ्च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन ॥

अर्श आदिगण में ज्ञान शब्द की पाठकल्पना अप्रामाणिक है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—" 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस श्रुति का 'ब्रह्मवित्' पद उपासक जीव का ज्ञानाश्रय बता रहा है"।

यह कहना असंगत है क्योंकि इस श्रुति में ब्रह्मवित् उद्देश्य है और पर प्राप्ति विधेय है। उद्देश्य अन्यतः प्राप्त का अनुवाद रूप है। उसमें वाक्य का तात्पर्य नहीं होता। अतः ब्रह्मवित् पद संसारदशा में प्राप्त ब्रह्मवेतृता का अनुवाद है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—

(१) ऋक् के द्वितीय तथा तृतीय पाद 'वेद' और 'अश्नुते' इन पदों से उपासन अवस्था में तथा सर्वबन्धविनिर्मुक्तावस्था में जीवात्मा के ज्ञानाश्रयता को प्रमाणित कर रहे है, तथा 'ज्ञानम्' और 'त्रिपश्चिता' ये दोनों पद ब्रह्म के स्वाभाविक सार्वज्ञ्य को प्रमाणित कर रहे हैं"।

यह कहना असंगत है क्योंकि सर्वबन्ध विनिर्मुक्तावस्था में ज्ञानोत्पत्ति के साधन न होने से ज्ञानाश्रयता का संभव नहीं है। 'ज्ञानम्' और 'विपश्चिता' ये दोनों पद किस प्रकार ब्रह्म के स्वाभाविक सार्वज्ञ्य को प्रमाणित कर रहे हैं। इसको श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने उपपन्न नहीं किया।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—

(१) "प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति" जैसे एकदेश में वर्तमान एक दीप अपनी प्रभा से अनेक देश में आवेश होता है, उसी प्रकार एकदेशस्थित ही आत्मा का स्वप्रभारूप चैतन्य से सर्व शरीरों में प्रवेश अनुपपन्न नहीं है।

(२) ज्ञानसंकोचक कर्माविद्यादि के निवृत्त हो जाने से असंकुचित ज्ञान मुक्त की संकल्पानुसार अनेक शरीरों में शरीरित्वानुगुण व्याप्ति अनुपपन्न नहा है" ।

प्रथम वाक्य में यह वताया गया है कि जीव का अणु परिमाण है और उसमें रहने वाला ज्ञान वढ़ कर अनेक शरीरों में व्याप्त हो जाता है।

क्या यह संभव है कि मुक्त अणु जीव का गुण ज्ञान वढ़ कर हजारों शरीरों में प्रवेश कर जाय। क्या ज्ञानरूप गुण रुई के तरह अथवा प्रभा के तरह सावयव है। क्या द्वितीय वाक्य में लिखा गया ज्ञान रूप गुण का संकोच तथा विकास संभावित है। सत्यबात तो यह है कि आत्मा विज्ञानमात्र स्वरूप तथा विभु है अतः उसकी व्याप्ति का विश्व तथा सब शरीरों में संभव है। प्रदीपवदावेश इत्यादि सूत्र इसी बात को कहता है।

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।।'

इस श्रुति का अर्थ मनरूप जीवोपधि के अणुत्व प्रयुक्त जीवाणुत्व है। 'स वा महानज एष आत्मा, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस श्रुति में अणुत्व सूक्ष्मत्व रूप है।

आगे चल कर श्रीदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"किञ्च उपाधि की उत्क्रान्ति गत्यागति से जीवकी उत्क्रान्ति गत्यागति का उपपादन हो नहीं सकता। क्योंकि सभी को उपाधि गमन समय में प्रतिक्षण जीवभेद होने से कृतहानाकृताभ्यागमादि अनेक दोषों से बचने के लिए एक जीववाद के शरण जाना होगा" ।

यह कथन असंगत है, क्योंकि—उपाधि का धर्म उपधेय में भासता है अतः उपाधि की उत्क्रान्ति गत्यागति से जीव की उत्क्रान्ति गत्यागति समर्थित हो सकती है। और जब सूक्ष्म शरीररूप जीवोपाधि कल्पादि में उत्पन्न होता है और कल्पान्त स्थायी है तव उपाधिगमन समय में प्रतिक्षण जीव भेद कैसे होगा। और कृतहानाकृताभ्यागमादि अनेक दोष कैसे प्राप्त होते हैं। और उन दोषों से बचने

के लिए एक जीववाद के शरण में क्यों जाना होगा। और एक जीववाद दृष्टि-सृष्टि वाद ही कैसे है। यदि दृष्टिसृष्टिवाद में सभी श्रौतार्थ स्मार्तार्थ स्वप्नार्थ के समान प्रातीतिक हैं तो स्वप्न के समान प्रातीतिक श्रीभाष्य उनको व्यावहारिक या पारमार्थिक कैसे बना देगा।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यह कहते हैं कि—"शुद्ध आत्मस्वरूप में अहं शब्द का प्रयोग अनन्यथासिद्ध है, अनन्यथासिद्ध प्रयोग शक्ति का साधक है अतः शुद्ध प्रत्यगात्मा ही अहं पद का वाच्य है"।

यह कहना असंगत है क्योंकि शुद्ध आत्मा को श्रुतियों में वाङ्गमनसागोचर बताया गया है। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' इत्यादि।

प्रत्यगात्मा के अहं पद वाच्यत्व के समर्थन में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी श्री-भाष्य के ८ श्लोकों का उद्धरण किया है, जिनमें पहला श्लोक है—

अहमर्थो न चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नात्मनो भवेत्।
अहं बुद्धया परागर्थात् प्रत्यगर्थो हि भिद्यते ॥१॥

इस श्लोक का खण्डन इस प्रकार होगा—

अहं पदार्थश्चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नात्मनो भवेत्।
निर्मलः प्रत्यगात्मा हि शब्दावाच्यतया श्रुतः ॥१॥

पूर्वोक्त श्रीभाष्य के प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध का यह खण्डन है—

सोपाधिकः प्रत्यगात्मा यतोऽहं बुद्धिगोचरः।
परागर्थादिदं बुद्धिगोचराद् भिद्यते ततः ॥२॥

आगे चल कर श्री त्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"संवित् अपने को नहीं प्रकाशती अतः संवित् में प्रत्यक्त्व नहीं है अतः संवित् आत्मा नहीं है"।

यह कहना असंगत है, क्योंकि परप्रकाश्यत्वाभाव रूप स्वयंप्रकाशत्व को संवित् में अद्वैतवादी स्वीकार करता है आत्मा को श्रुतियों में स्वयंज्योतिः शब्द से कहा गया है। ज्ञान पर्याय संवित् को 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति में ब्रह्म कहा गया है और ब्रह्म तथा जीव का ऐक्य 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि

श्रुतियों में कहा गया है। ज्ञाता संवेत्ता चेतन प्रभृति शब्दों का वाच्य सोपाधिक आत्मा है। क्योंकि शुद्ध आत्मा तो विज्ञानमात्र स्वरूप है विज्ञानाश्रयतो अन्तः-करणोपहित आत्मा है। जन्य विज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डो स्वामी जी लिखते हैं—कि "क्वाचित्क आत्म-परक ज्ञानादि शब्दों का प्रयोग ज्ञानगत स्वयंप्रकाशत्व धर्म के योग से निरूढ लक्षणया है"।

यह कहना पूर्वापर विरुद्ध है—क्योंकि अभी आप पोछे कह आये हैं कि संवित् अपने को नहीं प्रकाशती है और अभी आप ज्ञानगत स्वयंप्रकशत्व धर्म योग से आत्मा में ज्ञानादि शब्दों की निरूढालक्षणा कर रहे हैं। क्या आत्मा में ज्ञानादि शब्दों के शक्यार्थ बाधके विना निरूढलक्षणारूप जघन्यवृत्ति का स्वीकार करना उचित है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी आत्मा के अहंपदवाच्य की उपपत्ति के लिए श्रीभाष्य के द्वितीय श्लोक का उद्धरण किया है—

निरस्ताखिलदुःखोऽहमनन्तानन्दभाक् स्वराट्।
भवेयमिति मोक्षार्थी श्रवणादौ प्रवर्तते ॥२॥

इसका खण्डन इस प्रकार है—

क्रिरीटिनः कुण्डलिनः केवलस्य च नो भिदा।
दृश्यते लोकयात्रायां तथा सोपाधिशुद्धयोः ॥३॥

घटाकाशमहाकाशे न भिन्ने हि परस्परम्।
शुद्धसोपाधिके नैवं परिभिन्ने परस्परम् ॥४॥

अहं पदस्य वाच्यत्वं सोपाधौ संप्रतिष्ठितम्।
अहं पदस्य लक्ष्यत्वं शुद्ध आत्मनि संस्थितम् ॥५॥

अस्मिन् श्रीभाष्यपद्ये तु दुःखिनोऽहं पदार्थता।
स्फुटा प्रतीयते तेन तस्यैवाहं पदार्थता ॥६॥

साम्प्रतं नैवमहं भवेयमिति वाञ्छया।
श्रवणादौ तापतप्तो मुक्त्यर्थं संप्रवर्तते ॥७॥

अतोऽहं पदवाच्यत्वं तमस्यैव प्रतीयते।
अहं ब्रह्मास्मि वाक्यादौ शुद्धेऽहं पदलक्ष्यता ॥८॥
सोपाधिशुद्धयोरेवं भेदः कल्पनया कृतः।
वास्तवं तु तयोरैक्यं श्रुत्या संप्रतिपादितम् ॥९॥

'येनाहं नामृता स्याम्' इस श्रुति से भी सोपाधिक दुःखी जीव ही अहं पदवाच्य सिद्ध होता है। क्योंकि संप्रति उस जीव में अमृतत्व का राहित्य प्रतीत होता है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने—"न पश्यो मृत्युं पश्यति, सर्वं पश्यः पश्यति सोऽश्नुते सर्वान् कामान्, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्" इत्यादि वचनों का उल्लेख किया है, जिनसे प्रकृतार्थसिद्धि नहीं होती।

आगे चलकर आत्मा के अहंपदवाच्यत्व की उपपत्ति के लिए श्रीत्रिदण्डी स्वामी जो श्रीभाष्य के तीसरे श्लोक को उद्धृत किया है—

अहमर्थविनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति।
अपसर्पेदसौ मोक्षकथा प्रस्तावगन्धतः ॥३॥

इसका खण्डन यह हैं

नैवाहं पदवाच्यस्य नैव लक्ष्यस्य वा हृतिः।
इष्यतेऽद्वैतवादे हि उपाधिक्षय इष्यते ॥ १० ॥

इसी प्रसङ्ग में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने श्रीभाष्य के चतुर्थ श्लोक का उद्धरण दिया है—

मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचिज्ज्ञप्तिरवस्थिता।
इति तत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति ॥ ४ ॥

इसका खण्डन यह है—

मदुपाधिविनाशे हि मम दुखं विनङ्क्ष्यति।
इति मुक्त्यै प्रयत्नस्तु सर्वंस्यापि भविष्यति ॥ ११ ॥

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"अर्थप्रकाशो ज्ञप्तिः", इस विवरणकार के वाक्य से तथा—

'परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता।
ज्ञप्तिः सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः॥

इस वार्त्तिककार के वाक्य से यह सिद्ध है कि—विवर्तवादी लोग 'अहमिदं जानामि' इस प्रतीति से सिद्ध जो 'ज्ञा' धात्वर्थ है उसी को आत्मा मानते हैं"।

यह भ्रम अद्वैत सिद्धान्त के अज्ञान के कारण हुआ है, क्योंकि अद्वैतवादी वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को ज्ञप्ति कहते हैं और वही अर्थ प्रकाश रूप फल है वार्तिककार का भी इसी में तात्पर्य है। वृत्तिरूप विशेषण को जन्य होने से वृत्तिविशिष्ट चैतन्य को फल कहा है। 'अहमिदं जानामि' इस प्रतीति का विषय अन्तःकारणोपहित चैतन्य है वही अहं पद का वाच्य है। यहाँ पर अन्तःकारणोपहित चैतन्य रूप अहमर्थ वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञान का आश्रय है। विशेषणों में आश्रयाश्रयिभाव होने से विशिष्टों आश्रयाश्रयिभाव की उपपत्ति होगी।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—"अहमर्थ संबन्धविनिर्मुक्त अर्थप्रकाश गगनकुसुम सदृश सर्वथा अप्रसिद्ध है"।

यह कथन असंगत है क्योंकि 'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष में अहमर्थविषय नहीं हो रहा है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्ड़ी स्वामी जी श्रीभाष्य के दो श्लोकों का उद्धरण करते हैं—

स्वसंवन्धितया ह्यस्याः सत्ता विज्ञप्तितादि च।
स्वसंबन्धवियोगे तु ज्ञप्तिरेव न सिध्यति॥ ५॥
छेत्तुः छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत्।
अतोऽहमर्थो ज्ञातैव प्रत्यगात्मेति निश्चितम्॥ ६॥

श्रीभाष्य के इन दोनों श्लोकों का खण्डन कुछ पदों के परिवर्तन से इस प्रकार होगा—

आत्मयोगितयवास्याः सत्ता विज्ञप्तितादि च ।
आत्मसम्बन्धराहित्ये ज्ञप्तिरेव न सिध्यति ॥ १२ ॥
छेत्तुः छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत् ।
अतोऽहमर्थो ज्ञातैव सोपाधिक इति स्थितम् ॥ १३ ॥

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी श्रीभाष्य के ७वें तथा ८वें श्लोकों का उद्धरण करते हैं आत्मा के ज्ञप्ति मात्रता के निषेध के लिए—

विज्ञातारमरे केन जानात्येवेति च श्रुतेः ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ ७ ॥
नात्मा श्रुतेरित्यारभ्य सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति ।
ज्ञोऽत एवेत्यतो नात्मा ज्ञप्तिमात्रमिति स्थितम् ॥ ८ ॥

विज्ञातारमरे केन जानात्येवेति च श्रुतेः ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति च स्मृतेः ॥ १४ ॥
नात्मा श्रुतेरित्यारभ्य सूत्रकारोपि वक्ष्यति ।
ज्ञोऽत एवेत्यतो ज्ञाता सोपाधिक इति स्थितम् ॥ १५ ॥

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"मोक्ष-साधन विद्याओं में प्रवृत्त होने वाले अधिकारिओं की विवर्तवादियों की युक्तियों से मोक्ष में अहमर्थ के नाश का निश्चय होने पर प्रवृत्ति नहीं होगी । ऐसा भगवत्पाद श्रीभाष्यकार का यहाँ कथन है" ।

यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि विवर्तवादी अहमर्थ के उपाधि का नाश मोक्ष दशा में मानते हैं अहमर्थ का नहीं ।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी आगे चलकर 'अहमर्थविवेक' के ७१वें पृष्ठ में जीव को बद्धावस्था में कर्माधीन संकोच विकासशाली तथा मोक्ष दशा में संकोचक कर्मों के निवृत्त होने से व्यापनशील स्वयंप्रकाश चैतन्यगुणक अणु नित्य स्वयंप्रकाश चैतन्य-स्वरूप कहे हैं ।"

किन्तु यह कथन असंगत है क्योंकि सावयव तथा अनित्य वस्तु संकोच तथा विकासशाली होता है, जीव तो निरवयव तथा नित्य है ।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि — ''"शारीरकमीमांसा' 'सूत्रकार' 'भाष्यकारों' से अदृष्ट, विशिष्ट ग्रन्थकारों से अनादृत अत एव अप्रमाणभूत 'उत्तरतापनीयोपनिषद्' 'सूतसंहिता' 'परमार्थसार' आदि कैसे प्रमाण हो सकते हैं" ।

यहाँ पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यह अनुमान प्रयोग करना चाहते हैं—

"उत्तरतापनीयोपनिषदादयः—अप्रमाणभूताः, शारीरकमीमांसासूत्रकारभाष्यकारैः प्रामाण्येनादृष्टत्वात् —विशिष्टग्रन्थकारैरनादृतत्वाच्च अन्वये — बौद्धादिदर्शनग्रन्थवत्, व्यतिरेके—छान्दोग्याद्युपनिषद्ग्रन्थवत्" इति ।

इनमें पहले हेतु का 'गृह्यसूत्र' तथा प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों में व्यभिचार है ।

और दूसरा हेतु असिद्ध है क्योंकि विशिष्टग्रन्थकार यदि वैष्णव सम्प्रदाय के हैं तो अद्वैतसम्प्रदाय के भी हैं, विशिष्टग्रन्थकार—'श्रीउदयनाचार्य' ने अद्वैत मत का आदर 'आत्मतत्त्वविवेक' ग्रन्थ में किया है—

'किमार्द्रकवणिजां महावहित्रचिन्तया' इति यहाँ पर समस्त भेदवादियों को 'आर्दक वणिक्' कहा है और अद्वैतवादियों को महावहित्र (बड़ा जहाज) से व्यापार करने वाला श्रेष्ठी कहा है । वहीं का और उन्हीं का यह दूसरा वचन है—

"न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति-
स्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः ।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः ॥" इति !

यहाँ पर अद्वैतमत को बली तथा वेदनय (वेदसिद्धान्त) कहकर संमानित किया है । क्या तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से अनुगृहीत 'उत्तरतापिनीयोपनिषद्' सूतसंहिता, 'परमार्थसार' प्रमाण नहीं हो सकते ।

'कुमारिलभट्ट' के इस वाक्य को स्मरण कीजिये—

अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः ।
दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषै राजसंश्रितैः ॥ इति ॥

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी कहते हैं कि—"उपनिषद्वाक्य, श्रीरामायण,

महाभारत, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, वाचस्पति प्रभृति से उदाहृत वायु, लिङ्ग-पुराण, पाद्मादि के वचन विश्वसनीय हैं''।

इन ग्रन्थों को विश्वसनीय हम भी मानते हैं, किन्तु इन ग्रन्थों के किन वाक्यों से विशिष्टाद्वैत की सिद्धि होती है यह लिखने का साहस श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने नहीं किया। और यह भी नहीं बताया कि अद्वैतवाद का खण्डन इन वाक्यों से हो रहा है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं 'कि—"इति भाल्लवि-शाखायां श्रुतिवाक्यमधीयते' इस वार्तिक – खण्ड की 'आनन्दगिरि' लिखित अवतरणिका को देखने से यह प्रतीत होता है कि विवर्तवादी लोग स्वपक्षसिद्धि के लिए अमूलक अविश्वसनीय वचनों का भी उपन्यास करते हैं"।

क्या वेदों की सभी शाखाएँ उपलब्ध है, ? क्या वेदों की शाखाएँ कालक्रम से नष्ट नहीं हो रही हैं ? क्या भाल्लवि-शाखा को आपने देखा है ? इस प्रकार के अविश्वसनीयता का आरोप तो अद्वैतवादी लोग आपके ग्रन्थकारों के ऊपर भी करते हैं। उसका जो समाधान आप करेंगे वही अद्वैतवादी लोग भी करेंगे।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी—"मायाभासेन जीवेशौ करोति, माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" इस वचन का उद्धार करके इस वचन की स्वपक्ष में योजना करते हुए—'जीवेशौ करोति' की व्याख्या करते हैं कि—माया जीवाश्रय जीवेशविषयक भ्रम पैदा करती है"।

यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि—जीवेशौ करोति का जीवेश—विषयक भ्रम पैदा करती है यह अर्थ असंभवी है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी इस वचन को अविश्वसनीय कहते हैं। यह वचन अविश्वसनीय श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी को इसलिए है कि उपनिषदों में इसकी उपलब्धि नहीं है।

इसका उत्तर महाभाष्यकार के वचनानुसार यह कि—"उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। सहस्रवर्त्मा सामवेदः—एकशतमध्वर्युशाखाः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणो वेद इति। एतावती वेदशाखामननुनिशम्य अविश्वसनीयमेतद् वचनमित्युक्तिः साहसमात्रमिति।"

क्या यह वचन अविश्वसनीय इसीलिए होगा कि यह वचन आपके सांप्रदायिक-सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"पाप्मा, जरा, मृत्यु, शोक प्रभृति निखिलानर्थ-व्रात-विनिर्मुक्त होकर अनन्तानन्दघटित-स्वाराज्य प्राप्ति काम अहमर्थं ही अधिकारी बताया गया है"।

इस लेख से यह प्रतीत होता है कि—पाप्मा, जरा, मृत्यु, शोक प्रभृति निखिलानर्थं व्रात युक्त अनन्तानन्दात्मक स्वस्वरूपप्राप्ति-काम जीव अहंपद शक्यार्थं है और वह अपने जरादि विनिर्मुक्त स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है जो अप्राप्त तथा अलौकिक है उसका वह स्वरूप वेद प्रतिपाद्य है। उसमें अहंपद का प्रयाग वेदों में किया गया है अतः लाक्षणिक है। ऐसा स्थिति में निखिलानर्थं व्रात-विनिर्मुक्त आनन्दात्मक चिद्बिम्ब रूप स्वस्वरूप की प्राप्ति के लिए अहंपद वाच्य अहमर्थं आभास की प्रवृत्ति मोक्ष की कामना से क्यों नहीं होगी।

अद्वैतवेदान्ती स्वरूपोच्छेद को मुक्ति नहीं कहता, किन्तु स्वरूपविषयक विभ्रम के उच्छेद को मुक्ति कहता है। अतः आभास की मोक्ष कामना उपपन्न है। और आभास अहंपद वाच्य है, जाव का निर्विशेष वेदोदित स्वरूप अहंपद का लक्ष्य है यह सिद्ध हुआ।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"परन्तु श्रुति तो अहमर्थं के अमृतत्त्वार्थं श्रवणादि में अहमर्थं को प्रवृत्त करा रही है"।

यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि – हम पहले कह चुके हैं कि अहमर्थं दो प्रकार का है, एक मरण धर्मा, दूसरा अमृत। मरणधर्मा विना उपाधि नाश के अमृत नहीं हो सकता। अतः श्री करपात्री जी का कथन ठीक है कि—"स्वोपाधि विनाश रूप मोक्ष स्वविनाश नहीं कहा जा सकता"। मरण-धर्मा अहमर्थं अहंपद का वाच्य है, और अमृत अहमर्थं अहंपद का लक्ष्य है। दोनों अहमर्थों में सोपाधिकत्व निरुपाधिकत्व मात्र का भेद है। अतः उपाधिविनाश ही मोक्ष है।

श्रीकरपात्री जी ने कहा कि—"अहमर्थं स्वावच्छेदक अन्तःकरण के नाश के लिए वैसे ही प्रवृत्त होता है जैसे कुष्ठादिरोगाभिभूत-रोगी कुष्ठयुक्त देह के विनाश केलिए मरणार्थं प्रयत्नशील होता है"।

इसके खण्डन के लिए श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यह लिखते हैं कि—"यदि श्रुत्यनुमत उक्त प्रवृत्ति अभिमत है तब तो जीर्ण वस्त्र वाले व्यक्ति की अभिनव वस्त्र धारणार्थं प्रवृत्ति के समान अहमर्थं नाशार्थं प्रवृत्ति नहीं है किन्तु अपने उज्जीवनार्थं पतिव्रता के पतिचितारोहणार्थ-प्रवृत्ति के समान महर्षि शरभंग, शबरी प्रभृति के देह त्यागार्थं प्रवृत्ति के समान है" इत्यादि।

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी का कहना ठीक नहीं है क्योंकि पतिव्रता, महर्षि शरभंग, शबरी आदि का मरणार्थं प्रवृत्ति देखी गयी है उसी प्रकार अहमर्थं की आत्मोपाधि विनाशार्थं प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी विवर्तवादियों से पूछते हैं कि—"जब तुम केवल आत्मा तथा केवल अनात्मा में प्रवृत्ति नहीं मानते तब प्रवृत्ति कहाँ होती है।"

इसका उत्तर है कि अन्तःकरणोपहित चैतन्य में प्रवृत्ति होती है उपाधि को प्रवृत्याश्रय होने से उपहित प्रवृत्याश्रयत्वेन व्यवहृत होता है अभिव्यक्त चैतन्य के सन्निधान से अन्तःकरण में प्रवृत्ति होती है। जैसे—अयस्कान्त के सन्निधान से अयस् में प्रवृत्ति होती है।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का विवर्तवादियों से दूसरा प्रश्न है कि—"प्रवृत्ति-हेतु जो अन्योन्याध्यास है वह क्या है—अन्योन्य कर्तृक अध्यास, या अन्योन्य कर्मक अध्यास।"

इसका उत्तर है कि—यह दोनों अन्योन्याध्यास का स्वरूप नहीं है, किन्तु अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यस्य वा अध्यासः यह अन्योन्याध्यास का स्वरूप है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"यदि कहा जाय कि विवर्तवादियों के मतमें किसी देश किसी काल किसी अवस्था में स्वयं प्रकाश कूटस्थ चैतन्य आत्मा में कोई विशेष धर्म इष्ट नहीं है, तब उपहित आत्मा स्वोपाधिविनाश के लिए श्रवणादि में प्रवृत्त होता है यह कथन मूढमोहनार्थं प्रलापमात्र है"।

इसका उत्तर है कि—विवर्तवाद में कूटस्थ चैतन्य में कोई धर्म इष्ट नहीं है और उपहित चैतन्य में सभी धर्म इष्ट हैं। यह बात पहले भी कह चुके हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वमी जी लिखते हैं कि—"जब आपने भ्रम-प्रभा को अन्तःकरण का धर्म मान लिया तब अन्तःकरणात्मवादी चार्वाकविशेष ही विजयी होगा"।

इसका उत्तर है कि—साभास अन्तःकरण भ्रम-प्रमा का आश्रय है और साभास वृत्ति ही भ्रम तथा प्रमा है। इसमें चार्वाक की विजय कैसे हुयी।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"किन्तु लब्धप्रतिष्ठ विवर्तवादी आचार्यों ने अनेक जीववाद में अवच्छेद पक्ष का निरादर किया है"।

यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि—एकजीववाद में अवच्छेद पक्ष की उपपत्ति हो सकती है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—"विवर्तवाद में अद्यावधि किसी की मुक्ति न हुई और आगे भी कोई आशा नहीं है, यह 'इष्टसिद्धिकार' के वचनों से व्यक्त है।"

यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने इष्टसिद्धिकार' के उन वचनों को उद्धृत नहीं किया है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—"'अयं घटः, घटमहं जानामि' इत्यादि ही अनुभव के प्रकार हैं इनमें एक ही ज्ञान स्फुरित हो रहा है, दो नहीं।"

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की उक्ति अद्वैतवादियों के पक्ष को सिद्ध कर रही है, तद् यथा—इनमें=इन दोनों अनुभवात्मकवृत्तियों में एक ही ज्ञान—चिद्रूप आत्मा, स्फुरित=प्रतिविम्ब रूप से भासित हो रहा है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"चक्षुरादि करणों की वृत्तियाँ जैसे ज्ञानादि पदवाच्य नहीं हैं, वैसे ही अन्तःकरण की वृत्तियाँ भी ज्ञानादि पदवाच्य नहीं हो सकती हैं।"

यह कहना असंगत है क्योंकि—चिदाभासवतीवृत्तियाँ ज्ञानपदवाच्य हो सकती हैं चक्षुरादिवृत्तियों में भी चाक्षुषज्ञान, रासनज्ञान, स्पार्शनज्ञान व्यवहार होता है, "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" यह श्रुति भी विचिकित्सा संशय रूप ज्ञान को तथा धीपदवाच्य निश्चय रूप ज्ञान को मनोवृत्तिरूप बता रही है। अतः 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्र की भी उपपत्ति अद्वैतवादियों के पक्ष में हो सकती है। क्योंकि अद्वैतवाद में प्रधान पद-

वाच्य मायोपहित चिद्रूप ईश्वर में साभास मायावृत्तिरूप संकल्पात्मक ईक्षण का कर्तृत्व उपपन्न हो सकता है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी--'नीलमहं जानामि, पीतमहं संवेद्मि, घटमहं जानामि' इत्यादि अनुभवों के आधार पर अहमर्थ की ज्ञातृता (ज्ञानाश्रयता) को सिद्ध किये हैं, तथा--नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट, प्रभाकर सबको अपना समर्थक बताये हैं। किन्तु यह सब कथन अद्वैतवादियों के मत को न जानने के कारण है, क्योंकि अद्वैतवादी अहंपदवाच्य अहमर्थ को ज्ञाता=अन्त:करणवृत्तिरूप ज्ञान का आश्रय मानते हैं। और अहंपद का लक्ष्य अहमर्थ 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुति का विषय है। तथा ज्ञान स्वरूप और निर्विशेष है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी "नाभाव उपलब्धे:" इस सूत्र के शांकरभाष्य का बहुत सा भाग उद्धृत करके लिखते हैं कि—"वादित्वाभिमानी यहाँ विचार करें—'अन्त:करणवृत्तिविशेष रूप प्रमा से अतिरिक्त कूटस्थ नित्यचैतन्य को प्रमा विवर्तवादी आचार्यों को स्वीकृति है या नहीं" इत्यादि। यह विकल्प करना और दोष देना सब असंगत है क्योंकि कूटस्थ नित्य चैतन्य तो अद्वैतवाद में प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक दोनों पदार्थों के भासक होने से भ्रम प्रमा विलक्षण साक्षिरूप ज्ञान है, प्रमाता तो अन्त:करणोपहित चैतन्य है।

इसी प्रसङ्ग में आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"जन्माद्यधिकरणों में विवर्ताधिष्ठान को सर्वज्ञ सत्य संकल्प सर्वशक्ति इत्यादिक झूठा कह कर जगत की वञ्चना करना सर्वथा अनुचित है"।

यह कहना भी असंगत है--क्योंकि अद्वैतवाद में मायोपहितचैतन्य ईश्वर है वह जगत् विवर्त का अधिष्ठान है मायावृत्ति रूप उसका सर्वविषयक ज्ञान तथा सत्य संकल्प है विविधरूपा माया ही उसकी शक्ति है 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"क्या विवर्तवादी आचार्यों को स्वयंप्रकाश चैतन्य आत्मा ब्रह्म का कोई अवगन्ता स्वीकृत है? यदि नहीं, तब भवदाचार्य भाष्यकार के वचन से ही स्वयंप्रकाश चैतन्य आत्मा ब्रह्म मानना व्यर्थ है"।

यह कहना असंगत है क्योंकि आपने भाष्यकार के वचनों को विचारार्थं उद्धृत नहीं किया। किञ्च स्वयं-प्रकाश चैतन्य को अवगन्ता की आवश्यकता है यह आप स्वयं विचार करें।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"अहमर्थं धर्मभूत ज्ञान के अतिरिक्त प्रमाणफलभूत अर्थप्रकाश गगनकुसुमायमान है।"

यह उक्ति अद्वैतसिद्धान्त की अनभिज्ञता के कारण है, क्योंकि अन्तःकरणोपहित चैतन्य अहंपद का वाच्य अहमर्थं है। उसमें साभास अन्तःकरणवृत्ति रूप ज्ञान प्रमाणफलभूत अर्थं प्रकाश है। 'अतोऽहमर्थो ज्ञातैव प्रत्यगात्मेति निश्चितम्' यह श्रीभाष्यकार का वचन भी अहंपद वाच्य अहमर्थं में उपपन्न है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों का व्यवहारदशा और परमार्थदशा नाम की दो दशाओं का कथन मुग्धमोहन मात्र है" इस अपनी उक्ति में भामतीकार का यह वचन प्रमाण रूप से उपन्यस्त करते हैं—"प्रमाणानि हि स्वगोचरे प्रवर्तमानानि तत्त्वमिदमित्येव प्रवर्तन्ते। अतात्विकत्वं तु तद्गोचरस्यान्यतो बाधकादवगन्तव्यम्। न पुनः सांव्यवहारिकं नः प्रामाण्यम्, न तु तात्त्विकमित्येव प्रवर्तन्ते।"

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कथन ठीक नहीं है क्योंकि जीव को व्यवहारदशा—'स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम्, श्यामोऽहम्, गौरोऽहम्, ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादि प्रत्ययों से सिद्ध है ईश्वर की भी व्यवहारदशा और परमार्थदशा दोनों ही पुराणों से सिद्ध हैं। 'भामतीकार' का वचन भी श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी के पक्ष में नहीं है। क्योंकि भामतीकार के वचन से प्रमाणों में स्वगत सांव्यवहारिक प्रामाण्यावेदकत्व तथा स्वगत तात्त्विकप्रामाण्यावेदकत्व का निषेध सिद्ध होता है, स्वगत सांव्यवहारिक प्रामाण्य तथा तात्त्विक प्रामाण्य का निषेध नहीं सिद्ध होता।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"इस प्रकार लौकिक और परीक्षक दोनों के व्यवहार से तत्त्वहित पुरुषार्थों के यथार्थं निष्प्रकम्प ज्ञान के दुर्लभ होने से अनुकम्पया भगवती श्रुति, तदनुगामिनी स्मृतियाँ और ब्रह्मसूत्र तत्त्वहित पुरुषार्थों के यथार्थ निष्प्रकम्प ज्ञान प्रदान के लिये प्रवृत्त हुए। उनका मिथ्या व्यावहारिकार्थं बोधक बताना क्या धृष्टता और नास्तिकता नहीं है।"

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की उक्ति असंगत है क्योंकि अद्वैतवादी लोग यह कहते हैं कि कुछ श्रुतियाँ व्यावहारिकार्थं बोधिका हैं जैसे—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों को आत्मा बतानेवाली श्रुतियाँ। और कुछ श्रुतियाँ परमार्थं की निदर्शिका हैं जैसे—'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम्' इत्यादि श्रुतियाँ। 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यो ब्रह्म, अन्नं ब्रह्मेत्युपासोत' इत्यादि श्रुतियाँ आरोपितार्थंबोधिका हैं, ब्रह्मसूत्रों का प्रामाण्य तो श्रुतियों के ऊपर आधारित है।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी आँख वालों को सलाह देते हैं कि—"आँख खोलकर द्वैत तथा अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का अविरोध श्रीभाष्यादिग्रन्थों में देखें।"

यही उत्तर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी को भी दिया जा सकता है कि—द्वैत और अद्वैत के समन्वय को आप शाङ्करभाष्यादिग्रन्थों में देखें।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—"विवर्तवादी आचार्यगण प्रमाण फलभूत अर्थप्रकाश को वेदान्तप्रतिपाद्य ज्ञप्ति कहते हैं।"

यह कहना विवर्तवादियों के मत के अज्ञान का फल है। विवर्तवादी आचार्यगण कूटस्थ नित्य चैतन्यरूप ज्ञान को वेदान्त प्रतिपाद्य कहते हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी—'अहं मनुष्यः' इस ज्ञान को भ्रम और 'अहं देवः' इस ज्ञान को प्रमा बताते हैं।

किन्तु यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की उक्ति युक्तियुक्त नहीं है। यह दोनों प्रतीतियाँ भ्रमरूप हैं। आत्मा न मनुष्य है न देव है। कर्माधीन जीव की तत्तच्छरीर प्राप्ति है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"अहमर्थं आत्मा ज्ञाता या चेतन है।"

अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप आत्मा अहं पद का वाच्य अहमर्थं है वह ज्ञाता या चेतन कहा जा सकता है। निर्विशेष चैतन्य जो अहं पद का लक्ष्यार्थं है वह तो ज्ञानस्वरूप है सत्य ज्ञान आनन्दस्वरूप आत्मा को श्रुति बताती है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी श्रीभाष्य के ज्ञान लक्षण का उद्धार करते हैं—"अनुभूतित्वं नाम वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वम्।"

अद्वैतवाद में यह लक्षण साभास अन्तःकरण वृत्ति रूप ज्ञप्ति का हो सकता है। आत्मस्वरूप ज्ञान का नहीं। आत्मस्वरूप ज्ञान का लक्षण तो श्रुति में इस प्रकार किया गया है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" यहाँ पर अभेद में 'राहोः शिरः' के तरह षष्ठी है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी—"आत्मा को ज्ञाता तथा स्वप्रकाश कहते हैं। और ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक धर्म बताते हैं।"

यह दोनों ही असंगत है, क्योंकि आत्मा यदि स्वप्रकाश है तब वह ज्ञान-स्वरूप है उसमें ज्ञानरूप धर्म की क्या आवश्यकता है। आत्मरूप प्रकाश से ही आत्मा तथा तदितर-विश्व का प्रकाश हो जायेगा। और ज्ञान यदि आत्मा का धर्म है तब नैयायिक तथा प्रभाकर की तरह आत्मा को जड़ मानना चाहिए। ज्ञान से ही आत्मा तथा विश्व का प्रकाश होगा।

यहीं पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने यह भी कहा है कि—"आत्मा के स्व-प्रकाशत्व के ज्ञापन के लिए क्वचित् आत्मविषयक ज्ञानादि पदों का प्रयोग गौण है"।

यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि शक्यार्थ बाध के बिना ज्ञानपद की आत्मा में गौणीलक्षणा कैसे होगी।

यहीं पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"चैतन्य में स्वरूपत्व स्व-भावत्व दोनों नहीं बन सकते, यह प्रलाप मात्र है"।

यह वचन उपपत्तिरहित होने से अनर्थक है।

यहीं पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावा-दविरोधं बादरायणः" इस सूत्र में भगवान् बादरायण स्वनामग्रहण पूर्वक सर्वज्ञत्वविशिष्ट अपहतपाप्मत्व विशिष्ट कह रहे हैं तब "दो प्रकार के चैतन्य की कल्पना गौरव भी है और अप्रामाणिक भी" यह भी कथन परिदेवन मात्र है"।

यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि इस सूत्र से चैतन्य के द्विप्रकारकत्व की उपपत्ति नहीं की गई है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"हजारों स्मृतिवाक्य आत्मा के ज्ञानाश्रयत्व में प्रमाण हैं"।

इसका उत्तर है कि—हजारों स्मृतिवाक्य अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप आत्म। के ज्ञानाश्रयत्व में प्रमाण हो सकते हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"विषय ज्ञान कर्म होकर आत्मा अहमर्थं को प्रकाशते हैं"।

यह कथन ठीक—नहीं है क्योंकि विषय तो जड़ हैं वह आत्मा अहमर्थं को कैसे प्रकाशित करेंगे।

यहीं पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"विषयस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं स्वस्वरूप का व्यवहारानुगुण्य लक्षण प्रकाश ज्ञाता अहमर्थं को ही होता है, विषय को या ज्ञान को नहीं"।

यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्यवहारानुगुण्य (व्यवहारानुकुलत्व) तो व्यवहारानुकूल साधनों का धर्म है वह प्रकाशरूप नहीं हो सकता।

यहीं पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं—कि—"ज्ञान वर्तमानावस्था में स्वाश्रय को स्वतः प्रकाशता है यही ज्ञान की स्वयं प्रकाशता है।"

यह कथन प्रमाण हीन होने से अग्राह्य है।

यहीं पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं—कि "ज्ञान अतीतानागतावस्था में स्वाश्रय को भी ज्ञानान्तर से ही प्रकाशता है।"

यह कथन अर्थशून्य है क्योंकि अतीत अनागत ज्ञान अविद्यमान होने से ज्ञानान्तर द्वारा अथवा स्वयं स्वाश्रय के प्रकाश का कारण नहीं हो सकता।

यहीं पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"ज्ञान स्वानाधार अहमर्थ आत्मा को घटादि के समान स्वान्यज्ञान से ही प्रकाशता है।"

यह कथन युक्तियुक्त नहीं हैं क्योंकि ज्ञान स्वानाधार अहमर्थं आत्मा को स्वयं प्रकाशित करता है ज्ञानान्तर से नहीं।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यहीं पर लिखते हैं कि—"उपर्युक्त सिद्धान्त-स्थिति को विना समझे यहाँ बहु प्रलाप उपलब्ध होता है।"

यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि—उपर्युक्त सिद्धान्त स्थिति प्रमाणों से अनुपपादित होने से अग्राह्य है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—घटादिकों का जो स्वचाक्षुपत्वविरोधि तमो निरसन में स्वान्यतेजोद्रव्य सापेक्षत्व है तदविरोधितेजोद्रव्य

का स्वचाक्षुषत्व विरोधि तमोनिरसन में जो स्वान्य तेजोद्रव्य निरपेक्षत्व है वही तेजोद्रव्य का स्वयं प्रकाशत्व है, ज्ञान का वर्तमानावस्था में स्वाश्रयकर्तृक व्यवहारानुगुण्य में स्वान्य ज्ञान निरपेक्षत्व लक्षण स्वयंप्रकाशत्व कह आये हैं।"

यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की अपनी अमूलक कल्पना है अतः अप्रामाणिक है। "आत्मदर्शन स्वतः सिद्ध ही है" इस श्रीकरपात्री जी की उक्ति के खण्डन में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि विधिवैयर्थ्य दोष दिया है।

इसका उत्तर है कि 'द्रष्टव्यः' में दर्शन अन्तःकरणवृत्ति विशेष है तद्विषयक विधि है। अद्वैतमत में अन्तःकरण वृत्तिविषयता आत्मा में मानते हैं—'दृश्यते त्वग्र्‌यया बुद्धया' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है।

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्॥

यह अद्वैतियों का सिद्धान्त है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवाद में परमात्मा से अभिन्न निर्विशेष आत्मा अभिमत है। तथाविध आत्मादर्शन के स्वतःसिद्ध होने पर आत्मा के निरसनीय अनर्थव्रातभागित्व की अनुपपत्ति होगी। तथा अनर्थ व्रातनिरसन रूप मोक्ष के लिए प्रवृत्त सपरिकर वेदान्तशास्त्र के वैयर्थ्य की आपत्ति होगी।"

इसका उत्तर है कि अद्वैतमत में निर्विशेष आत्मा और परब्रह्म दोनों एक ही है निर्विशेष आत्मा का स्वरूपभूत दर्शन स्वतःसिद्ध है उसको स्वसिद्धि में दर्शनान्तर की अपेक्षा नहीं है, किन्तु वह माया से आच्छन्न है अतः उसको स्वाच्छादक माया की निवृत्ति के लिये अन्तःकरण वृत्तिरूप दर्शन की अपेक्षा है। गीता में लिखा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ इति।

अतः मोक्ष के लिए प्रवृत्त सपरिकर वेदान्तशास्त्र के वैयर्थ्य की आपत्ति नहीं होगी।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी मण्डलदीप और उसकी प्रभा को दृष्टान्त देकर आत्मा को अणु और उसके धर्मभूत ज्ञान को अपरिमित देशव्यापी संकोच विकासशाली बताये हैं।

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

यह श्वेताश्वतर श्रुतिवाक्य को प्रमाण दिये हैं। यह सब असंगत है क्योंकि आत्मा का धर्मज्ञान नैयायिक वैशेषिक प्रभाकर के मतानुसार गुण है गुणनिरवयव होता है अतः संकोच-विकासशाली कैसे होगा। आपसे की गई गुण की परिभाषा अमूलक तथा अप्रामाणिक है। बालाग्रशतभागस्य यह श्रुतिवाक्य जीव के अणुत्व तथा आनन्त्य को बताता है। मन उपाधिक चैतन्य जीव है मन अणु तथा अनन्त है इसलिए जीव को अणु तथा अनन्त इस श्रुति में कहा है। इसीलिये—"अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्" यह लिखा है। सोपाधिक 'अणोरणीयान्' है और निरूपाधिक 'महतो महीयान्' है। 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' यह वचन ईश्वर की सर्वज्ञता में प्रमाण है पञ्चदशी में लिखा है—

अशेषप्राणिवुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिता।
...............तेन स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥इति॥

अहं ग्रहोपासना से अविद्या समष्टयभिमानी जीव भी सर्वज्ञ एक प्रकार से कहा जा सकता है। "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इस श्रुति में 'राहोः शिरः' के तरह 'विज्ञातुर्विज्ञातेः' यह षष्ठी है। क्योंकि विज्ञाता का परमार्थ स्वरूप विज्ञाति ही है। इसलिये श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने जो शांकरभाष्य के विरोध का उद्भावन किया हैं वह असंगत है। 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, यह श्रुति जीवाभिन्न ब्रह्म को विज्ञानस्वरूप बताती है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—";विज्ञातृशेषतयाऽवगत विज्ञातिवेदान्त प्रमाण का प्रमेयभुत ब्रह्म स्वरूप है" इस अर्थ से पामरों का ही मनोरञ्जन हो सकता है।"

इसका उत्तर यह है कि—इस वाक्य से विद्वानों का ही मनोरंजन हो सकता है पामरों का नहीं। क्योंकि पामर 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस को और 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि श्रुतियों को नहीं जानते हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यह कहते हैं कि—"यहाँ गुण पद रूप-रसादि के समान आश्रयानतिरिक्त देशवृत्ति अद्रव्य-विशेषाभिप्रायक नहीं है किन्तु संकोच विकासशाली होने से द्रव्यभूत ज्ञान के अव्यभिचरितसत्ताक आत्म-पारतन्त्र्याभिप्रायक है।"

यह गुण की परिभाषा अनार्ष और अमूलक होने से अग्राह्य है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—"विशिष्टाद्वैती तो ज्ञान को वर्तमानावस्था में स्वाश्रय के प्रति स्वयं प्रकाश कहते हैं।"

इस कथन के ऊपर यह आक्षेप है कि—क्या वर्तमानवस्था में ज्ञान स्वाश्रयाति-रिक्त के प्रति परप्रकाश्य है?

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"अजड होने से संविद्-रूप ही आत्मा है—यहाँ पर अनुमानाकार यह है—संविद् आत्मा, अजडत्वात्। यहाँ संवित् पक्ष है आत्मत्व साध्य है अजडत्व हेतु है।" यहाँ हेतुभूत अजडत्व क्या है?

यहाँ पर—"अजड् होने से संविद् रूप ही आत्मा है" यह श्रीकरपात्री जी के वाक्य का अनुवाद है। इसमें अजडत्व हेतु है संविद्रूपत्व साध्य है आत्मा पक्ष है। यह स्पष्ट है। इस लिये इस श्रीकरपात्री जी के वाक्य का अभिप्राय श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी नहीं समझ सके। अजडत्व हेतु क्या है?

इसका उत्तर है कि—जडः—जडः इत्येतच्छब्दप्रत्ययानुवृत्तिगोचरधर्मविशेष-रूप जडत्व है तदभाव अजडत्व है। अतः "यदि स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्वरूप अजडत्व कहा जाय" इत्यादि परिष्कार और तदाश्रित दोष सब भावानवबोध मूलक हैं।

आगे चलकर इसी प्रसङ्ग में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"जब संवित् का प्रकाश धर्म नहीं है तब संवित् रूप पक्ष में स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्व-रूप हेतु के न रहने पर स्वरूपासिद्धि रूप दोष कैसे न होगा। क्या कोई साव-धान विद्वान् ऐसा कह सकता है।"

इसका उत्तर यह है कि—हम पहले बता आये हैं कि संवित् साध्य है पक्ष नहीं। और विवक्षित अजडत्व भी बता आये हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"जब तक व्यवहार है तब तक संविद् व्यवहार का विषय मान्य ही है यह कथन भी सर्वथा असंगत है, यदि कोई शुक्तिका को रजत मान बैठे तो क्या शुक्तिका में रजतत्त्व आ जायेगा, क्या संवित् का निर्विशेषत्व अभिमत नहीं है, सविशेषत्व इष्ट है, " 'ज्ञा' धातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्" ऐसा कहने वाले विवरणकार क्या ज्ञप्ति को व्यावहारिक आत्मा मानते हैं, वादित्वाभिमानी ने भी तो पहले—"व्यवहार दशा में तो आत्मा का ज्ञातृत्व इष्ट ही है" ऐसा कहा है।"

इसका उत्तर यह है कि—यदि कोई शुक्तिका को रजत मान बैठे तो वह शुक्तिका में रजतत्व को भी मान बैठेगा। पर परमार्थ दशा में संवित् का निर्विशेपत्व इष्ट है, व्यवहार दशा में संवित् का सविशेषत्व इष्ट है। 'ज्ञाधातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' इस विवरणकार के वाक्य में साभास मनोवृत्ति रूप ज्ञान का आश्रय अन्तः करणोपहित चैतन्य रूप आत्मा ज्ञाता है और वह यावद् व्यवहार अबाधित होने से व्यावहारिक है यहां पर साभास मनोवृत्तिरूप ज्ञान अर्थ प्रकाशक है, यह विवरण वाक्य का तात्पर्य है। यदि नहीं है तो इसको विवरण वाक्य से सिद्ध कीजिये।

श्रीकरपात्री जी ने यदि—व्यवहार दशा में आत्मा में ज्ञातृत्व को इष्ट कहा है तो परमार्थ-दशा में आत्मा की ज्ञानरूपता में क्या बाधा है? व्यावहारिक पदार्थ को परमार्थ सत्ता तो है नहीं।

१०२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"उक्त कारणों से प्रकाश शब्द और सत्ता शब्द का द्वन्द्वसमास करके उसके साथ अव्यभिचरित शब्द का बहुव्रीहिसमास कथंचित् भी उपपन्न नहीं है"।

इसका उत्तर यह है कि—हेतु में साध्याभाव सामानाधिकरण्य व्यभिचार है, प्रकाश और सत्ता का अन्यतराभाव सामानाधिकरण्य व्यभिचार है, अतः 'अव्यभिचरिते अन्यतराभावसामानाधिकरण्यरहिते प्रकाशसत्ते यस्य तत् अव्यभिचरितप्रकाशसत्ताकं तस्य भावस्तत्त्वम्' इस अर्थ में द्वन्द्वसमास करके बहुव्रीहि समास उपपन्न हो सकता है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"इसका अर्थ यह है कि जिसका प्रकाश और सत्ता दोनों ही व्यभिचरित नहीं वह अव्यभिचरित प्रकाश-सत्ताक है। किन्तु सुखादि का तो प्रकाश और सत्ता दोनों ही व्यभिचारी हैं, जन्म के प्राक् एवं ध्वंस के पश्चात् सुखादि को सत्ता और प्रकाश दोनों ही नहीं रहते"। यह विधान जरद्गवादि वाक्य के समान सर्वथा असंगत है"।

इसका उत्तर है कि—असंगति के उपपादन के विना असंगत कह देने से ही यह विधान असंगत नहीं हो सकता। सुखादि के प्रकाश और सत्ता में सुखादि पूर्वोत्तरकालाधिकरण का भाव प्रतियोगित्वरूप व्यभिचारित्व विवक्षित है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"किञ्च अव्यभिचरित प्रकाशसत्ताकत्व शब्द का विवर्तवादी के मत का निष्कृष्ट अर्थ 'नित्यप्रकाशत्वे सति नित्यसत्ताकत्वम्' यह हुआ। एवं सति हेतुगत विशेषण और विशेष्य इन दोनों में अन्यतर का वैयर्थ्य ध्रुव है"।

इसका समाधान यह है कि—'अव्यभिचरतप्रकाशसत्ता यस्य तत्त्वम्' यह अव्यभिचरितप्रकाशसत्ताकत्व शब्द का अर्थ विवर्तवादी को अभिप्रेत है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"किञ्च यदि नित्यत्व गर्भ अजडत्व हो तब वादित्वाभिमानी के ग्रन्थकारों के अजडत्व से अप्रसिद्ध साधन दोष से जडत्व साधन अनुपपन्न हो जायेगा"।

यह कथन अनुक्तोपालम्भ है। विवर्तवादी अजडत्व से जडत्व साधन नहीं कर रहा है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"लक्षण वाक्य निर्दिष्ट प्रकाश शब्द से स्वरूप भूत प्रकाश ही विवक्षित है' यह कथन सर्वथा असंगत है। यदि लक्षणवाक्य–निर्दिष्ट प्रकाश शब्द स्वरूपभूत प्रकाश पर हो तब लक्षण वाक्य गत प्रकाश और सत्ता का सामानाधिकरण्य अनुपपन्न हो जायेगा"।

इसका यह समाधान है कि—प्रकाश और सत्ता विवर्तवाद में दोनों आत्मा के स्वरूपभ‍ूत ही हैं अतः इन दोनों का परस्पर सामानाधिकरण्य अनुपपन्न नहीं होगा।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"स्वस्मै भासमानत्व-रूप अजडत्व भी ठीक ही है, अहमर्थ आत्मा वस्तुतः संविद्रूप ही है, अतः स्वस्मै

भासमानत्व भी उपपन्न होता है" । यह कथन अनवधानमूलक होने से लेशमात्र भी उचित नहीं है, आप की पक्ष भूत संवित् अहमर्थं ज्ञाता को प्रकाशती है, स्वस्मै नहीं इस बात को आपके आचार्य लोग डङ्का चोट से कहते हैं । "ज्ञातुरर्थ-प्रकाशस्य ज्ञानत्वात्" "अर्थप्रकाशो ज्ञप्तिः" इत्यादिक विवरणकार के वाक्य हैं" ।

इसका समाधान यह है कि—इस विवरणकार के वाक्य से यही प्रतीत होता है कि ज्ञान अर्थं प्रकाशरूप है, स्वप्रकाशन नहीं है यह इस वाक्य से नहीं प्रतीत होता । अतः ज्ञान अर्थ प्रकाश भी है और स्वप्रकाश भी है ।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जीं लिखते हैं कि—सनातन धर्म प्रतिष्ठाप-कत्वेन विश्वोपकारक पूज्यतम विवर्तवादियों के कूटस्थ भाष्यकार—"युष्मदस्म-त्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः" इस वाक्य में अस्मदर्थं की प्रमाणसिद्धता के लिए विषयि पद से निर्देश कर रहे हैं, धर्म-भूत-ज्ञान का विषयित्व सर्वसंमत, धर्मि-भूत आत्मा का विषयित्व किसी को भी संमत नहीं है" ।

इसका समाधान यह है कि—अद्वैत मत में आत्मा स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप है तथा निर्धर्मक होने से धर्मी नहीं है । और यह पूर्वपक्ष भाष्य है ।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जीं स्वार्थसिद्धि के लिए पञ्चपादिका के वचन का उल्लेख करते हैं—"तस्माच्चित्स्वभाव एवात्मा, तेन-तेन प्रमेयभेदेनोपधी-यमानोऽनुभवाभिधानीयकं लभते, अविवक्षितोपाधिरात्मादिशब्दैरभिधीयते । अव-धीरितवनाभिधाननिमित्तैकदेशावस्था इव वृक्षा वृक्षादिशब्दैरित्यभ्युपगन्तव्यम्" ।

इसका समाधान यह है कि—इस प्रपञ्चपादिका-वाक्य में चित्स्वभाव का अर्थ ज्ञानस्वभाव आत्मा है । 'चिती संज्ञाने' धातु से भाव में 'क्विप्' करने पर चित् यह ज्ञानार्थक पद सिद्ध होता है । वही ज्ञानस्वभाव आत्मा प्रमेय से अर्थात् स्वविषय से उपहित होकर अनुभव कहलाता है, इस प्रकार इन वाक्यों से आत्मा की ज्ञानरूपता ही सिद्ध होती है धर्मिरूपता नहीं सिद्ध होती । 'ज्ञाधातुरर्थप्रका-शस्य ज्ञानत्वात्' 'विषयावच्छेदोपाधिः करणव्युत्पत्त्या ज्ञानम्' 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इन विवरण-वाक्यों से भी आत्मा की अप्रतिबिद्धा स्वप्रकाशता तथा ज्ञानरूपता सिद्ध होती है । करण व्युत्पत्ति से चिदाभास रूप अर्थ प्रकाश में करणीभूत वृत्ति को ज्ञान शब्द कहता है ।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"भगवान् श्रीभाष्यकार को अभीष्ट ज्ञानादि पदों का "अनुभूतित्वं नाम वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयम् प्रति प्रकाशमानत्वम्, स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं वा" यह प्रवृत्तिनिमित्त उक्त आचार्यों को भी अभीष्ट है।"

यह कथन अत्यन्त असङ्गत है—क्योंकि हम पहले बता आये हैं कि उक्त आचार्यों के वाक्यों से ज्ञान का स्वप्रकाशत्व तथा आत्मरूपत्व ही सिद्ध होता है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"विज्ञानघन एव यो विज्ञाने तिष्ठन्' 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादि औपनिषद् निर्देशों से ज्ञाता में निरूढ-लक्षणा सिद्ध होती है। अनन्यथासिद्ध प्रयोग शक्तिसाधक है, यहाँ प्रयोग की अन्यथासिद्धि दिखा आये हैं, किन्तु अनेक औपनिषद निर्देशों से निरूढा लक्षणा सिद्ध होती है, इसी को आचार्य लोग ज्ञाता का ज्ञान पद से व्यवहार भी करते हैं और धर्मभूत ज्ञानमात्र वृत्ति प्रवृत्तिनिमित्त का वर्णन भी करते हैं ज्ञाता का 'स्वयं प्रकाशत्व विज्ञानघन एव' इत्यादि श्रुतिप्रमाण से विवर्तवादी और विशिष्टा-द्वैती रूपवादी प्रतिवादो दोनों ही को सम्मत है।"

यह सब कथन अद्वैतवादी आचार्यों के सम्यक्ज्ञान न होने से है क्योंकि हम पहले बता आये हैं कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में ज्ञान और ब्रह्मपद के सामानाधिकरण्य से ज्ञान शब्द शक्ति से ही ब्रह्मस्वरूप आत्मा को कहता है ऐसी स्थिति में जघन्यवृत्ति लक्षणा के आश्रयण का क्या महत्त्व है और विवर्तवादी को ज्ञाता का स्वप्रकाशत्व कभी इष्ट नहीं है क्योंकि ज्ञाता तो वृत्तिविशिष्ट साभा-सान्तःकरण अद्वैतवाद में है। अन्तःकरण और उसकी वृत्ति दोनों ही विवर्तवाद में साक्षिभास्य हैं जो कि साक्षी अद्वैतवाद में ज्ञानस्वरूप है ज्ञाता नहीं।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—संवित् का नित्यत्व स्वयंप्रकाशत्वादि सवेत्ता के अधीन है। यह अर्थ श्रुतिसिद्ध है—यह वादी प्रतिवादी का उभय सम्मत है। 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इस श्रुति का उक्त विशेषण विशिष्ट भाष्यकार का यह भाष्य है—'हि यस्मात् द्रष्टुर्दृष्टिः कर्तुर्या दृष्टिस्तस्या दृष्टेर्विपरिलोपो विनाशः स न विद्यते। यथा—अग्ने-रौष्ण्यं यावदग्निभावि तथाऽऽत्मा द्रष्टाऽविनाशी, अतो अविनाशित्वादात्मनो

४

दृष्टिरप्यविनाशिनी यावद् द्रष्टृभाविनी हि सा' इस भाष्य की भाषा पहले लिख आये हैं। यहाँ अग्नि और औष्ण्य के समान द्रष्टा और दृशि का स्वाभाविक धर्म-धर्मिभाव है अत एव द्रष्टा और दृशि का भेद द्रष्टा के अविनाशित्व के अधीन दृशि का अविनाशित्व ये अर्थ इस श्रुति से सिद्ध है। इसमें यह भाष्य प्रमाण है।

यद्यपि यह अर्थ विवर्तवादी उक्त भाष्यकार को अभीष्ट नहीं है तथापि परम व्युत्पन्न उक्त भाष्यकार अपनी व्युत्पत्ति की अवहेलना नहीं कर सके। इन सोप-पत्तिक प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि धर्मभूत संवित् का पक्ष उभय वादि सम्मत है। तथा धर्मभूत संवित की स्वरूप सत्ता नित्यत्व, स्वयंप्रकाशत्वादि निरूढ्या ज्ञानपदवोध्य संवेत्ता के अधीन है यह विवर्तवादियों को भी अप्रत्याख्येय है। विवर्तवादी भी श्रुति प्रमाणवादी हैं।

बृहदारण्यक के श्रुतित्व में विवर्तवादियों की विप्रतिपत्ति भी नहीं है। विज्ञाता के स्वाभाविक धर्मभूत विज्ञप्ति के स्वरूपसंज्ञादि के विज्ञातृसम्बन्धाधीन होने से विज्ञाति का स्वयंप्रकाशत्वादिक विज्ञातृसम्बन्धाधीन है— यह श्रुति-प्रमाण सिद्ध है। इसको "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इस बृहदारण्यक-वाक्य को श्रुति मानने वाले को तथा अपने भाष्य को वास्तविक श्रुत्यर्थ प्रतिपादक मानने वाले को अकामेनाऽपि मानना होगा।"

इसका समाधान यह है कि—संवित का नित्यत्व स्वयंप्रकाशत्वादि संवेत्ता के अधीन है, यह अर्थ श्रुतिसिद्ध है, यह वादी प्रतिवादी उभय सम्मत है, ऐसी आपकी प्रतिज्ञामात्र से विना हेतु के तथा विना उपपत्ति के यह सिद्ध नहीं होगा। 'द्रष्टुर्दृष्टेः कर्तुर्या दृष्टिः तस्या विपरिलोपो विनाशः स न विद्यते' इत्यादि उपर्युद्धृत शाङ्करभाष्य का अभिप्राय यह है कि—'द्रष्टुर्दृष्टिकर्तुः स्वरूपभूता या दृष्टिः यह अर्थ है इससे धर्मधर्मी भाव नहीं सिद्ध होता है यहाँ पर 'राहोः शिरः' की तरह अभेद रहते हुए भी षष्ठी की उपपत्ति होगी। अभेद में भी कल्पित धर्मधर्मिभाव या आधाराधेयभाव होता है जैसे—'सूर्ये प्रकाशः, वने आम्राः' इत्यादि व्यवहार-दशा में अद्वैतवाद में द्रष्टा और दृष्टि का धर्मधर्मिभाव कल्पित है। "न हि विज्ञातु-र्विज्ञाते विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्" इस बृहदारण्यक श्रुति का भी वही अर्थ है, यहाँ पर भी अभेद में षष्ठी है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि---"तथा 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इस श्रुति में 'अभिनिष्पद्यते' शब्द से कही गयी अभिनिष्पत्ति उत्पत्तिरूपा नहीं है किन्तु, आविर्भावरूपा है। उत्पत्तिरूपा अभिनिष्पत्ति मानने पर स्वेन शब्द व्यर्थ हो जायेगा। यह 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' इस सूत्र का अर्थ विवर्तवादी सम्मत है। यदि परञ्ज्योति को उपसन्न अपने स्वाभाविकरूप से अभिव्यक्त होता है तब पूर्वावस्थाओं से परञ्ज्योतिरुपसन्नावस्था में क्या विशेषता है ? इस शङ्का का उत्तर भगवान वादरायण कहते हैं---'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' जो प्रकृतश्रुति में 'अभिनिष्पद्यते' ऐसा कहा गया है, वह सर्वबन्ध विनिर्मुक्त-शुद्ध-स्वरूप से अवस्थित होता है। इसके पूर्व अवस्थात्रय कलुषित-स्वरूप से अवस्थित रहता है। यह विशेषता है। इस अर्थ का साधक प्रतिज्ञानपद है। उक्त सूत्र का विवर्तवादी सम्मत यह अर्थ है। प्रकृत-श्रुति में 'स्वेन, रूपेण' इन दोनों पदों से कहा हुआ अपना इसका रूप अपहतपात्मात्वादि सत्यसङ्कल्पत्व पर्यन्त तथा सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व हैं उस रूप से अभिनिष्पन्न होता है। यह जैमिनि आचार्य का मत है—यह 'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' इस सूत्र का अर्थ विवर्तवादियों से प्रोक्त है। यद्यपि अपहतपाप्मत्वादि धर्मभेद से ही कहे गये हैं तथापि वे शब्द विकल्प ही हैं। पाप्मादिकों की केवल निवृत्ति वहाँ अवगत होती है। इस आत्मा का तो चैतन्य ही स्वरूप है अतः चैतन्यमात्र स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है यह औडुलोमि आचार्य का मत है—"चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादौडुलोमिः" इस सूत्र का विवर्तवादियों से अभिहित अर्थ है।

इन दो प्रकार के वादियों की विप्रतिपत्ति में भगवान् बादरायण का सिद्धान्त-सूत्र है—इसमें विवर्तवादियों की विप्रतिपत्ति नहीं है—"एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः" इस सिद्धान्तसूत्र के 'एवम् अपि उपन्यासात् पूर्वभावात् अविरोधं बादरायणः' इस पद विभाग में विवर्तवादियों की विप्रतिपत्ति नहीं है। एवम् अपि इस प्रकार होने पर भी उपन्यासात्---उपन्यास-प्रमाण से पूर्वभावात्—पूर्वोक्त ब्राह्मगुणों के सद्भाव होने से, अविरोधम्—विरोधाभाव को बादरायणः---बादरायण आचार्य मानते हैं। इन सौत्रपदों के अर्थों में विवर्त-

वादियों का विवाद नहीं है। इन पदार्थों की योजना से प्रमाणपुरस्सर औडुलोमि-प्रतिपादित विज्ञान-घन-आत्मस्वरूप के होने पर भी पूर्व सूत्रोक्त ब्रह्मगुणों को भी उपन्यास-प्रमाण से सिद्ध होने से, विज्ञान-घन-स्वरूपत्व का और सर्वज्ञत्व, अपहत्त पाप्मत्वादि ब्रह्मगुणवत्ता का विरोध नहीं है। जिस प्रकार से वस्तु प्रमाणसिद्ध है तदन्यप्रकार से कथन या स्वीकार विरुद्ध यहाँ विज्ञान-घन-स्वरूपत्व और सर्वज्ञत्व अपहतपाप्मत्वादि गुणकत्व ये दोनों ही आत्मा के स्वाभाविकरूप प्रमाण-सिद्ध हैं। अतः उभय स्वाभाविक स्वरूप अभिनिष्पत्ति में कोई विरोध नहीं है। यहाँ पर प्रकृत श्रुतिगत 'स्वेन रूपेण' इन पदों से विवक्षित स्वाभाविक रूप-निर्धारणार्थ प्रवृत्त होकर सिद्धान्त के निष्प्रकम्पता विवादोपन्यासपुरस्सर उभय स्वरूप को प्रमाणसिद्ध होने उभयरूपता में विरोध नहीं है। इस स्पष्ट निर्णय को प्रकृत में जिसका कोई प्रसङ्ग नहीं एवंविध "परमार्थिकचैतन्यमात्र-स्वरूपाभ्यु-पगमेऽपि व्यवहारापेक्षया" इस उक्ति से दूषित करना अपनी प्रामाणिकता को मटियामेट करने के सिवाय और क्या है। तस्मात् यह सिद्ध हुआ कि आत्मा का विज्ञानघनत्व और सर्वज्ञत्व, अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्मगुणकत्व ये स्वाभाविक रूप हैं एतदुभयरूप से परञ्ज्योति को उपसम्पन्न होकर अभिनिष्पन्न होता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि—'संवित् आत्मा स्वयंप्रकाशत्वात्' यहाँ पक्षभूत संविद् धर्मभूत ज्ञान है यह पञ्चपादिकाकार, विवरणकार प्रभृति विवर्तवादियों के मुख्य आचार्यों के वाक्यों से सिद्ध है। धर्मभूत ज्ञानस्वरूप सत्तादिक ज्ञातृ-संबन्धाधीन हैं यह 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेः' 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादि श्रुतिप्रमाण सिद्ध है। अतः ज्ञान का कर्म हुए विना व्यवहारानुगुण होना स्वयं-प्रकाशत्व पक्ष के ज्ञाता में अतिव्याप्ति है। ज्ञानान्तर निरपेक्ष जिसका प्रकाश हो वही स्वप्रकाश है, इस पक्ष में स्वरूपासिद्धि है यह कथन सुसङ्गत है। इन सब विषयों को बिना समझे "यह सब कथन भी असङ्गत ही है, यह कथन सङ्गत है या असङ्गत इसको सावधान चित्त से श्रीमान् ही समझें।"

इस उपर्युक्त पूरे सन्दर्भ का समाधान यह है कि—जो चार सूत्र आप प्रकृत में उद्धृत किये हैं उनमें से किसी भी सूत्र से सर्वज्ञत्व, अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्मगुण नहीं सिद्ध होता क्योंकि सर्वज्ञत्व, अपहतपाप्मत्वादि गुणों का इन सूत्रों में

उल्लेख नहीं है विज्ञानघनत्व-रूप-चिति तन्मात्रत्व का उल्लेख अवश्य है और वह विवर्तवादियों को मान्य भी है। आत्मा का चैतन्यमात्र स्वरूप पारमार्थिक है और व्यावहारिक आत्मा का स्वरूप उपाधिकलुषित है, अतः पूर्वावस्था में जीव का स्वरूप उपाधिकलुषित है और 'परञ्ज्योतिरुपसन्नावस्था' उसकी पारमार्थिक अवस्था है। ब्रह्म की सर्वज्ञता सर्वविषयक ज्ञानस्वरूपता ही है और ब्रह्म में अपहतपाप्मत्वादि-पाप्मादि की निवृत्तिरूप ही है जो निवृत्ति अद्वैतवाद में अधिष्ठानस्वरूप है, अतः यह नहीं सिद्ध होता कि 'संविद् आत्मा स्वयं-प्रकाशत्वात्' यहाँ पर संविद् धर्मभूत ज्ञान है और यह भी नहीं सिद्ध होता कि पञ्चपादिकाकार, विवरणकार प्रभृति विवर्तवादियों के मुख्य आचार्यों का यह मत है, और यह भी नहीं सिद्ध होता कि धर्मभूत ज्ञान स्वरूपसत्तादिक ज्ञातृ-संवन्धाधीन हैं, अतः ज्ञान का कर्म हुए विना व्यवहारानुगुण होना स्वयंप्रकाशत्व पक्ष के ज्ञाता में अतिव्याप्ति है यह भी नहीं सिद्ध होता क्योंकि व्यवहारानुगुण ज्ञाता ज्ञान का कर्म अवश्य है क्योंकि वह दृश्य देहेन्द्रियान्तःकरणादि से उपहित है। ज्ञानान्तर निरपेक्ष जिसका प्रकाश हो वही स्वप्रकाश है इस पक्ष में स्वरूपा-सिद्धि नहीं है क्योंकि संविद्रूप पक्ष में 'ज्ञानान्तरनिरपेक्षस्वप्रकाशत्व' यह हेतु विवर्तवादी के मत से सिद्ध है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यह लिखते हैं कि—"भावों के परस्पर विलक्षणस्वभाव प्रमाण-सिद्ध हैं। सामान्यतो दृष्टानुमान अन्यधर्म के अन्यत्र आपादन में प्रवृत्त मानान्तर वाधित होता है। ज्ञातृ ज्ञानेतर ज्ञान से ही ज्ञाता को प्रकाशते हैं। ज्ञान वर्तमानावस्था में विषयाश्रय-सम्बन्ध सहित स्वयं स्वाश्रय ज्ञाता को ही प्रथता है। वर्तमानेतरावस्था में स्वाश्रयज्ञाता को भी ज्ञानान्तर से ही प्रथता है। स्वाश्रय ज्ञानेतर को ज्ञान स्वेतर ज्ञान से ही प्रथता है। यह ज्ञाता मात्र को ज्ञात है।"

इसका समाधान यह है कि—ज्ञानस्वरूप ज्ञाता स्वप्रकाश है और यदि वह स्वप्रकाश न हो तो आत्मा में कदाचित् संशय विपर्यय या विपरीत प्रमा होनी चाहिए जो कि कदापि नहीं होती। परवेद्य जो घट पदादि हैं उनमें संशय, विपर्यय विपरीत प्रमा समय-समय पर होती है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"प्रमाणोपपत्ति शून्य सर्वानुभवविरुद्ध 'वेद्यत्व ही जडत्व है' यह कथन स्वप्रक्रियाभ्यास जाड्यप्रयुक्त है"।

इसका समाधान यह है कि—ज्ञान चैतन्य रूप तथा अजड है और ज्ञानेतर वस्तु सभी जड तथा वेद्य हैं। ज्ञान स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप अद्वैतवाद में है। अतः वेद्यत्व और जडत्व यह दोनों धर्म समनियत होने से एक हैं। आत्मस्वरूप ज्ञान स्वयंप्रकाश है वेद्य नहीं है अतः जड़ नहीं है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"श्रुति आत्मा को मुक्तावस्था में भी सर्वज्ञत्व, अपहतपाप्मत्वादि सत्यसङ्कल्पत्वान्त स्वाभाविक गुणगणविशिष्ट ही सुना रही है अतः "सिद्धान्ततः आत्मा निर्धर्मक ही है" यह कथन वेदान्तानभिज्ञत्वमूलक ही है। "अतः स्वयं से स्वधर्म ग्रहण का उभय सम्मत कोई दृष्टान्त नहीं है"। इस वाक्य में धर्मपद अदृष्ट विशेष पर नहीं है किन्तु ज्ञान में किञ्चिदंश प्रकारतया प्रथमान पदार्थ पर है। "घटमहं जानामि" इस अनुभव में ज्ञान प्रकारतया घट प्रथता है यह सर्व सम्मत है। अतः 'घटमहं जानामि' इस अनुभव में स्वयं अनुभव से स्वधर्म घट का ग्रहण उभय सम्मत दृष्टान्त है। आत्मा में यदि नित्यत्वादि धर्म कल्पित हैं तब तो अनित्य ही आत्मा होगा। "स्वयं आत्मा कूटस्थ है। अतः उसमें ज्ञातृत्वादि कोई विकार नहीं बन सकते" यदि आत्मा में ज्ञानाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व श्रीमान् को अभीष्ट नहीं है तब क्या चार्वाकसम्मत देहादिनिष्ठ ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व श्रीमान् को भी अभीष्ट है"।

उपर्युक्त सन्दर्भ का समाधान यह है कि—जो श्रुति मुक्तावस्था में सर्वज्ञत्व अपहत-पाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वान्त गुणगण को बता रही है वह गुणगण जीव का स्वाभाविक नहीं है वह अतीततया कल्पित गुणगणों का उपलक्षण रूप से तथा स्थूलारुन्धती न्याय से निदर्शन है क्योंकि मुक्तावस्था का जीव-स्वरूप अवाङ्मनसगोचर है। "न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं। अतः सिद्धान्ततः आत्मा निर्धर्मक ही है यह श्रीकरपात्री जी का कथन वेदान्ताभिज्ञत्व-मूलक है, क्योंकि यदि आत्मा सधर्मक हो तो वह अधर्मों से कहा तथा जाना जा सकता है वह अवाङ्मनसगोचर नहीं हो सकता।

इसी सन्दर्भ में जो श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने कहा है कि—"घटमहं जानामि" इस अनुभव में स्वयं अनुभव से स्वधर्म घट का ग्रहण उभय सम्मत दृष्टान्त है"।

यह कथन असङ्गत है क्योंकि 'ज्ञान' आन्तर-वस्तु है और 'घट' बाह्य-वस्तु है। अतः आन्तर ज्ञान का बाह्य घट धर्म कैसे हो सकता है। आत्मा में नित्यत्व तथा नित्यत्वाभाव आदि सभी धर्म कल्पित हैं, अत एव आत्मा अवाङ्मनसगोचर है अतः आत्मा को अनित्य भी नहीं कह सकते, अतः श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का यह कथन असङ्गत है कि—"आत्मा में यदि नित्यत्वादि धर्म कल्पित हैं तब तो अनित्य ही आत्मा होगा"।

विवर्तवादी को अनुपहित आत्मा में ज्ञानाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व अभीष्ट नहीं है चार्वाक सम्मत देहादिनिष्ठ ज्ञानाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व भी अभीष्ट नहीं है। अन्तःकरणाद्युपहित आत्मा में ज्ञानाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व विवर्तवादी को अभीष्ट है क्योंकि—'कामःसङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा-अश्रद्धा-ह्री-धी-भीरित्येतत् सर्वं मन एव' इस श्रुति के अनुसार धी अर्थात् ज्ञान मन का धर्म है अतः ज्ञानरूप स्ववृत्ति का आश्रय मन ज्ञाता है और इसीलिये तदुपहित चैतन्य में भी ज्ञातृत्व व्यवहार तथा ज्ञातृत्वाध्यास होता है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—"श्रुति को प्रमाण मानने वालों को 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेः' 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादि श्रुतियों से आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध है और अग्नि के साथ औष्ण्य के समान ज्ञाता अहमर्थ आत्मा के साथ ज्ञान का स्वाभाविक संवन्ध भी सिद्ध है अतः यहाँ अन्योन्याश्रय निराश्रय है 'घटमहं जानामि' इत्याद्यनुभवों में ज्ञान स्वाश्रयाहमर्थं सम्बन्धितयैव स्वयं प्रथता है अतः 'मेरा ज्ञान से सम्बन्ध है' इत्यादि बालजल्पन है। आत्मा का देहेन्द्रियादिकों के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है किन्तु कर्माविद्योपाधिक है। यदि जाग्रदादि द्रष्टा किसी के साथ आत्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक होता तब उसकी सर्वदा अनुवृत्ति होती असङ्ग स्वभाव होने से जाग्रदादि दशा दृष्ट पदार्थों की अनुवृत्तित्व स्वप्नादि में नहीं होती। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' यह श्रुति इसी अर्थ को कह रही है। आत्मा का ज्ञान के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक है, यह "न हि द्रष्टुर्दृष्टेः, स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। सुषुप्ति, मूर्छा, मरण

और प्रलय में भी अनभिव्यक्तावस्थ ज्ञान के साथ सम्वन्ध "पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्" इस सूत्र से सिद्ध है, अतः प्रमाणसिद्ध-ज्ञानादिकों के साथ सम्बन्ध का निषेध यह श्रुति नहीं कर रही है किन्तु कर्माविद्योपाधिक देहेन्द्रियादिकों के साथ सम्बन्ध की अस्वाभाविकता को वता रही है। कर्ममूलक देहेन्द्रियों के साथ स्वभावतः असङ्ग है सङ्ग कर्माविद्योपाधिक है"।

उपर्युद्धृत सन्दर्भ का यह समाधान है कि—"न हि द्रष्टुर्दृष्टेः, स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादि श्रुतियों से आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध नहीं होता, इस बात को हम पहले वता आये हैं अग्नि के साथ औष्ण्य के समान ज्ञाता अहमर्थ आत्मा के साथ ज्ञान का स्वाभाविक सम्बन्ध भी नहीं सिद्ध होता, क्योंकि अग्नि का औष्ण्य यावदाश्रयभावी है और आपके मतानुसार आत्मा का धर्म ज्ञान यावदाश्रय भावी नहीं है। 'घटमहं जानामि' इत्याद्यनुभव विवर्तवादी के मतानुसार स्वप्रकाश साक्षी चैतन्यरूप है अतः ज्ञानानवस्था दोष नहीं होता इस अनुभव में 'अयं घटः' यह वृत्ति रूप व्यावसायात्मक ज्ञान तथा उसका आश्रय अन्तःकरण ज्ञातृ रूप से भासता है अतः 'मेरा ज्ञान से सम्बन्ध है' इत्यादि वाल-जल्पन नहीं है क्योंकि उक्त साक्षी रूप चैतन्य के साथ वृत्ति रूप ज्ञान का भास्य-भासक भाव रूप सम्बन्ध है। आत्मा का ज्ञान के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक है, यह 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेः' इत्यादि श्रुतिसिद्ध नहीं है। इस वात को हम पहले वता आये हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कहते हैं कि—"कहा जा सकता है कि स्वरूपभूत ज्ञान से धर्मभूत ज्ञान अन्य ही है, परन्तु यह भी कथन संगत नहीं है क्योंकि अन्यतासिद्ध नहीं" इत्यादि। स्वरूपभूत ज्ञान से धर्मभूत ज्ञान की अन्यता 'एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः' इस सूत्र के विषयभूत श्रुतियों से तथा इस सूत्र से सिद्ध है। तथा निर्दिष्ट श्रुतिसूत्रजन्य बोधजन्य संस्कार सहकृत 'घटमहं जानामि' इत्याद्यनुभव से सिद्ध है। जैसे—रत्नों की विशेषताओं का केवल चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने पर भी रत्न-शास्त्राभ्यास-जनित-संस्कार सहकृत चक्षुरिन्द्रिय से रत्नों की विशेषताओं का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है तथा जैसे—षडजादि सप्तस्वरों की श्रुतियों की विशेषताओं का केवल श्रोत्र से श्रावण प्रत्यक्ष न होने पर भी संगीतज्ञ शिक्षा-जनित-संस्कार-सहकृत

श्रोत्र से षड्जादिक श्रुतियों की विशेषताओं का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही—वेदान्तशास्त्राभ्यास-जन्य संस्कार सहकृत 'घटमहं जानामि' इत्याद्यनुभवों में भेदेन धर्मभूत ज्ञान धर्मिभूत ज्ञान प्रकट होते हैं। अतः उक्ताक्षेप अज्ञानमूलक है। 'अहमर्थ विशेष्य रूप से ही आत्मा का प्रकाश करता है' इत्यादि अनभिज्ञ ही कह सकते हैं हम सब नहीं।"

"इसी प्रकार अहमर्थ अपने आपको जिसके लिये प्रकाशता है" इत्यादि बाल-लीला भी उपेक्षणीय है। इतना यहाँ समझा देना आवश्यक है कि भाव के स्वभाव विचित्र होते हैं, अहमर्थ स्वस्मै प्रथता रहता है स्वस्मै प्रकाश ही उसका वपु है उससे भिन्न उसका प्रकाशन कोई व्यापार नहीं है।"

उपर्युद्धृत सन्दर्भ का समाधान यह है कि—स्वस्वरूपभूत ज्ञान से धर्मभूत ज्ञान की अन्यता सिद्ध नहीं है, धर्मभूत ज्ञान अन्तःकरण वृत्ति को कहा जा सकता है किन्तु उसमें ज्ञानत्व का उपचार है क्योंकि जड़ अन्तःकरण की परिणामभूतावृत्ति वस्तुतः जड़ है। "एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः" इस सूत्र के विषयभूत श्रुतियों से तथा इस सूत्र से स्वरूपभूतज्ञान तथा धर्मभूतज्ञान की अन्यता सिद्ध नहीं होती और आप सिद्ध भी नहीं किये हैं। अतः निर्दिष्ट श्रुति सूत्रजन्य बोधजन्य संस्कार सहकृत 'घटमहं जानामि' इत्याद्यनुभव से भी सिद्ध नहीं है। इस अनुभव से तो वृत्तिरूप ज्ञान और साक्षीरूप ज्ञान की ही अन्यता सिद्ध हो रही है, वृत्तिरूप ज्ञान तो आपके मत में सिद्ध धर्मभूत ज्ञान से अन्य है। 'घटमहं जानामि' इस अनुभव में अहमर्थ (अहम् पद वाच्यार्थ अन्तःकरणोपहित चैतन्य रूप आत्मा) विशेष्य रूप से ही आत्मा का (स्वस्वरूप का) प्रकाश करता है इत्यादि अनभिज्ञ का वचन नहीं है किन्तु विचारवान् विद्वान् का वचन है, इस बात को विचारपूर्वक समझिये।

इसी प्रकार—'अहमर्थ अपने आपको किसके लिए प्रकाशता है' इत्यादि श्रीकरपात्री जी की उक्ति बाललीला कह कर उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि अपने आपको यदि प्रकाशता है तो उसमें 'नैकस्मिन् कर्मकर्तृता' यह दोष आयेगा और यदि स्वस्मै प्रकाशता है तो अपने प्रकाशन का प्रयोजन उसको क्या है? यह सब बातें आपको बतानी चाहिए थी किन्तु आपने तो सहज स्वभाव से बाललीला कहकर उसकी उपेक्षा की है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"कहा जाता है—प्रकाशक ज्ञान अहमर्थ है और प्रकाश्य ज्ञान धर्मभूत ज्ञान है" इत्यादि भी बाल-क्रीड़ा है। अप्रकाश्यत्व होकर प्रकाशकत्वरूपज्ञान लक्षण असम्भवदोषग्रस्त है सब ही ज्ञान ईश्वरादि ज्ञान प्रकाश्य हैं आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को अनेकशः सिद्ध कर आये हैं। जैसे—ईश्वरता की नियाम्याधीनता अपकर्षावह नहीं है किन्तु उत्कर्षावह ही है वैसे ही ज्ञातृत्व का ज्ञेयाधीन ज्ञानाधीनता अपकर्षावह नहीं है किन्तु उत्कर्षावह ही है।

"क्रियाभूत वृत्तिरूप ज्ञान अवश्य ज्ञाता के अधीन है परन्तु आत्मस्वरूप ज्ञान तो स्वतन्त्र ही है" यह कथन स्वसिद्धान्त के भी अज्ञान को सूचित करता है क्योंकि विवरणकार कहते हैं—"अन्तःकरणपरिणामविशेषश्चैतन्यस्य विषयावच्छेदोपाधिः करणव्युत्पत्त्या ज्ञानम्, भावव्युत्पत्त्या तु संवेदनमेवार्थप्रकाशो ज्ञप्तिज्ञानमुच्यते इति" विवरणकार की इस उक्ति से सिद्ध है कि करण में भी 'ल्युट्' प्रत्यय का विधान होने से सकर्मक सकर्तृक ज्ञाधात्वर्थ करणत्वाभिप्राय से अन्तःकरणवृत्ति में ज्ञान पद का प्रयोग है। सकर्मक सकर्तृक ज्ञाधात्वर्थ बोधक ज्ञान पद तो आपके चैतन्य का ही बोधक है। 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' यह विवरणकार की ही उक्ति है यहाँ वे ज्ञाता के अर्थप्रकाश को ही ज्ञान कहते हैं। पञ्चपादिकाकार भी यही कहते हैं। वार्तिककार ने भी यही कहा है अतः तद्विरुद्ध कहने वाले को स्वसम्प्रदाय का भी ठीक ज्ञान नहीं है यह कैसे न जाना जाय ?.

'एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥'

यह श्लोक विवर्तवादी के मनोरथ पर सर्वथा पानी फेर रहा है। यह श्लोक ज्ञाता के अर्थप्रकाश का प्रतिपादक नहीं है। किन्तु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'

'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥'

इत्यादि प्रमाणप्रतिपन्न स्वतः सर्वज्ञ तथा "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' मत्स्थानानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः" इत्यादि

प्रमाणसिद्ध स्वमहिम-प्रतिष्ठ अनन्याधार विश्वाधार श्रीमद्भागवत के परम प्रतिपाद्य आश्रय का प्रतिपादक है। यहाँ ज्ञाता के अर्थप्रकाश की अनन्याधीनत की चर्चा ही क्या है।" (अ वि. ११३ पृ.–११५. पृ)

उपर्युक्त सन्दर्भ का समाधान यह है कि—अप्रकाश्य होकर भी स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वभाव आत्मा जगत का प्रकाशक है, यह श्रुतिसिद्ध है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति 'अत्रैष आत्मा स्वयं ज्योतिः' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

अतः 'कहा जाता है इत्यादि अप्रकाश्यत्व होकर प्रकाशकत्व रूप ज्ञान लक्षण असम्भव दोषग्रस्त है' इत्यन्त श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की उक्ति असंगत है। 'सब ही ज्ञान ईश्वरादिज्ञान प्रकाश्य हैं' यह कथन भी असंगत है क्योंकि आत्मस्वरूप भूत ज्ञान ईश्वर स्वरूपभूत ज्ञान सब ही ज्ञान स्वयं प्रकाश हैं आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को पूर्व में अनेकशः हम खण्डन कर आये हैं। आत्मस्वरूपभूत ज्ञान ज्ञेयाधीन नहीं है क्योंकि वह सुषुप्ति, मरण, मूर्छा, प्रलय आदि काल में अनभिव्यक्तावस्था में रहता है और मुक्तावस्था में अभिव्यक्त स्वस्वरूप से रहता है। इन सभी अवस्थाओं से ज्ञेय नहीं रहता और ज्ञानस्वरूप आत्मा रहता है। अतः ज्ञान की ज्ञेयाधीनता उत्कर्षावह हो अथवा अपकर्षावह हो उपपन्न नहीं होती।

'क्रियाभूत-वृत्तिरूप-ज्ञान अवश्य ज्ञाता के अधीन है, परन्तु आत्मस्वरूप-ज्ञान तो स्वतन्त्र ही है' यह श्रीकरपात्री जी का कथन स्वसिद्धान्त के परम अभिज्ञान का सूचक है। विवरणकार ने जो अन्तःकरण-परिणाम विशेष रूप वृत्ति को करणव्युत्पत्त्या ज्ञान कहा है और भावव्युत्पत्त्या अर्थप्रकाश को ज्ञान कहा है तथा 'ज्ञाधातुरर्थ प्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' यह भी जो विवरणकार ने कहा है और इन विवरणकार के वचनों के संवादी जो पञ्चपादिकाकार के तथा वार्तिककार के वचन हैं वह कभी भी आत्मस्वरूप-भूत ज्ञान की ज्ञेयाधीनता या ज्ञात्रधीनता नहीं सिद्ध करते, क्योंकि करणव्युत्पत्त्या वृत्ति रूप ज्ञान ज्ञाता के अधीन है यह तो श्रीकरपात्री स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। अब रह गई भावव्युत्पत्त्या संवेदन रूप अर्थप्रकाश की ज्ञेयाधीनता यह भी इन विवरण-वाक्यों से नहीं सिद्ध होती क्योंकि अर्थ के बिना भी अर्थप्रकाश हुआ करता है इसके असंख्य उदाहरण हैं

जैसे--स्वप्न, गन्धर्वनगर, मरुमरीचिका जल आदि असंख्य विभ्रम अर्थ के बिना ही हुआ करते हैं अतः अर्थप्रकाश की अर्थाधीनता इन विवरणकार के वचनों में न लिखी गयी है न उपपन्न होती है।

"एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥"

यह श्लोक विवर्तवादी के मनोरथ पर सर्वथा पानी नहीं फेर रहा है। यह श्लोक ज्ञाता के अर्थप्रकाशरूप जो स्वरूपभूत ज्ञान है उसी का प्रतिपादक है क्योंकि श्रीमद्भागवत के परमप्रतिपाद्य परब्रह्म रूप आश्रय का जीव के साथ अभेद का प्रतिपादन 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियां करती हैं। ज्ञाता का अर्थप्रकाश चैतन्यरूप ज्ञान ही है ज्ञाता अन्तःकरणोपहित-चैतन्य रूप आत्मा है यह हम पहले बता चुके हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि--" 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' एतद्वाक्यघटक ज्ञानपद ब्रह्म की सर्वज्ञता का प्रतिपादक है यह पीछे सिद्ध कर आये हैं। 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति ज्ञानियों को प्रमात्मिका है और मूढों को भ्रमात्मिका है यह भी पीछे कह चुके हैं। भ्रमात्मिका का 'ममेदं शरीरम्' इत्याद्यनुभव से आपवर्गिक साधन विधानान्यथानुपपत्ति से 'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' 'विज्ञानघन एव' इत्यादि निगम से वाध है। यह अनेक बार कह आये हैं कि ज्ञानादिपद शक्त्या धर्मभूत ज्ञान के ही वाचक हैं किन्तु स्वयंप्रकाशत्व गुणयोग ज्ञानगुणसारत्व, एवं यावदात्मभाविज्ञानगुणयोग से निरूढलक्षणया यत्र कुत्र आत्मा में प्रयुक्त होते हैं। विशिष्टाद्वैती प्रधानतया आत्मा को स्वयंप्रकाश 'विज्ञानघन एव' इत्यादि श्रुतिबल से ही मानते हैं। 'अहमनुभवामि' यह प्रतीति अन्तःकरणतादात्म्याध्यास से होती है इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है इतना ही नहीं किन्तु "एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावदविरोधं बादरायणः" इस सूत्र के विषयभूत श्रुतियों एवं इस सूत्र से भी उपयुक्त कथन वाधित है। 'सर्वं हं पश्यः पश्यति' इत्यादि सर्वविषयकद्रष्टृत्वविधायक श्रुति को "लोकसिद्ध ज्ञातृता का उपनिषद् अनुवाद करती है" यह कहना साहसिकतामात्र है। आत्मा के सङ्कल्प-

मात्र से सकल जगत्स्रष्टृत्व, सर्वज्ञत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वशक्तित्वादि को भी यदि साहसिकलोग व्यावहारिक कहें तो क्या चित्र है। क्या वे सब धर्मजात अनन्य-लभ्यवेदार्थ नहीं हैं। श्रुतिसिद्ध अग्नि के औष्ण्य के समान विज्ञाता के विज्ञातृत्व को अध्यस्त कहना केवल साहसिकता है। विज्ञानघन आत्मा के सर्वज्ञत्व की मीमांसा-न्यायनिर्धारितार्थ श्रुतियों से सिद्धि होने से गगनारविन्द-सौन्दर्य-सौरभ-परीक्षणतुल्य अध्यासपरीक्षण उपेक्षणीय है।" (अ. वि. ११५-११६ पृष्ठ)

उपर्युक्त सन्दर्भ का समाधान यह है कि--'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' एतद् वाक्य घटक ज्ञान पद ब्रह्म की सर्वज्ञता का प्रतिपादक नहीं है, यह हम पीछे सिद्ध कर आये हैं। 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति ज्ञानियों की प्रमात्मिका नहीं है किन्तु मूढ़ों की भ्रमात्मिका है क्योंकि--मनुष्य पद देह में अत्यन्त प्रसिद्ध तथा अबाधित है। भ्रमात्मिका के बाध के लिये 'ममेदं शरीरम्' यह अनुभव ही पर्याप्त है, 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि निगम से जैसा कि श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी कह रहे हैं बाध नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष विभ्रम का शब्द-जनित परोक्षज्ञान से बाध नहीं होता, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होता है। जैसे--'वितस्थि परि-मितश्चन्द्रः' इस प्रत्यक्ष विभ्रम की ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन से जन्य महत्तमत्व ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती किन्तु आधुनिक यन्त्र के द्वारा महत्तमत्व का जो प्रत्यक्ष होता है उसी से उसके वितस्थि परिमितत्व ज्ञान का बाध होता है। यह अनेकबार कह आये हैं कि ज्ञानादि पदशक्त्या धर्मभूतज्ञान का वाचक नहीं है किन्तु साभास-वृत्ति का वाचक है, क्योंकि उसी में उसका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। और यह भी पीछे कह आये हैं कि स्वयंप्रकाशत्व गुणयोग ज्ञानगुण-सारत्व एवं यावदात्मभाव ज्ञानगुणयोग से यत्र तत्र कुल श्रुतियों में निरूढलक्षणया आत्मा में प्रयोग करना ठीक नहीं है क्योंकि लक्षणा जघन्य-वृत्ति है। श्रुतियों में ज्ञान, विज्ञान शब्द का प्रयोग चैतन्य में ही हुआ है यह हम सिद्ध कर आये हैं।

'अहमनुभवामि' यह प्रतीति अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ही होती है इस कथन में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तथा 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा' यह दोनों श्रुति प्रमाण हैं। इनमें पहली श्रुति से आत्मा की ज्ञानरूपता सिद्ध होती है और दूसरी श्रुति से अन्तःकरण वृत्ति की धीरूपता तथा तादृश ज्ञानवत्ता सिद्ध होती

है। इस प्रकार साभास अन्तःकरण वृत्ति, 'अहं अनुभवामि' इस अनुभव में अनुभवपदार्थ है तथा तदाश्रय अन्तःकरण उसका कर्ता (अनुभविता) है, उसका स्वोपहित चैतन्य के साथ तादात्म्याध्यास होने से 'अहमनुभवामि' यह प्रतीति उत्पन्न होती है।

वस्तुतः प्रत्यक्षात्मक अनुभवरूप तो आत्मा ही है। 'यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। 'एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः' इस सूत्र के विषयभूत श्रुतियों एवं इस सूत्र से भी श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कथन सिद्ध नहीं होता यह हम पहले बता चुके हैं। 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' इत्यादि श्रुति सर्वविषय-द्रष्टृत्व का विधायक नहीं हैं, किन्तु लोकसिद्ध ज्ञातृता का अनुवाद करती है श्रुतियों में अनुवाद हजारों जगह पाया जाता है। श्रुतियों को श्रुत्यन्तर विरोध की दशा में लोकसिद्धार्थानुवादिका कहना साहसिकता नहीं है। अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादि श्रुतियाँ लोकसिद्धार्थानुवादिका ही हैं। जब कि—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा की ज्ञानरूपता को बता रही हैं तब 'सर्वं ह पश्यः' इत्यादि श्रुतियाँ लोकसिद्धार्थानुवादिका ही कही जा सकती हैं। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस श्रुति में 'भान्तम्' इस पद से आत्मा की भासरूपता ही सिद्ध होती है, वहाँ 'पश्यन्तम्' यह पद नहीं है कि उससे आत्मा की ज्ञानाश्रयता सिद्ध हो। जब कि आत्मा को शतशः श्रुतियाँ निर्धर्मक होने से वाङ्मनसागोचर बता रही हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा के सङ्कल्प मात्र से सकल-जगत्-स्रष्टृत्व, सर्वज्ञत्व सत्य-सङ्कल्पत्व, सर्वशक्तित्वादि को व्यावहारिक कहना समुचित है चित्र तथा सहसोक्ति नहीं है। परमेश्वर के जगत्स्रष्टृत्वादि सर्वधर्म लोकसिद्ध नहीं हैं इस लिए अप्राप्त होने के कारण श्रुति उसका विधान करती है अतः यह सब धर्म अनन्यलभ्य-वेदार्थ हैं। यह लोक-व्यवहार-सिद्ध नहीं है, किन्तु वैदिक व्यवहार सिद्ध हैं। आत्मा का विज्ञातृत्व श्रुतिसिद्ध नहीं है और अग्नि के औष्ण्य के समान भी नहीं है क्योंकि आत्मा की विज्ञातृता कादाचित्क है और अग्नि का औष्ण्य यावदाश्रयभावी है। विज्ञानघन आत्मा के सर्वज्ञत्व की मीमांसा न्यायनिर्धारितार्थ-श्रुतियों से सिद्धि न होने से अभ्यास-परीक्षण उपेक्षणीय नहीं है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जो लिखते हैं कि—"कुछ लोग कहते हैं कि—"विषय-प्रकाशक-संविद् को ही आत्मा मानने पर उसमें अध्यास नहीं बन सकेगा क्योंकि अद्वैती संवित् के स्वयंप्रकाशत्व का समर्थन करते हैं और वही संविद् आधिष्ठानरूप से मान्य है। फिर तो जैसे भ्रम विरोधि शुक्तित्व आदि के भासमान होने पर रजतादि का भ्रम नहीं होता वैसे ही अधिष्ठानरूप संवित् के भासमान रहने पर फिर उसमें ज्ञातृत्व आदि का अध्यास कैसे बन सकेगा।" परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञाता के अध्यास के पहले संवित् में विषयप्रकाशत्व ही नहीं होता। विवर्तवादी का यह कैसा अनोखा उत्तर है 'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे' तथाहि भ्रम के लिए अध्यसनीय साधारणधर्म-पुरस्कारेण अधिष्ठान का प्रकाश और भ्रम विरोधि असाधारणधर्म का अप्रकाश उपयोगी होता है। विवर्तवादी के यहाँ निर्विशेष स्वप्रकाश संविद् ही अधिष्ठान है स्वरूपातिरिक्त भ्रमविरोधि कोई असाधारण-धर्म है नहीं। अतः स्वरूपप्रकाश को ही भ्रमविरोधी कहना होगा। एवं सति संविद् स्वरूप के स्वप्रकाश होने से उसमें किसी का भी भ्रम कैसे उत्पन्न होगा? उस आक्षेप के समाधानरूप में 'ज्ञाता के अध्यास के पहले संविद् में विषय प्रकाशत्व ही नहीं होता' यह कथन भी सर्वथा असङ्गत है। अग्रिम आक्षेप का तात्पर्य यह है कि निर्विषया, निराश्रया, अनुभवापरनामा संविद् किसी भी प्रमाण से सिद्ध न होने से प्रमाणा-विषयत्वरूप तुच्छत्वाक्रान्त बन्ध्यासुता की सहोदरी है इसका कुछ भी उत्तर नहीं हो सका है।

"यद्यप्युक्तं स्थूलोऽहमित्यादिदेहात्माभिमानवत एव ज्ञातृत्वप्रतिभासनात् ज्ञातृत्वमपि मिथ्येति" यहाँ पूर्वपक्षी का अभिमत यह अनुमान प्रयोग है—'ज्ञातृत्वं मिथ्या देहात्माभिमानवदितरस्याप्रतिभासमानत्वे सति देहात्माभिमानवतः प्रतिभा-समानत्वात् घटादिवत्।" सिद्धान्ती का यहाँ यह अभिप्राय है कि 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि प्रतीति दो प्रकार की होती है। एक मूढों की भ्रमात्मिका और दूसरी—

'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥'

इत्यादि श्रुतितत्त्वज्ञविवेकी पुरुषों की अहमर्थ आत्मा में स्थूलशरीरसंयुक्तत्व ज्ञानरूप प्रमात्मिका है। अतः स्थूलोऽहमिति देहात्माभिमानवत एव प्रतिभा-

समानत्वरूप हेतु स्वरूपासिद्ध है। यदि आग्रह हो कि 'स्थूलोऽहम्' यह प्रतीति-भ्रमात्मिका ही है अतः 'स्थूलोऽहम्' इति प्रतीति वाले को ही प्रतिभासमान ज्ञातृत्व मिथ्या ही है तब तो 'स्थूलोऽहमनुभवामि' इस प्रकार से देहात्माभिमान-वाले की प्रतिभासमान आपकी आत्मत्वेनाभिमत अनुभूति भी मिथ्या हो जायगी।"
(अ. वि ११७-११८ पृष्ठ)

इस आक्षेप का समाधान यह है कि—विषय प्रकाशक संवित् को आत्मा मानने पर भी अध्यास बन सकेगा क्योंकि यद्यपि संविद् स्वयंप्रकाश अधिष्ठान-स्वरूप है तथापि अविद्या से आवृत होने के कारण अधिष्ठान साक्षात्कार न होने से उसमें अध्यास की उपपत्ति में कोई बाधक नहीं होगा। 'ज्ञाता के अध्यास के पहले संविद् में विषय-प्रकाशकत्व ही नहीं होता' यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति उचित है क्योंकि संविद् तो अविद्या से आवृत है उसका विषय के साथ सम्बन्ध नहीं है। अतः अन्तःकरणोपहित-चैतन्य-रूप ज्ञाता के संविद् में अध्यास के बिना संविद् में विषय प्रकाशकत्वरूप ज्ञातृत्व उपपन्न नहीं हो सकता, जब संविद् का ज्ञाता के साथ तादात्म्याध्यास होगा तभी ज्ञाता में स्थित विषय-प्रकाशकत्व संविद् में उपपन्न हो सकेगा, जैसे—'अयो दहति' यह अग्नि की दग्धृता अग्नि-तादाम्या-पन्न लोह में प्रतीत होती है। अतः ज्ञाता के अध्यास के पहले संविद् में विषय-प्रकाशकत्व ही नहीं होता। यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति—"आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे' इसके समान नहीं हैं। निर्विषया, निराश्रया अनुभवापरनामा संविद् श्रुतिरूप प्रमाण से सिद्ध होने से तुच्छत्वाक्रान्ता तथा बन्ध्यासुता की सहोदरी नहीं है। संविद् के निर्विषयत्व में "आसङ्गो न हि सज्जते, अशब्दमस्पर्शमरूप-मव्ययम्, अर्थात् आदेशो नेति नेति, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियाँ तथा संविद् रूप ब्रह्म के वाङ्मनसागोचरत्व बोधक श्रुतियाँ प्रमाण हैं। संविद् रूप ब्रह्म का कोई भी आश्रय कहीं भी नहीं बताया गया है और न किसी प्रमाण से सिद्ध है। अतः संविद्-रूप ब्रह्म का निराश्रयत्व भी सिद्ध है। और संविद्-रूप-ब्रह्म के अनुभव रूपता में—"यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" यह श्रुति प्रमाण है। 'स्थूलोऽहम्' यह प्रत्यय मिथ्या है क्योंकि स्थौल्य देह-धर्म है अहमर्थ है, जीव का धर्म नहीं है क्योंकि एक ही जीव का शरीर कदाचित् स्थूल और कदाचित् कृश होता है और जीव वह एक ही रहता हैं। "योऽहं पुरा स्थूल आसम्, स एवाहम्,

व्याधिनाभिभूत: कृश: संजात:" यह प्रतिज्ञा स्थौल्य के देह-धर्मत्व में और जीव के ऐक्य में प्रमाण है। इस मिथ्या प्रत्यय का आश्रय ज्ञाता भी मिथ्या है। 'स्थूलोऽहं अनुभवामि' इस अनुभव में स्थूल देह तादात्म्यापन्न अहमर्थ अन्त:-करणोपहित-चैतन्य रूप पदार्थ जो कि उपाधि के मिथ्या होने से मिथ्या है उसमें साभासान्त:-करण-वृत्ति रूप अनुभव की आश्रयता भास रही है। अत: इस अनुभव से निर्विशेष संविद्रूप अनुभूति में मिथ्यात्व कैसे सिद्ध होगा। यहाँ पर 'अनुभवामि' पद से बोधित अनुभूति तो साभासा प्रत्यक्षरूपा अन्त:करणवृत्ति ही है। इसलिये उसके मिथ्यात्व से अद्वैतवादी की कोई क्षति नहीं है अद्वैतवादी तो अन्त:करण तथा अन्त:करणवृत्ति को मायाकार्य होने से मिथ्या मानता है, यदि अन्त:करणोपहित-चैतन्यरूप ज्ञाता को मिथ्या कहा जाय तो भी अद्वैतवाद में कोई हानि नहीं है क्योंकि उपाधि के मिथ्यात्व से उपहित का मिथ्यात्व उपपन्न हो सकता है जैसे - शिखा के ध्वंस होने पर 'शिखी ध्वस्त:' इत्यादि व्यवहार होता है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"प्रतीति दो तरह की होती है। एक स्वारसिक सर्वसाधारण है, दूसरी शास्त्रबल से या स्वप्रक्रिया-बल से कल्पित है। जैसे कोई व्युत्पन्न 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादि प्रजापति वाक्य बल से 'अपहतपाप्माहं विजरोऽहं विमृत्युरहम्' इत्यादि प्रतीतियों की कल्पना करता है तथा जैसे कोई विवर्तवादी स्वप्रक्रियाबल से 'अनुभूतिरहम्' इत्यादि प्रतीति कल्पना करता है। प्रदर्शित प्रकार की प्रतीतियाँ जाग्रत् अवस्था में तथा स्वप्नावस्था में आहार्य हैं। विवर्तवादियों को भी चरमदेहवियोगपर्यन्त-व्यवहारानुवृत्ति इष्ट है। जाग्रदादि-रूप व्यवहार में – 'मनुष्योऽहं जानामि'—'मनुष्योऽहमनुभवामि' इत्यादिक ही आहार्येतर स्वारसिक प्रतीति सर्वपरीक्षकसम्मत है। आहार्यप्रतीतियाँ समाधिविशेषावस्था की प्रतीतियाँ और मोक्षावस्था की प्रतीतियाँ प्रतीतिबल से वस्तु-व्यवस्थापन में परीक्षकों (प्रामाणिकों) से अनादृत हैं। एवं सति तादृश अभिमानशून्य तो 'अनुभव हूँ' ऐसा ही समझता है" यह कथन नाटक में विदूषक नाम के पात्र का ही आनन्दाधायक हो सकता है, परीक्षक-मण्डली में तो सत्परीक्षकों के परीक्षकपरिषद् में अयोग्यपुरुषप्रवेशकृत प्रबल खेद का हेतु होगा।" (अ. वि. ११८-११९ पृष्ठ)

उपर्युक्त सन्दर्भ का यह समाधान है कि—'एवं सति तादृश अभिमान-शून्य तो अनुभव हूँ ऐसा ही समझता है' यह कथन नाटक में विदूषक नाम के पात्र का आनन्दाधायक नहीं हो सकता है। क्योंकि नाटक में विदूषक नामक पात्र वेदान्तानभिज्ञ है वह तो शृंगार-रस प्रधान साहित्य का मर्मज्ञ है। और सत्परीक्षकों की परीक्षक-परिषद् में अयोग्य पुरुष-प्रवेश-कृत प्रबल खेद का हेतु भी नहीं है क्योंकि सत्परीक्षकों की परिषद् श्रुतिशास्त्र की ज्ञात्री है। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' यह श्रुति ब्रह्म को साक्षात् अपरोक्षानुभवरूप बताती है और 'अहं ब्रह्माऽस्मि' यह श्रुति जीव और ब्रह्म के ऐक्य को बताती है। इन दोनों श्रुतियों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने वाला देहाभिमानशून्य जीवन्मुक्त पुरुष 'मैं अनुभव हूँ' ऐसा ही समझता है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"आत्मतयाऽभिमताया अनुभूतेरपि मिथ्यात्वं स्यात्' इस भाष्य का उक्तानुमानघटक हेतु के व्यभिचाररूप दोष में तात्पर्य है। यदि विवर्तवादी व्यभिचार वारण के लिये 'तत्त्वज्ञानबाधितत्वे सति' इस विशेषण को हेय में लगावें तब उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध है अतः मोक्षावस्था में भी 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञातृत्व की सिद्धि होने से ज्ञातृत्व तत्त्वज्ञान से बाधित नहीं हो सकता। किञ्च तत्वज्ञान बाधितत्व ही मिथ्यात्व साधक है यतः 'स्थूलोऽहमित्यादिदेहात्माभिमानवत एव प्रतिभासनात्' यह विशेष्यदल व्यर्थ है।

कहा जाता है कि—"मुझे देहादि अभिमान नहीं है। फिर भी मैं ज्ञाता हूँ मुझे ऐसी प्रतीति होती है" पर यह कथन ठीक नहीं क्योंकि उक्त प्रतीति अन्तःकरण-तदात्म्याध्यास से ही होती है" यह निर्युक्तिक कथन स्त्रीबालादि निजभक्त-मण्डली में ही ठीक है परीक्षकमण्डली में नहीं। परीक्षकमण्डली में तो तर्कानुगृहीत प्रमाणों से परमतनिराकरणपूर्वक-स्वमत-व्यवस्थापन करना और करके व्यवहार में लेना ही ठीक है।

कहा जाता है—"अनुभव के तुल्य ज्ञातृत्व भी अबाधित है, अतः वह भी मिथ्या नहीं है" पर यह भी कथन ठीक नहीं। यहाँ प्रश्न होगा कि क्या जानामि इस प्रतीति से ज्ञातृत्व-सिद्धि अभीष्ट है, अथवा शास्त्र से? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि सुषुप्ति आदि में जानामि ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अतः

आत्मा का ज्ञातृत्व न सिद्ध हो सकेगा। दूसरा भी पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि शास्त्र निर्धर्मक परमानन्दरूप ही आत्मा का प्रतिपादन करता है।"

'जानामि' इत्यादि प्रतीति से भी आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध है। सुषुप्ति आदि में आत्मा का अनभिव्यक्त ज्ञातृत्व 'पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' इस ब्रह्ममीमांसा सूत्र से सिद्ध है। शास्त्र से भी आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध है। शास्त्र सर्वथा निर्धर्मक आत्मा का प्रतिपादन नहीं करता है, किन्तु 'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि- घत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य-सङ्कल्पः' 'सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः' इत्यादिक अखिल हेय गुणों का निषेध कर सत्यकामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व, अवाप्तसमस्तकामत्वादि कल्याणधर्मों का आकर प्रतिपादन करता है।" (अ. वि. ११६–१२१ पृ.)

उपर्युक्त सन्दर्भ में—"आत्मतया अभिमताया अनुभूतेरपि मिथ्यात्वं स्यात्" यह दूषण देना असङ्गत है क्योंकि विवर्तवादी के मत में आत्मतया अभिमत निर्विशेष अनुभूति है वह देहात्माभिमानवत् को प्रतिभासमान नहीं है क्योंकि वह अनुभूति यदि देहात्माभिमानवत् को प्रतिभासमान होती तब तो आत्म-साक्षात्कार हो जाने से 'ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति के अनुसार वह मुक्त हो जाता। देहात्माभिमानी की मुक्ति आप भी स्वीकार नहीं करते।

'मैं ज्ञाता हूँ' यह प्रतीति अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ही होती है अन्यथा नहीं' यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति निर्युक्तिक नहीं है क्योंकि आत्मा ज्ञाता नहीं है ज्ञान-स्वरूप है। वृत्तिरूप ज्ञान का आश्रय अन्तःकरण (मन) ज्ञाता है, उसके तादात्म्याध्यास के बिना 'मैं ज्ञाता हूँ' यह आत्मा में प्रतीति नहीं हो सकती। 'जानामि' इत्यादि प्रतीति से आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि आत्मा में ज्ञातृत्व तो अन्तःकरण-तादात्म्याध्यास से प्रतीत होता है यह हम अभी बता आये हैं।

सुषुप्ति आदि में भी आत्मा ज्ञाता नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप है "पुंस्त्वादिव-त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्" इस ब्रह्ममीमांसा सूत्र से भी आत्मा का ज्ञातृत्व नहीं सिद्ध होता, इस सूत्र में 'अस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' इस अंश से सुषुप्ति में आत्मा की सत्ता तथा अनभिव्यक्ति और जाग्रत में अभिव्यक्ति और जाग्रत में अभिव्यक्ति योग सिद्ध होता है। इसमें 'ज्ञातृ' पद का कहीं भी श्रवण नहीं है।

"य आत्मा अपहतपाप्मा, सर्वं ह पश्यः पश्यति" इत्यादि शास्त्र भी आत्मा के सधर्मक और निर्धर्मक दोनों रूपों का प्रतिपादन करते हैं, अपहतपाप्मा, विजरः, विमृत्युः, विशोकः, विजिघत्सः, अपिपासः यह निर्धर्मक-स्वरूप का प्रतिपादन करता है और सत्यकामः, सत्यसङ्कल्पः, सर्वं ह पश्यः पश्यति, इत्यादि पद सधर्मक आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। श्रुत्यन्तर आत्मा को वाङ्मनसागोचर बताते हैं। यदि आत्मा सधर्मक हो तो वह वाङ्मनसागोचर कैसे होगा इत्यादि हम पहले कह चुके हैं। आत्मा का सधर्मक-स्वरूप उपासना के लिए है और निर्धर्मक-स्वरूप उसका परमार्थ है।

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥"

यह अद्वैतवाद में श्रुत्यर्थ व्यवस्था है।

आगे चलकर श्रीत्रिण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"कहते हैं कि मुक्ति में भी आत्मा ज्ञाता ही रहता है, परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि मुक्ति में द्वितीय न होने से ज्ञेयाभावात् ज्ञातृत्व अनुपपन्न ही होगा"।

ऐसे प्रमाण विरुद्ध कथनों को स्वप्रभावित स्त्री बालादिक ही ठीक कह सकते हैं—

"'स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः इति। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः"।

इत्यादि वेदान्तवाक्यजात तदर्थनिर्धारक ब्रह्ममीमांसासूत्र-समूहों के वेत्ता पुरुष तो सर्वथा असङ्गत प्रलापमात्र ही कहेंगे।

कुछ लोग कहते हैं—"मुक्ति में द्वितीय रहता ही है" परन्तु उनके मतानुसार एकमेवाद्वितीयम्' 'नान्यत्पश्यति' 'केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतियों का स्वारस्य भंग अनिवार्य है" यह कथन असावधानतामूलक है 'एकमेवाद्वितीयम्' यह श्रुति सृष्टिपूर्वभावि-प्रलयावस्थकारण-सद्ब्रह्म-प्रतिपादिका है। प्रलयावस्था में नाम-रूप-विभाग-शून्य-सूक्ष्म-कृत्स्न-चेतनाचेतन-शरीरक-भगवान् रहते हैं यह 'तद्धेयदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' 'सोऽभिध्याय शरीरात्

सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः' इत्यादि श्रुति-स्मृति-सिद्ध है 'न कर्म विभागादिति चेन्नानादित्वात्' इत्यादि सूत्रों से भी प्रलय में द्वितीय सद्भाव सिद्ध है। 'षडस्माकमनादयः' ऐसा कहने वाले विवर्तवादियों को भी प्रलयावस्था में द्वितीय सद्भाव स्वीकृत है "एकमेवाद्वितीयम्" यह कारण-वाक्य भगवान् के अभिन्न निमित्तोपादानता का प्रतिपादक है। पूर्वापर सन्दर्भ-पर्यालोचन के विना किसी वाक्य-खण्ड का अर्थ करना लड़कपन है। भूमोपासक भूमा को प्राप्त होकर स्वराट् सर्वलोक कामचारी 'मैं मरता हूँ' इत्याद्याकारक अवद्यानुभवरहित सर्वज्ञ सङ्कल्पमात्र से संकल्पित अर्थों को पाने वाले यथेष्ट शरीरों को धारक करने वाला होता है, यह प्रमाणान्तरानवगत फल उपसंहार में कथित है। इन प्रवल तात्पर्य लिङ्गों से सर्वथा द्वितीय रहित भूमा भगवान् हैं ऐसा अर्थ मीमांसक नहीं कह सकता है। अतः 'नान्यत् पश्यति' इस वाक्य-खण्ड को प्रकरण के पर्यालोचन के अनुसार तथा 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते' 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्यों के अनुसार 'नान्यत् पश्यति' इस श्रुति का—प्रमाणसिद्ध सम्पूर्ण पदार्थों को भूमा की सत्ता के अधीन सत्ताक होने से भूमा से व्याप्त भूमात्मक होने से जिसको देखता हुआ तदनात्मक किसी अन्य को नहीं देखता है वह भूमा है, यही वास्तविक अर्थ है! ऐसा अर्थ करने से सम्पूर्ण श्रुतियों के समानभाव से प्रामाण्य सुरक्षित होता है, अन्यथा किसी भी श्रुति के अप्रामाण्य की सिद्धि हो जाने पर तदविशेषात् शिर पर वजड़ने वाले सम्पूर्ण श्रुतियों के अप्रामाण्य को कौन रोकेगा। उक्त प्रमाणव्रातों से मोक्षावस्था में भेद के सुसिद्ध होने से 'केन कं पश्येत्' इस श्रुति का भी जीव को मोक्षावस्था में ज्ञानावरककर्माविद्यादि के सर्वथा निवृत्त हो जाने से सर्वसत्ताहेतुसत्ताक सर्वव्याप्त सर्वात्मक परमात्मा के अप्रतिहत-ज्ञान से सर्वात्मना साक्षात्कार हो जाने से अब्रह्मात्मक ज्ञानकरण ज्ञेय-ज्ञाता कोई न रह जाने से किस अब्रह्मात्मक ज्ञान करण से किस अब्रह्मात्म ज्ञेय को देखे। परमात्मा के परम साम्य को प्राप्त मुक्त भी 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुति के अनुसार इन्द्रियनिरपेक्ष स्वाभाविक दृष्टि से सविभूतिक सर्वात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करता हुआ अब्रह्मात्मक कोई पदार्थ को नहीं देखता है यही 'केन कं पश्येत्' इस श्रुति का वास्तविक अर्थ है"। (अ. वि. १२१–१२४ पृ.)

उपर्युक्त सन्दर्भ का समाधान यह है कि—"कहते हैं मुक्ति में भी आत्मा ज्ञाता ही रहता है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि मुक्ति में द्वितीय न होने से ज्ञेयाभावात् ज्ञातृत्व अनुपपन्न ही होगा"। यह श्रीकरपात्री जी का कथन प्रमाण-विरुद्ध नहीं है। क्योंकि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' यह श्रुति मुक्तावस्था में जीव की ब्रह्मभावापत्ति को बता रही है और ब्रह्म का स्वरूप 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह श्रुति स्वगत-सजातीय-विजातीय-भेद-शून्य बता रही है। "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, न पश्यो मृत्युं पश्यति, सर्वं ह्पश्यः पश्यति, स एकधा भवति त्रिधा भवति" इत्यादि श्रुतियाँ जीवन्मुक्तावस्था का प्रतिपादन करती हैं और बृहदारण्यक श्रुति 'द्वितीयाद् वै भयं भवति, अभयं वै जनक-प्राप्तोऽसि' इस वाक्य से मुक्ति-काल में द्वैत की निवृत्ति बता रही है।

"कुछ लोग कहते हैं मुक्ति में द्वितीय रहता ही है परन्तु उनके मतानुसार 'एकमेवाद्वितीयम्, नान्यत्पश्यति, केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतियों का स्वारस्य-भङ्ग अनिवार्य है"। यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति अत्यन्त सावधानता मूलक है। 'एकमेवाद्वितीयम्' यह श्रुति उपक्रमोपसंहार के देखने से विजिज्ञास्य निर्वि-शेषं तथा द्वितीय रहित ब्रह्मस्वरूप की प्रतिपादिका है। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत-मासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इस श्रुति में 'अव्याकृत' पद मायापरक है। अत एव 'व्याक्रियत' यहाँ पर भगवान् को उसकी व्याक्रिया में कर्ता बताया गया है।

'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः' यह स्मृति भगवान् के शरीर-महत्तत्व से तन्मात्रादि के द्वारा विविध प्रजा की सृष्टि को बताती है। जैसा कि गीता में लिखा है—

"मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

यह गीता-वाक्य भी इसमें प्रमाण है। 'न कर्म विभागादिति चेन्नानादित्वात्' इस सूत्र से प्रलय में माया में अनभि······द्वितीय का सद्भाव भले ही सिद्ध हो किन्तु मुक्तिकाल में द्वितीय सद्भाव नहीं सिद्ध होता अतः मुक्ति में द्वितीय रहता है यह आपकी प्रतिज्ञा इस सूत्र से नहीं सिद्ध होती। 'एकमेवाद्वितीयम्' यह वाक्य भगवान् के अभिन्ननिमित्तोपादानता का प्रतिपादक नहीं है, यह निर्विशेष

ब्रह्म का प्रतिपादक है यह हम पहले बता चुके हैं। भूमोपासक भूमा को प्राप्त होकर तथा स्वराट् सर्वलोक कामचारी सर्वज्ञ संकल्पमात्र से सङ्कल्पित अर्थों को प्राप्त करने वाला जीवन्मुक्त होता है, विदेहमुक्त नहीं होता, ऐसा अर्थ सभी मीमांसक कह सकते हैं। इसमें उपास्य भूमा भगवान् जीवन्मुक्तावस्था में सर्वथा द्वितीय रहित है यह नहीं सिद्ध होता। अतः 'को ह्येवान्यात्' 'यदधीना यस्य सत्ता' 'सर्वं समाप्नोसि' इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्यों के जीवन्मुक्तावस्था परक होने से तथा प्रकरण पर्यालोचन 'नान्यत् पश्यति' इस श्रुति का विदेह कैवल्यावस्था में, किसी अन्य के न रहने के कारण किसी अन्य को नहीं देखता है, वह भूमा है, यही वास्तविक अर्थ है।

आपके उदाहृत प्रमाणव्रातों से मोक्षावस्था में भेद के न सिद्ध होने से 'केन कं पश्येत्' इस श्रुति का दर्शन साधन तथा दृश्य के अभाव होने से किसी साधन से किसी दृश्य को नहीं देखता है, यही अर्थ है। अब्रह्मात्मक ज्ञानकरण से अब्रह्मात्मक ज्ञेय को नहीं देखता है इस प्रकार से श्रुत्यर्थ संकोच करना अच्छा नहीं है। 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' यह श्रुति जीवन्मुक्तावस्था परक है क्योंकि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' यह श्रुति तथा 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य जीव-ब्रह्मैक्य को बताते हैं। 'पश्यत्यचक्षुः, स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुति जीवन्मुक्तावस्था परक हैं। जीवन्मुक्तावस्था में दृश्य तथा दर्शन साधन सभी रहते हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डो स्वामी जी लिखते हैं कि—"कुछ लोग कहते हैं कि—अनुभव भी बाधित ही है" इत्यादि विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त में "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इत्यादि श्रुति-प्रमाण से अनुभव अनुभविता का अग्नि के औष्ण्य के समान स्वाभाविक धर्म है, जागरादि अवस्थाओं में अभिव्यक्त है सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में अनभिव्यक्त है। विवर्तवादियों के सिद्धान्त में भी 'तस्मात् चित् स्वभाव एवात्मा तेन तेन प्रमेयभेदेनोपधीयमानोऽनुभवाभिधानीयकं लभते, अविवक्षितोपाधिरात्मादिशब्दैरभिधीयते' इस पञ्चपादिका के अनुसार चित्स्वभाव आत्मा विषयावच्छिन्न ही अनुभवनामा होता है। विवरणकार और स्पष्ट कहते हैं—'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' सौषुप्तिक निर्विकल्पक अज्ञान साक्षी अनुभवनामा नहीं हो सकता। अतः सुषुप्ति-

काल में अनुभव सद्भाव कथन स्वमत के भी अज्ञान का सूचक है। विवर्तवादियों में दृष्टिसृष्टिवादी ही जड़ पदार्थ की अनुभवाधीन स्थिति मानते हैं, सृष्टिदृष्टिवादी नहीं। यदि दृष्टवाद अ ममत है तब व्यावहारिक सत्तोपवाद संरम्भ सर्वथा सर्वथा अनवधानमूलक है क्योंकि दृष्टिसृष्टिवादी प्रातिभासिक और व्यावहारिक दो सत्ता नहीं मानते हैं, अद्वैतसिद्धि प्रभृति ग्रन्थों का आलोडन कर लीजिये।

अनुभव श्रुतिसम्मत वस्तुस्थिति यह है जड़ बस्तु की सिद्धि अनुभवाधीन अनुभविता को ही है, अनुभव की सिद्धि स्वतः अनुभविता को ही है। अनुभविता ही स्वस्मै स्वतः सिद्ध है। अनुभव आत्मा नहीं है किन्तु अनुभविता ही आत्मा इसको क्रियासमभिहारेण सिद्ध कर आये हैं।

फिर भी कहा जाता है कि — 'यदि ज्ञातृत्व आत्मधर्म नहीं है तब तो— केवल अहंकार के दृश्य होने पर भी साभास अहंकार में द्रष्टृत्व बन ही सकता है।"

यह सब कथन स्वप्रक्रियाभिनिवेशमूल का ज्ञानकृत है। क्योंकि आत्मा द्रष्टा है द्रष्टा की दृष्टि अग्नि के औष्ण्य के समान स्वाभाविकापरपर्यायस्वरूपानुबन्धी धर्म है यह 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' श्रुत्यादि सिद्ध है। "लोक में मनुष्यादि चेतन, पाषाणादि अचेतन कहे जाते हैं—उसी तरह आत्माभी (भि) मानवान् विद्वान् भी अहङ्कार के नाश से आत्मनाश समझने लगता है।"

ये सब प्रमाणरहित प्रमाणविरुद्ध स्वप्रक्रिया रटनमात्र हैं। प्रमाणों के प्रामाण्य का स्वतस्त्व और अप्रामाण्य का परतस्त्व भाट्टप्रामाकर विवर्तवादी विशिष्टाद्वैती प्रभृति सर्वमीमांसक सम्मत है। अतः कथंचित् भी उपपन्न हो सकने पर प्रतीतियों का प्रमात्व ही सम्मान्य है। किसी प्रकार से प्रमात्व के उपपन्न न होने पर दोषगवेषणया अप्रमात्व भी स्वीकार्य है। पूर्व कह आये हैं। कि— 'अहं मनुष्यः' इत्याद्याकारक-प्रतीतियाँ दो प्रकार की हैं मूढों की देहात्मभ्रमरूपा और ज्ञानियों की देहसंयुक्त अहमर्थात्मविषयिका प्रमारूपा। अत एव सर्वथा भ्रमशून्या भगवती श्रुति 'ब्राह्मणमुपनयीत' 'ब्रह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यादि वाक्य-रूपा देहविशेषविशिष्ट चेतनों के उपयन आधानादि कर्मों का विधान करती है।

"विशिष्टवाचिपदानां सति विशेषणवाचिपृथक्पदे विशेष्यमात्रपरत्वम्" इत्यादि व्युत्पत्तिवल से ब्राह्मणशरीर छूट गया, ब्राह्मण स्वर्ग चला गया, ब्राह्मण मुक्त हो गया इत्यादिक व्यपदेश होते हैं। इस प्रकार विद्वानों के व्यवहार हेतु ज्ञानों के प्रमात्व की उपपत्ति होने पर भी उनको प्रक्रिया-जाल रचकर भ्रम कहना अत्यन्त भ्रममूलक है मीमांसकता को धूलि में मिलाना है।

"अहमर्थ आत्मा ही है—इसी दृष्टि में स्वत: जड़ होने पर भी उसमें चेतनता भासित होती है।"

नानार्थक हरि आदि शब्द लोक प्रसिद्ध हैं। 'अहम्' पद का वाच्य 'आत्मा' भी है अहम् पद का वाच्य 'प्रकृतिपरिणामविशेषबहुलम्' अहङ्कार पद से निर्दिश्यमान भी है। आत्माभिप्रायेण प्रयुक्त अहम् पद का वाच्य प्रकृतिपरिणाम विशेष अहङ्कार नहीं है इस कथन में क्या वदतो व्याघात है "अहम् गतवर्षेषु श्रीबदरिकानाथमद्राक्षम्" इत्यादि सर्वलोक प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञा से अहमर्थ आत्मा का स्थैर्य सिद्ध है उसे प्रतिसुषुप्ति विनाश मानने के बराबर जड़ता क्या होगी। मोक्षावस्था में भी अहमर्थ का स्फुरण "अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नाद:" "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञा यशा विशाम्।" इत्यादि अनेक श्रुतिसिद्ध है।

फिर भी यह प्रश्न किया जाता है—इसीलिये अहङ्कार में ज्ञातृत्व व्यवहार होता है। परन्तु आत्मा में केवल ज्ञानरूपता ही रहती है।"

ये सब निरूपण गगननलिनी निरूपण के उपमानभूत हैं यत: अहमर्थ विज्ञानघन आत्मा के सर्वज्ञत्व अपहतपाप्मत्वादि सत्यसङ्कल्पत्वान्त स्वाभाविक गुणवत्ता को पूर्व ग्रन्थ में सुसिद्ध कर आये हैं। (अ. वि. १२४–१२७ पृष्ठ)

उपर्युक्त सन्दर्भ का समाधान यह है कि—विवर्तवादियों के सिद्धान्त में सौषुप्तिक निर्विकल्प स्वरूपभूत सुख तथा अज्ञान का साक्षी अनुभव है इसमें 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' यह सुप्तोत्थित की स्मृति प्रमाण है। 'तस्मात् चित्स्वभाव एव आत्मा' इत्यादि पञ्चपादिकावाक्य तथा 'ज्ञातुरर्थ-प्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' इत्यादि विवरणवाक्य जाग्रत काल में ज्ञान को अर्थप्रकाश-

रूप बताते हैं और सौषुप्तिक निर्विकल्पक अज्ञानसाक्षी अनुभवनामा नहीं है यह नहीं बताते।

श्रीकरपात्री जी ने सृष्टिदृष्टिवाद में यदि व्यावहारिकसत्ता का उपपादन किया तो क्या अपराध है सृष्टि-दृष्टिवाद भी अद्वैतियों का एक मत है जब आप दृष्टिसृष्टिवाद का अवलम्बन करने लगेंगे तब वह प्रातिभासिक-सत्ता का ही उपपादन करेंगे। श्रीकरपात्री जी ने यह नहीं कहा है कि दृष्टिसृष्टिवाद में भी व्यावहारिक सत्ता होती है और प्रातिभासिक-सत्ता नहीं होती। किञ्च प्रातिभासिक तथा अलीक की भी शाब्दव्यवहार में मानसिक-सत्ता 'एष बन्ध्यासुतो-याति' इत्यादि तथा भागवत में पुरञ्जनोपाख्यान में प्रसिद्ध है। अलीक तथा प्रातिभासिक की मानसिक-सत्ता भी न हो तो वन्ध्यासुतादि शब्दों की अर्थवत्वा-भाव से प्रातिपदिक संज्ञा न हो, इस लिए वैयाकरण लोग शाब्दव्यवहार में अलीक तथा प्रातिभासिक पदार्थों का बौद्धसत्ता तथा व्यावहारिकसत्ता स्वीकार करते हैं।

अनुभव तथा श्रुति-सम्मत-सिद्धान्त यह है कि—जड़ वस्तु की सिद्धि अनुभवा-धीन है और वृत्तिरूप अनुभव की सिद्धि प्रमाणाधीन है तथा आत्मरूप-अनुभव स्वयंप्रकाश होने से स्वतः सिद्ध है, अत एव उसमें संशय विपर्यय तथा विपरीत-प्रमा नहीं होती। इस बात को क्रियासमभिव्याहारेण कह आये हैं। केवल अहंकार के दृश्य होने पर भी साभास अहंकार में द्रष्टृत्व बन ही सकता है यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति अभिनिवेशमूलक नहीं है किन्तु उपपत्तिमूलक है क्योंकि आत्मा यदि द्रष्टा है तो उसका आभास भी द्रष्टा हो सकता है जैसे—सूर्य प्रकाशक है तो गृहान्तःस्थित दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब भी प्रकाशक होता है और हम पहले बता चुके हैं कि आत्मा द्रष्टा नहीं है किन्तु दर्शन-स्वरूप है। द्रष्टा तो अन्तः-करण है उसके तादात्म्याध्यास से आत्मा में द्रष्टृत्व व्यवहार होता है और द्रष्टा अन्तःकरण की वृत्तिरूप-दृष्टि अग्नि के औष्ण्य के समान नहीं है क्योंकि अग्नि का औष्ण्य यावदाश्रय भावी है और द्रष्टा की दृष्टि यावदाश्रय-भाविनी नहीं है किन्तु कादाचित्क है। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपः' इत्यादि श्रुति का अर्थ—'द्रष्टुः स्वरूपभूताया दृष्टेः' हम स्पष्टरूप से पहले बता आये हैं। "लोक में मनुष्यादि

चेतन पाषाणादि अचेतन कहे जाते हैं उसी तरह आत्माभिमानवान् विद्वान् भी अहङ्कार के नाश से आत्मनाश समझने लगता है" ।

यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति प्रमाणसहित प्रमाणाविरुद्ध है । स्वप्रक्रिया रटन मात्र नहीं है । क्योंकि अहमाकार-वृत्तिविशिष्ट-अन्तःकरण ही अहङ्कार कहलाता है वह आत्मा नहीं है, उसमें आत्माभिमान जिस विद्वान् को होता है वह अहङ्कार के नाश से आत्मनाश समझता है । इस उक्ति में आपने प्रमाण-विरुद्धता का उपपादन नहीं किया है । पूर्व में कह आये हैं कि 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति ज्ञानी तथा मूढ़ दोनों के लिये भ्रमात्मिका है क्योंकि 'अहं मनुष्यः' यहाँ पर मनुष्यदेह-संयोग का मान नहीं होता संयोगसम्बन्ध का बोधक यहाँ पर मनुवादि प्रत्यय नहीं है यह प्रत्यय तो समानाधिकरण प्रत्यय है जिसमें अहमर्थ तथा मनुष्य का तादात्म्य सभी को भासता है । 'ब्राह्मणमुपनीयत' 'ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यादि वाक्य में देह तादात्म्यापन्न चेतन ही कर्ता या कर्म है । यहाँ देह विशेषविशिष्ट चेतन को ब्राह्मण पदार्थ कहना उचित नहीं है क्योंकि ब्राह्मण पदार्थ देह है उसके वैशिष्ट्य का बोधक यहाँ पर कोई पद नहीं हैं । अहं पद का वाच्य निर्विशेष आत्मा नहीं है क्योंकि वह वाङ्मनसातीत है, उसमें शक्तिग्रह नहीं हो सकता है । अहमाकार-वृत्त्युपहित-चैतन्य अहम् पद का वाच्य हो सकता है वह वाङ्मनस का गोचर है और उसमें शक्तिग्रह हो सकता है । निर्विशेष आत्मा तो अहम् पद का लक्ष्य, है अत एव 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस श्रुति में 'ब्रह्म' पदार्थ और 'अहम्' पदार्थ की उपपत्ति के लिए अद्वैतवाद में 'अहम्' पद की निर्विशेष आत्मा में लक्षणा स्वीकार की जाती है । अहं पद का वाच्यार्थ अहमाकार वृत्त्युपहित-चैतन्य है तभी 'अहं गतवर्षेषु श्रीबदरिकानाथ-मद्राक्षम्' इत्यादि सर्वलोक प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञा से अहमर्थ (अहम् पद वाच्य) अहमाकार वृत्त्युपहितचैतन्य का स्थैर्य सिद्ध हो जायेगा । उसका अहमाकारवृत्ति के नाश होने पर भी प्रति सुषुप्ति उसका विनाश नहीं मानना पड़ेगा । 'अहमन्नम्, अहमन्नादः, यशोऽहम् भवामि ब्राह्मणानाम्' इत्यादि श्रुति जीवन्मुक्तावस्था परक है । उस अवस्था में अहमाकार वृत्त्युपहित चैतन्य-रूप अहमर्थ रहता है ।

"फिर भी यह प्रश्न किया जाता है इसीलिए अहङ्कार में ज्ञातृत्व व्यवहार होता है, परन्तु आत्मा में केवल ज्ञानरूपता ही रहती है ।" यह श्रीकरपात्री

जी की उक्ति गगननलिनी निरूपण के उपमान-भूत नहीं है, यतः अहमर्थ विज्ञान-घन आत्मा के सर्वज्ञत्व, अपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वान्त स्वाभाविक गुणवत्ता का पूर्व ग्रन्थ में हम खण्डन कर आये हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि -"जो कहते हैं—"आत्मा हो विशिष्ट चैतन्य ही ज्ञाता है आत्मा नहीं, वह तो दृशि-स्वरूप ही है।"

इसका भी उत्तर पूर्वग्रन्थ स्वभ्यस्त है।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ॥'

यह मन्त्र आनन्दवल्ली के चतुर्थानुवाक का प्रथम वाक्य है इस वाक्य की मनोमयपर्यायात्मक तृतीयानुवाकात्म पूर्व वाक्य के साथ एक वाक्यता का प्रतिपादक 'तदप्येष श्लोका भवति' यह तृतीयानुवाक का अन्तिम वाक्य है। यहां पूज्यतम विवर्तवादी भाष्यकार का 'तदप्येष श्लोको भवति मनोमयात्मप्रकाशकः पूर्ववत्' यह भाष्य है। आनन्दवल्ली के उपान्त्य में भी 'कदाचन' इसके स्थान पर 'कुतश्चन' ऐसा पाठ वाला यही मन्त्र आम्नात है। अतः इस मन्त्र का वही वास्तविक अर्थ है जिससे मनोमयात्मा आनन्दमयब्रह्म दोनों स्तुत होवें। वह अर्थ यही हो सकता है—'वाणी और मन जिस ब्रह्मानन्द के इयत्तारूप पार जाने को प्रवृत्ति होकर उस इयत्तालक्षणपार को न पाकर निवृत्त होते हैं उस ब्रह्म के आनन्द को 'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया' 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' 'मनसा तु विशुद्धेन' इत्याद्युक्त रीति से शुद्ध मन से जानकर अर्थात् यज्ञदानादि शमदमादि साधनों से निर्मलभूत मन से आनन्दवल्ल्युक्त आनन्दगुणक ब्रह्म की उपासना करके सम्पूर्ण भयों से सर्वकाल में निवृत्ति को पाता है।' इस अर्थ से मन भी स्तुत हुआ और आनन्दवल्ली-प्रतिपाद्य आनन्दमयब्रह्म को भी स्तुति हुई।

इस श्रुति का सर्वथा वाङ्मनसातीतत्वरूप अर्थ मनःस्तुति के विपरीत होने से तथा उत्तरार्ध-विरुद्ध होने से हेय है। 'नेति नेति' यह श्रुति ब्रह्मगुणों का निषेध नहीं करती है, किन्तु ब्रह्म के प्रकृत इयत्ता मात्र का निषेध करती है इस विवर्तवादियों के मुखभञ्जक अर्थ को स्वयं ब्रह्ममीमांसाकार "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः" इस सूत्र से करते हैं।

हे भगवन् ! आपके स्वरूप-गुण विभूतियों के अन्त को स्वपति ब्रह्मादि कभी नहीं पाये अनन्त होने से आप भी नहीं पाये। जब अनन्त होने से मेरा अन्त कोई भी नहीं पाता, तब श्रुतियों से भी अनन्त का याथार्थ्येन ज्ञान कैसे हो सकता है। मत हो ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा कथन 'औपनिषदं पुरुषम्' 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादि प्रमाण विरुद्ध होगा — स शङ्का का उत्तर श्रुतियाँ कहती हैं —"श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः, वचसां वाच्यमुत्तमम्" इत्याद्युक्तानुसारेण आप में ही पर्यवसित होने वाली श्रुतियाँ भवच्छरीरभूत चेतनाचेतन वैलक्षण्येन आपका प्रतिपादन करती हुई आप में फलती हैं याथार्थ्येन आपका ज्ञान कराती हैं। कृत्स्न चेतनाचेतन वैलक्षण्येन आपका ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, इयत्ता का ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है। अतः कृत्स्न चेतनाचेतन वैलक्षण्येन आपका ज्ञान कराती हुई यथार्थ ज्ञान कराती ही हैं यही सर्वप्रमाण सम्मत 'श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः' इस वेदस्तुति वाक्य का वास्तविक अर्थ है। भगवान् अनन्त का देशतः कालतः वस्तुतः परिच्छेदराहित्य श्रुति-स्मृति-सूत्रों से सुसिद्ध है यह विशिष्टाद्वैतियों का सिद्धान्त है।

यह अनेक बार कह चुके हैं कि प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य है दोषवशात् ज्ञानों का भ्रमात्व है कोई प्रमाण यह नहीं बताता कि हमारा प्रामाण्य व्यवहारिक है वास्तविक नहीं है। श्रुतियों का व्यावहारिक प्रामाण्य कहना—

'तुल्यार्थत्वेऽपि चैतेषां मिथ्या संवृतिशब्दयोः।
वञ्चनार्थं उपन्यासो ललावक्त्रासवादिवत् ॥'
नास्तिक्यपरिहारार्थं संवृतिः कल्पनेति च।
कल्पनापि त्वभिन्नस्य नैव निर्वस्तुके भवेत् ॥

(न्यायरत्नकारः) तेन मिथ्यावचनोऽप्ययं संवृतिशब्दो बौद्धैः स्वनास्तिक्य-परिहाराय लोकं वञ्चयितुं प्रयुक्तो लालायामिव वस्त्रासवशब्द इत्याह—तुल्यार्थत्वेऽपीति संवृतिरन्तेन। काल्पनिकेनैव बाह्येन सर्वव्यवहारसिद्धिरित्यपि बौद्धानां कल्पना वाचो युक्तिः संवृति वाचो युक्तिवद् वञ्चनार्थैव। नहि निर्वस्तुके जगति अभिन्नस्य चिन्मात्रस्य विचित्रव्यवहाराय भेदकल्पना सम्भवतीत्याह—कल्पनेति ॥

'मिथ्या' शब्द और 'संवृति' शब्द इन दोनों शब्दों की समानार्थकता होने

पर भी बौद्धों ने लोकवञ्चनार्थं अपने नास्तिक्य को छिपाने के लिए संवृत्ति शब्द का लार में वक्त्रासव शब्द के समान प्रयोग किया है। काल्पनिक बाह्य से ही सर्वव्यवहार की सिद्धि है यह भी कल्पना शब्द का कथन संवृति-शब्द कथन के समान लोकवञ्चनार्थं ही है। 'निर्वस्तुक जगत् में सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य चिन्मात्र का विचित्र व्यवहार के लिए भेदकल्पना नहीं हो सकती हैं'। इस भट्टपाद की उक्ति के अनुसार लोकवञ्चानार्थं वेदप्रामाण्यानभ्युपगन्तृत्वरूप नास्तिक्य का छिपाना ही है। निषेधमुखेन प्रतिपादन करने पर भी स्वेतर समस्त चेतना-चेतन विलक्षण समस्त कल्याणगुणगणाकर ही भगवान् वासुदेव सिद्ध होते हैं।" (अ. वि. १२७–१३१ पृ.)

इस सन्दर्भ का समाधान यह है कि—'यतो वाचो निवर्तन्ते, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' मनोमयात्मप्रकाशक। पूर्ववत्, दृश्यते त्वग्रया बुद्धया, मनसैवेदमाप्तव्यम्, मनसा तु विशुद्धेन' इत्यादि परस्पर विरोधिनी श्रुतियों की यह व्यवस्था है कि निर्विशेष आत्मा सर्वथा वाङ्मनसातीत है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' यह श्रुत्यंश जीवन्मुक्तावस्था का प्रतिपादक है जिस अवस्था में उपहित-ब्रह्म स्वरूपानन्द वेदन कर्म हो सकता है। 'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया, मनसैवेदमाप्तव्यम्, मनसा तु विशुद्धेन' यह श्रुतियां उपहित-ब्रह्म के वृत्तिरूप साक्षात्कार के साधन विशुद्ध-मन का वर्णन कर रहीं हैं, ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद विदेह कैवल्य-रूप से अवस्थित दर्शनमात्र-स्वरूप आत्मा तो स्वयंप्रकाश होने से सूर्यवत् प्रकाशान्तर निरपेक्ष है। 'नेति नेति' यह श्रुति सामान्यतः अतद् की ब्रह्म से पृथक् सत्ता तथा ब्रह्म में अतद् की सत्ता दोनों का निषेध कर रही है। 'ब्रह्म के प्रकृत इयत्ता मात्र का निषेध करती हैं' यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की उक्ति असंगत है क्यों कि 'नेति नेति' यह निषेध सामान्य द्विरभिहित है इससे निषेध-विशेष का भान नहीं होता है। प्रकृत भी स्वगत-सजातीय-विजातीय-भदेशून्य निर्विशेष ब्रह्म ही है क्योंकि इसके पहले 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह प्रकृत है जिसके उपपादन के लिये 'नेति-नेति' यह श्रुति प्रवृत्त है। 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' यह ब्रह्ममीमांसाकार का वाक्य भूमविद्या में पूर्व-पूर्व प्रकृत जो एतावत्व उसका प्रतिषेध करके पूर्व-पूर्व से वृहद् आत्मस्वरूप का वर्णन करके अनन्त (अपरिच्छिन्न) आत्मा का वर्णन किया गया है। यह इस सूत्र का अर्थ हे इस सूत्र से

'नेति-नेति' श्रुति का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' यहाँ पर 'उपनिषदा गृह्यते इति औपनिषदः पुरुषः' यह अर्थ है।

यद्यपि इस अर्थ के अनुसार आत्मा शब्दगोचर हो रहा है तथापि आत्मा को उपनिषद् विधिमुखेन वर्णन करने में समर्थ नहीं है किन्तु अतन्निषेधमुख से उपनिषद् प्रतिपादन करती है। यही 'श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः' यह भागवत का श्रुतिस्तव-वाक्य भी इसी बात को कहता है।

'अतद् व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।' यह पुष्पदन्त वाक्य भी यही कहता है 'निषेधशेषो जयतादशेषः' यह भागवत का गजेन्द्रस्तव-वाक्य भी यही कहता है। 'सर्वनिषेधे सति शिष्यमाणः' यह उसका अर्थ है। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'वचसां वाच्यमुत्तमम्' इत्यादि वाक्य भी सर्वात्मक भगवान् को अतन्निषेध-मुख से सर्व वेदों का तथा सर्वशब्दों का वाच्य कहते हैं। जैसे — 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में सत्य तथा ज्ञान पद विधिमुख से उपहितब्रह्म को कहते हैं और लक्षणया निषेधमुख से असत्य-व्यावृत्त तथा अज्ञानव्यावृत्त को कहते हैं। तुल्यार्थत्वेऽपि चैतेषाम्' इत्याद्युपर्युद्धत भट्टपाद की उक्ति तथा उसकी व्याख्या न्यायरत्नकार का अभिप्राय श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने बिल्कुल विपरीत समझ लिया है इसपे तो अद्वैतमत का प्रामाण्य सिद्ध होता है। तथा हि —

अद्वैतवादी औपनिषद् तथा श्रुतियों में श्रद्धा-सम्पन्न आस्तिक हैं। यह समझकर बौद्ध अपनी नास्तिकता को तथा अनुपादेयवचनता को छिपाने के लिए उन्होंने मिथ्या वचन संवृत शब्द का तथा कल्पना शब्द का प्रयोग किया, यह भट्टपाद का तथा न्यायरत्नाकर का अभिप्राय है।

अब रह गया कि बौद्धमत का खण्डन करना भगवत्पाद को अभिप्रेत था और श्रुत्यनुयायी अद्वैतियों का खण्डन अभिप्रेत नहीं था, इसीलिये उन्होंने अद्वैत-वाद का खण्डन नहीं किया।

इस प्रकार निषेधमुखेन प्रतिपादन करने पर भी स्वेतर समस्त चेतना-चेतन-विलक्षण, समस्त-कल्याण-गुणगणाकर माया यवनिकाच्छन्न उपहित ब्रह्म रूप भगवान् वासुदेव सर्ववेद-वेद्य सिद्ध होते हैं।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—" अध्यास प्रयुक्त होने से ज्ञातृत्व मिथ्या है, परन्तु ज्ञानत्व वैसा नहीं है इसलिये वह मिथ्या नहीं

कहा जाता। अपारमार्थिकत्वरूप मिथ्यात्व उभयत्र समान ही है" ये लालबुझक्कड़ों के लरछे हैं इनके तात्पर्यों को लालबुझक्कड़ ही बूझ सकते हैं, परीक्षकों के लिये तो जरद्गवादि वाक्यों के समान उपेक्षणीय ही हैं।

"अग्रिम आत्मा का स्वप्रकाशत्व ग्रन्थ पूर्वप्रदर्शित न्यायानुगृहीत प्रमाण विरुद्ध होने से 'अन्तःकरणोपहित में ज्ञानत्व होता है' 'इस दृष्टि से ज्ञातृत्व औपाधिक है और इसकी अपेक्षा ज्ञानत्व स्वामाविक होता है' इत्यादि परस्पर विरुद्धोक्ति घटित होने से प्रमाणशून्य स्वप्रक्रिया रटनमात्र होने से उपेक्षणीय है"। (अ. वि. १३१–१३२ पृ.)

उपर्युक्त सन्दर्भ का समाधान यह है कि—हम पहले सिद्ध कर आये हैं कि आत्मा में ज्ञातृत्व अध्यास–प्रयुक्त है तथा अध्यास-प्रयुक्त होने से मिथ्या है और ज्ञान आत्मस्वरूप है तथा अज्ञान व्यावृत्ति-रूप ज्ञानत्व भी उसका स्वरूप है क्योंकि अभाव अधिष्ठान का स्वरूप होता है। इस दृष्टि से ज्ञानत्व मिथ्या नहीं कहा जाता। किन्तु अज्ञान-व्यावृत्ति रूप ज्ञानत्व अधिष्ठान-रूप से मिथ्या न होने पर भी अज्ञान व्यावृत्ति रूप से अपारमार्थिक तथा कल्पित है, इसलिये अपारमार्थिकत्व रूप मिथ्यात्व ज्ञातृत्व और ज्ञानत्व दोनों में समान ही है। यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति जरद्गवादि वाक्यों के समान उपेक्षणीय नहीं है, किन्तु इस उक्ति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब आप जरद्गव वाक्य का भी अर्थ समझ लीजिये—

"जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः॥"

इसका अर्थ यह है कि—जरद्गवः=तत्सदृशः अनादिः अज्ञानी जीवः, स च कम्बलपादुकाभ्याम्=अविद्याया आवरणविक्षेप-शक्तिभ्याम्, अभिभूतः अविद्यावृत्तः, द्वारि=मोक्षद्वारि ब्राह्मणदेहे स्थितः, मद्रकाणि=मद्राणि श्रृंगारसप्रधानानि विषयगीतानि गायति। तम्, जातानुकम्पा ब्राह्मणीव ब्राह्मणी=ब्रह्म सम्बन्धिनी ब्रह्मविषया बुद्धिः, पुत्रकामा=मोक्षरूपं पुत्रं कामयमाना, पृच्छति, हे राजन्! स्वप्रकाश! रुमायाम्=लवणखनि तुल्ये सैन्धवघनवत् विज्ञानघने आनन्दघने भगवति भवत्स्वरूपभूते लशुनस्य लशुनतुल्यस्य गर्हितस्य विषयसुखस्य कोऽर्घः=किम् मूल्यम्' अतो भवता विषयगीतानि न गेयानि किन्तु 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं पितामहास्ते क्व गता पिता च' इति।

आत्मा एवं कर्तृत्व का विमर्श समीक्षा

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"यद्यपि आत्मा एवं कर्तृत्व में सिद्धान्त पर किया गया ऐसा कोई आक्षेप नहीं है जो पूर्वोक्त सोपपत्तिक प्रमाणों से सुनिरस्त न हो जाय तथापि साधारण कोटि के पाठकों के सन्तोषार्थं 'आत्मा एवं कर्तृत्व की' समालोचना की जाती है।

'कुछ लोग कहते हैं कर्तृत्व विक्रिया है—वहाँ 'ज्ञः' का अर्थ नित्यज्ञान-स्वरूप ही है ज्ञाता नहीं।'

" 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' 'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा' 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' 'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीव भूताम्।'

'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः·························॥'
'यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥'

'भेदव्यपदेशात्' 'उपायेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' भेदव्ययदेशाच्चान्यः अधिकं तु भेदनिर्देशात्। इत्यादि श्रुति-स्मृति-सूत्रों से सिद्ध प्रमाणान्तरानवगत जीवेश्वर भेद है।

'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्वमेति' इत्यादि श्रुतियों से जीवात्मविलक्षण जीवान्तर्यामी ब्रह्म के ज्ञान को श्रुति मोक्ष का साधन कह रही है। यह प्रमाणान्तर से अनवगत है।

अभेदनिर्देश—'यस्यात्मा शरीरम्' 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इत्यादि श्रुतिस्मृत्युक्त रीति से शरीरात्मभावपरतया सुसङ्गत हैं। एवं सति "परमात्मा और आत्मा का अभेद ही है" यह कथन अत्यन्त असङ्गत है। जगत् का कर्ता परमात्मा ब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। इसको विवर्तवादियों ने भी जन्माद्यधिकरण में तथा शास्त्रयोनित्वाधिकरण में सम्यगुपपादन किया है। इसमें पूर्वमीमांसकाक्षेपों का निराकरण करके इसको समन्वयाधिकरण में सुदृढ़ किया है। इत्थं उभयवादि-

सम्मत शास्त्रैकसमधिगम्य अर्थं को आध्यासिक कहना पूर्वोक्त भट्टपाद के कथनानुसार लोकवञ्चनार्थं स्वनास्तिक्य छिपाना ही है।

जब जगत् का कर्ता ब्रह्म है यह लोकसिद्ध नहीं है तो नये इस भ्रम को लोक में पैदा करने की श्रुतियों और सूत्रों की क्या आवश्यकता है। जब प्रमाणान्तरानधिगत ब्रह्म का जगत् कर्तृत्वादि-रूपवेदान्तार्थं मिथ्या है तब वेदों का प्रामाण्य कैसे है। यदि कहा जाय वेदों का व्यावहारिक प्रामाण्य है तब उसका उत्तर 'लालावक्त्रासवादिवत्' यह दिया जा चुका है। श्रुत्येकसमधिगम्य अर्थं को यथाश्रुति मानना ही आस्तिक्य है तदनुकूलतर्क ही सत्तर्क हैं यह—

'आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥'

"अन्तःकरण संसर्ग से ही आत्मा में कर्तृत्व होता है। उसी का श्रुति-सूत्रादि अनुवाद करते हैं।"

इस उक्ति का निष्कर्ष यह है कि अन्तःकरण संसर्ग से नादान जन ब्रह्म को जगत्-कर्ता कहते हैं, उन्हीं नादानों के कथन का 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत' 'यस्य वैतत्कर्म' 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' इत्यादिक ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व को कहने वाले कृत्स्न वेदान्तगण अनुवाद करते हैं। यद्यपि ये वेदान्तगण मिथ्यार्थवादी हैं तथापि नादानों के कथन का अनुवादी होने से स्वतन्त्र वचन न होने के कारण वेदान्तों को मिथ्यावादित्व का दोष नहीं है। वेदाचार्य वादरायण को सायत यह रहस्य ज्ञात नहीं हुआ, इस रहस्य को केवल विवर्तवादियों ने ही समझा। यदि वेदाचार्य को भी यह रहस्य ज्ञात होता तब वेदान्तानूदित नादानों के मिथ्या वाक्यों के विचारणार्थं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रप्रणयन में प्रवृत्त नहीं होते परन्तु वेदान्तों ने 'यतः हृ वै'

इत्यादि अनुवाद लिङ्ग रहित 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'तदेक्षत बहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत' 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' 'इत्यादिक षोडश खण्डों में नादानों के मिथ्यावाद के अनुवादक उपपादन करके अपने भक्तों को धोखा क्यों दिया इस शङ्का का भी समाधान इत्यादि वचन सिद्ध है।

विवर्तवादी को याद देना चाहिये था—'निष्कलं निष्क्रियम्' यह श्रुति व्यापक-परमात्मा में परिस्पन्दरूप क्रिया का निषेध करती है। कृत्स्न समन्वयाध्याय तथा तद्विषयभूत श्रुतियां ब्रह्मकारणतया का प्रतिपादन करती हैं। विरोधपरि-हाराध्याय–समन्वयाध्याय प्रतिपादित कारणता को सुदृढ़ करता है। साधनाध्याय 'कारणन्तु ध्येयः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अध्यायद्वय से समवधारितकारण-ताकब्रह्म की मुक्ति हेतु नानाविध उपासनाओं का निर्णय करता है। फलाध्याय कारणब्रह्मोपासक के जीवदशा-म्रियमाणदशा-गमनदशा एवं कारणब्रह्मोपसत्ति-दशा में होने वाले कारणब्रह्मोपासन फलों को कहता हुआ जगज्जन्मादि कर्तृत्व तो ब्रह्म का ही असाधारण व्यापार है उसको छोड़कर मुक्त का ब्रह्मसाम्य कहता है। इस प्रकार ब्रह्म की स्वाभाविक कारणता न मानने पर कृत्स्न ब्रह्ममीमांसा-शास्त्र दत्तजलाञ्जलि हो जायेगा। तदनु कृत्स्न वेदान्तों की भी यही दशा होगी। अधिकारियों का स्वातन्त्र्य है या तो विवर्तवादियों की प्रक्रिया परिग्रह करें अथवा उपनिषत्सहित ब्रह्ममीमांसा का परिग्रह करें ब्रह्म के जगत्कारणत्व को मरुभूमि के पङ्किलत्व के समान मिथ्या कहने वाला जन्तु ब्रह्म सूत्र के पद विशेष के अर्थ का चिन्तन करे यह शोभता नहीं है।"

उपर्युक्त संदर्भ का क्रमानुसार समाधान यह है कि—निर्विकार आत्मा में कर्तृत्व रूप विक्रिया नहीं बन सकती और श्रौत ज्ञः पद का ज्ञानस्वरूप ही अर्थ श्रुति को अभीष्ट है क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुत्यन्तर में आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही बताया है यहाँ पर 'ज्ञ' पद में 'क' प्रत्ययार्थ आश्रयत्व रूप कर्तृत्व पूर्वोक्त श्रुत्यन्तर से बाधित होने से अविवक्षित है। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादि 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' इत्यन्त पूर्वोद्धृत श्रुति-स्मृति-सूत्रों में व्यवहार सिद्ध जिवेश्वर भेद अनूदित है विहित नहीं है क्योंकि जीवे-श्वर भेद प्रमाणान्तरानवगत नहीं है। पांसुलपाद हालिक भी अपने तथा ईश्वर के भेद को जानता और कहता है। 'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेना-

मृतत्वमेति' यह श्रुति क्रमिक मुक्ति का वर्णन कर रही है। इस श्रुति का यह अर्थ है कि साधक अपने को तथा स्वप्रेरक अन्तर्यामी को भिन्न-भिन्न रूप से जान कर उस अन्तर्यामी से सङ्गत होता है इसके बाद ज्ञान को प्राप्त करके अमृतत्व (अर्थात् विदेह कैवल्य) को प्राप्त होता है। इसमें यह वचन प्रमाण है—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रति सञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविसन्ति परं पदम् ॥' इति ॥

अतः "श्रुतियों से जीवात्म-विलक्षण जीवान्तर्यामी ब्रह्म के ज्ञान को श्रुति मोक्ष का साधक कह रही है"।

यह श्रीत्रिदण्डीस्वामी जी की उक्ति असंगत है। 'यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादि पूर्वोद्धृत श्रुति स्मृत्युक्तरीति से उक्त श्रुतिस्मृतियों में ही शरीरात्मभाव परतया कल्पित अभेद-निर्देश सुसङ्गत हो सकता है किन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों में शरीरात्मभावपरतया अभेद-निर्देश कैसे सुसङ्गत होगा। जगत् का कर्ता माया कार्य महदाद्युपाधिक परमात्मा ब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है और इस बात को विवर्तवादियों ने जन्माद्यधिकरण तथा शास्त्रयोनित्वाधिकरण में सम्यगुपपादन किया है। मायाकार्य महदादि के मिथ्या होने से तदुपहितब्रह्म को मिथ्या विवर्तवादी कहते हैं उस कथन का पर्यवसान महदादि के मिथ्यात्व में ही है इस विवर्तवाद में क्या लोक-वञ्चना और क्या नास्तिक्य है? महदाद्युपहित ब्रह्म का जगत्-कर्तृत्व प्रमाणान्तरानधिगत है इसलिए श्रुति-सूत्र उसको बता रहे हैं। यद्यपि ब्रह्म का जगत्कर्तृत्वादि मिथ्या है तथाऽपि उसमें व्यावहारिक-सत्ता तो अवश्य है, अतः तदर्थबोधक वेदों का व्यावहारिक प्रामाण्य है। 'लाला वक्त्रासवादिवत्' इस त्रिदण्डी स्वामी जी की उक्ति का समाधान तो पहले दिया जा चुका है।

'अन्तःकरण संसर्ग से ही आत्मा में कर्तृत्व होता है उसी का श्रुति-सूत्रादि अनुवाद करते हैं' इस श्रीकरपात्री जी की उक्ति का निष्कर्ष यह है कि अन्तःकरण संसर्ग से ही जीवात्मा में कर्तृत्व होता है उसी का 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्' इत्यादि श्रुति तथा 'यथा च तक्षोभयथा' इत्यादि सूत्र अनुवाद करते हैं। निर्विशेष परब्रह्म तो निष्क्रिय होने से

जगत्कर्ता नहीं है इसमें 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं। इस श्रुति में निर्विशेष-ब्रह्म में किसी प्रकार के भी क्रिया या विक्रिया का निषेध किया गया है। अतः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि पूर्वोद्धृत ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व को कहने वाले कृत्स्न वेदान्तगण मायोपहित ब्रह्म के प्रमाणान्तरानधिगत जगत्कर्तृत्व का विधान करते हैं। इस प्रकार से मायोपहित ब्रह्म में यद्यपि जगत्कर्तृत्व मिथ्या है तथापि मिथ्याभूत जगत्कर्तृत्व प्रमाणान्तर से अनवगत तथा अबाधित है इसलिए तद्बोधक वेद-वचनों का व्यावहारिक प्रामाण्य उपपन्न होगा। निर्विशेष-ब्रह्म में जगत्कर्तृत्व 'निष्कलं निष्क्रियं' इत्यादि श्रुतिबाधित होने से पारमार्थिक नहीं है। कृत्स्नसमन्वयाध्याय तथा तद्विषयभूत श्रुतियां मायोपहित ब्रह्म-कारणता का प्रतिपादन करती हैं। विरोधपरिहाराध्याय, समन्वयाध्याय-प्रतिपादित मायोपहित-ब्रह्म को कारणता को सुदृढ़ करता है। साधनाध्याय 'कारणं तु ध्येयः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अध्यायद्वय से समवधारित-कारणताक-मायोपहित-ब्रह्म की परम्परया मुक्तिहेतु-भूत नानाविध-उपासनाओं का निर्णय करता है। फलाध्याय पूर्वोक्त कारण ब्रह्मोपासक के जीवदशा, म्रियमाणदशा, गमनदशा एवं पूर्वोक्त कारणब्रह्मोपसत्ति-दशा में होने वाले पूर्वोक्त कारण ब्रह्मोपासन फलों का कहता हुआ जगज्जन्मादि कर्तृत्व तो मयोपहित ब्रह्म का ही असाधारण व्यापार है उसको छोड़कर जीवन्मुक्त का जगत्कर्ता मायोपहित ब्रह्म के साम्य का प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार मायोपहित-ब्रह्म की कारणता मानने पर कृत्स्न-ब्रह्म-मीमांसा शास्त्र समन्वित हो जायेगा। अतः अधिकारियों को उचित है कि विवर्तवादियों की प्रक्रिया परिग्रहण करें।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"'ज्ञः' इस पद के प्रकृति भूत ज्ञा धातु का अर्थ ज्ञान है कर्तरि विहित 'क' प्रत्यय का अर्थ आश्रय है 'ज्ञः' पद का पर्यायभूत ज्ञाता पद है विवर्तवादी भाष्यकार भी पदमर्यादा के अनुसार 'ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्मा एव' इस भाष्य से नित्य चैतन्यरूप गुण वाला यही ज्ञः इस पद का अर्थ करते हैं, क्योंकि 'नित्य चैतन्यः' यह पुल्लिङ्ग प्रयोग नित्यं चैतन्यं यस्य, इस बहुव्रीहि-समास में ही उपपन्न है। एवं सति "पर यह ठीक नहीं, वहां 'ज्ञः' का अर्थ नित्यज्ञानस्वरूप

वही है ज्ञाता नहीं" इस उच्छृङ्खलोक्ति की क्या सीमा है। प्रमाणानुसारिणी प्रक्रिया परीक्षक सम्मान्य है। प्रक्रिया के अनुसार प्रमाणों का नयन किस परीक्षक को रुचेगा। यद्यपि ज्ञान और प्रकाश एक ही पदार्थ है तथापि ज्ञा धातु और प्रपूर्वक काश्टृ धातु भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति निमित्त से उस अर्थ को कहते हैं। ज्ञाधातुरर्थप्रकाशत्वरूप निमित्त से ज्ञा धातु की प्रवृत्ति होती है अतः फल-व्यधिकरण व्यापार वाची होने से ज्ञा धातु सकर्मक है। केवल प्रकाशत्वरूप निमित्त से प्र पूर्वक काश्टृ धातु की प्रवृत्ति है अतः अकर्मक है। ण्यन्त करने पर भी ज्ञा धातु समानार्थक प्रपूर्वक काश्टृ धातु नहीं है, प्रकाश का कर्ता है घटादि प्रयोजक है ज्ञान। ज्ञा धातु का तो घटादि कर्म ही है कर्ता ज्ञान धात्वर्थ ही है प्रयोजक कर्ता नहीं। देवदत्तादि चेतन ही स्वतन्त्र कर्ता है। अतः जानाति प्रकाशयति अर्थ करना 'लालावक्त्रासवादिवत्' के अनुसार लोकवञ्चनमात्र है।

इस प्रकार क्वचित् अभ्युपगमवाद की कल्पना करके, क्वचित् प्रमाणान्तर-सिद्धिबाधविरहितार्थक वाक्य को भी बलात्कारेण व्यवहारसिद्धार्थानुवादित्व की कल्पना करके, क्वचित् स्वप्रक्रियामात्र कल्पितभ्रम सिद्धार्थानुवादित्व की कल्पना करके, क्वचित् औत्पत्तिक शब्दविशेष का अर्थविशेष के साथ जो संबन्ध तत्तिरस्कार पूर्वक स्वच्छन्द अर्थान्तर कल्पना करके, क्वचित् पक्षान्तर में अध्याहार के बिना भी वाक्य के उपपन्न होने पर भी अप्रामाणिक अध्याहार करके, चार्वाक-बौद्ध-जैन प्रभृति कौन पक्ष है जिसमें श्रुति-स्मृति-सूत्रों की योजना नहीं हो सकती है। तम को दूर करने के लिये, सदसद् विवेचन के लिये परम कारुणिक परमेश्वर ने दीप के समान प्रमाण को प्रदान किया है किन्तु बहुत से चपल उसमें शलभ हो जाते हैं। अभ्यास षड्विध तात्पर्यलिङ्गों में अन्यतम है 'अभ्यासे भूयांसं अर्थं मन्यन्ते' यह वृद्धोक्ति है। श्रीविदेहराज ने श्रीचक्रवर्ती तथा ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ से कहा है—

"ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुंगव।
सीतां रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय च॥
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम्।
द्वितीयामुर्मिलां चैव त्रिर्ददामि न संशयः॥"

श्रीमहाभारत में वेदाचार्य कहते हैं—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं भुजमुद्धृत्यमुच्यते।
वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति न दैवं केशवात्परम् ॥

इत्यादि स्थलों में आदरातिशय प्रयुक्त अभ्यास तात्पर्यातिशय का सूचक देखा गया है। हम लोग नहीं महीधर सागरादिकों को स्वरूपतः जानते हुए भी कृत्स्न प्रकारतः नहीं जानते हैं। भगवान् वेदपुरुष परमपुरुष के स्वरूपतः कृत्स्न-प्रकारतः सर्वविषय सार्वज्ञ गुण को 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः" एवं प्रकारेण आदरातिशयेन अनेकधा वर्णन करते हुए परमानन्द को प्राप्त हो रहे हैं। परमपुरुष के 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इत्यादि श्रुत्यन्तर संवादित स्वाभाविक सार्वज्ञ गुण में तात्पर्यातिशय लिङ्ग-भूत अभ्यास को सार्वज्ञ के कल्पितत्व का हेतु समझ रहा है उसकी तमस्विता का क्या पार है।

स्वपरोभयमतज्ञानशून्यों का "वह ज्ञान क्या स्वविष्ट अपने को प्रकाशता है या अन्य के लिये" इत्यादि जरद्गवादि वाक्यों के समान असंगत वचन उपेक्षणीय हैं।

देश विशेष में दृश्यमान तेजःपुञ्ज द्युमणिमण्डलभिन्न है। त्रिलोकव्यापिनी तेजोद्रव्य होनेपर भी सर्वदा मण्डलाश्रित होने से मण्डलगुणभूता प्रभा भिन्न है तद्वत् आश्रयादन्यत्रापि प्रसृत होने से द्रव्यात्मक सर्वदा आत्माश्रित होने से आत्म-गुणभूत धर्मभूतज्ञान भिन्न है स्वस्मै स्वयं प्रकाशमान धर्मभूत ज्ञानाश्रय ज्ञाता आत्मा भिन्न है दोनों धर्मधर्मिभाव 'घटमहं जानामि' इत्याद्यनुभव सिद्ध हैं तथा 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। मोक्षावस्था में भी विज्ञानघन आत्मा सार्वज्ञादिगुणविशिष्ट है इसको तर्कानुगृहीत-प्रमाणों से सिद्ध कर आये हैं। 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्याय से प्रमाण सिद्ध अर्थ में कोई अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती है। धर्मभूत ज्ञान की बद्धावस्था में संकोच विकास सर्वानुभव सिद्ध है मोक्षावस्था में उसकी व्यापकता श्रुति सिद्ध है प्रमाणसिद्ध अर्थ में अनुपपत्ति कैसी। पुनः पुनः कहा जा चुका है कि अबाधित सर्वसाक्षिक "घटमहं जानामि" इत्यादिक अनुभव से अहमर्थ आत्मा का ज्ञाना-श्रयत्व सिद्ध है 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इत्यादि

श्रुतियों से नित्य विज्ञाता आत्मा की स्वाभाविक अविनाशिनी विज्ञाति सिद्ध है अतः "कुछ लोग कहते हैं कि—आत्मा धात्वर्थ क्रिया का—अतः उभयांश होने से अनात्मक का ठीक निर्वचन हो जाता है।" ये सब प्रमाणविरुद्ध होने से प्रलापमात्र हैं।

अहमर्थ ज्ञाता आत्मा की और तद्धर्मभूत ज्ञान की नित्यता में प्रमाणों का अनेकशः वर्णन कर आये हैं। 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' इत्यादि वाक्यों से उपास्य सर्वान्तर आत्मा परमात्मा ही कहा गया है, अतः उपास्यत्वेन उक्त परमात्मा से अन्यत्-भिन्न जीवजात आत्र्तम् कर्माविद्यादिग्रस्त होने से आध्यात्मिकादि तापों से संतप्त है यह 'अतोऽन्यदार्तम्' यह श्रुति कह रही है, सर्वान्तर के व्याप्यों को असत् नहीं कह रही है, व्याप्य सर्वापेक्ष ही सर्वान्तरत्व है व्याप्य सर्व के असत् होनेपर सर्वान्तर भी असत् हो जायेगा। अस्मदुक्त अर्थ में किसी दोष का प्रसङ्ग नहीं है।"

उपर्युक्त सन्दर्भ का क्रमानुसार समाधान यह है कि—'ज्ञः' पद में प्रत्ययार्थ श्रुत्यन्तर-बाधित होने से अविवक्षित है अथवा भावप्रधान निर्देश होने से ज्ञान परक है। 'ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्मा' इस भाष्य में भी नित्यचैतन्यरूपता ही विवक्षित है क्योंकि इसी में श्रुत्यन्तर संवाद है यहाँ पर 'राहोः शिरः' की तरह अभेद में आधाराधेयभाव तथा धर्मधर्मिभाव की कल्पना करके उपपत्ति करना अभिप्रेत है। इसलिए श्रीकरपात्री जी की यह उक्ति—"वहाँ 'ज्ञः' का अर्थ नित्य ज्ञानस्वरूप वही है ज्ञाता नहीं है" यह विवर्त सम्प्रदायानुसारिणी उक्ति है उच्छृङ्खलोक्ति नहीं है। विवर्तवाद की प्रक्रिया श्रुतिरूपप्रमाणा नुसारिणी है।

'ज्ञा' धातु 'काशृ' धातु और 'भास' धातु तीनों का अर्थ ज्ञानानुकूल व्यापार ही है और सर्वत्र फलतावच्छेदक संबन्ध विषयता है। 'चैत्रो घटं जानाति' यहाँ पर विषयतासंबन्धावच्छिन्नज्ञानाश्रयत्व घट में है चैत्र में नहीं और फलानुकूल-व्यापार चैत्र में है इस तरह से व्यापार-व्यधिकरण-फला-श्रयत्व घट में उपपन्न हुआ। 'घटो भासते' 'घटः प्रकाशते' यहाँ पर विषयता सम्बन्धावच्छिन्न ज्ञानाश्रयत्व तथा ज्ञानानुकूलव्यापार दोनों घट में हैं अतः 'घटो भासते, घटः प्रकाश्यते' यहाँ पर घट को कर्मता नहीं होती। इस प्रकार 'चैत्रो घटं जानाति' 'चैत्रो घटं स्वमनसि भासयति प्रकाशयति वा' इन तीनों का समानार्थकत्व उपपन्न हुआ। इसमें लोक-वञ्चना अणुमात्र भी नहीं है।

'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः' 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इन दोनों श्रुतियों की एकवाक्यता से यही निष्कर्ष निकलता है कि माया-शक्ति के सहकार से भगवान् में सर्वज्ञत्व हैं क्योंकि पञ्चदशी में लिखा है—

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः।
.....................तेन स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः॥

वस्तुतः तो भगवान् सृष्टिकाल में जब कि सर्वपदार्थं विद्यमान है सर्वविषयक ज्ञानस्वरूप हैं और प्रलयकाल में निर्विशेष निर्विषय ज्ञानस्वरूप हैं यह ही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का श्रुत्यनुसार प्रतिपादन करने में क्या तमस्विता है ?

उपर्युद्धृत श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का "स्वपरोभयमतज्ञानशून्यों का 'वह ज्ञान क्या स्वनिष्ठ अपने को प्रकाश है या अन्य के लिये' इत्यादि जरद्गवादि वाक्यों के समान असंगत वचन उपेक्षणीय है"। यह उपपत्ति रहित वचन 'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्डः' इत्यादि वचनों के समान असंगत होने से, उपेक्षणीय है। क्योंकि जरद्गवादि वाक्य की सार्थकता तो हम पहले उपपादित कर आये हैं। 'देश विशेष में दृश्यमान' इत्यादि 'प्रमाण सिद्ध अर्थ में कोई अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती' इत्यन्त श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का पूर्वोद्धृत वाक्य पुनरुक्त पुनः पुनः दूषित तथा उपपत्ति-शून्य स्वप्रक्रियामात्र कल्पित है।

धर्मभूत ज्ञान का वृद्धावस्था में संकोच विकास सर्वानुभवसिद्ध है। द्रव्य का संकोच विकास तो सर्वानुभव सिद्ध अवश्य है किन्तु धर्मभूत ज्ञानरूप गुण के संकोच विकास में न कोई उदाहरण है, न कोई उपपत्ति है, न वह किसी के भी अनुभव में सिद्ध है।

पुनः पुनः कहा जा चुका है कि अबाधित सर्वसाक्षिक 'घटमहं जानामि' इत्यादिक अनुभव से अहमर्थ आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व सिद्ध नहीं है और 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इत्यादि श्रुतियों से नित्य आत्मा के स्वरूप भूत अविनाशिनी विज्ञाता सिद्ध है यह भी कहा जा चुका है। अतः आत्मा धात्वर्थ क्रिया रूप विज्ञाति का आश्रय नहीं है और धात्वर्थ क्रिया विज्ञाति का आश्रय मन विज्ञाता है तथा उसके तादात्म्याध्यास से आत्मा में विज्ञातृत्व

व्यवहार होता है यह श्रीकरपात्री जी का अभिप्राय है जिसके न समझने के कारण श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने इसको प्रलाप कह दिया है।

अहमर्थं आत्मा ज्ञाता नहीं है और तद्धर्मभूत ज्ञान की नित्यता में कोई प्रमाण नहीं है यह हम बार-बार कह आये हैं।

'यः प्राणेन प्राणिति स ते आत्मा सर्वान्तरः' इत्यादि वाक्यों से उपास्य सर्वान्तरात्मा यद्यपि उपासक का विशुद्ध स्वरूप नहीं है तथापि 'स्थूलारुन्धती' निदर्शन न्याय के 'एष ते आत्मा' कहा गया है। 'अतोऽन्यदार्तम्' यहाँ पर इस श्रुति में 'आर्त' शब्द का 'नश्वर' अर्थ है और जो नश्वर है यह असद् होता ही है इसी लिये लिखा है कि—

'आदावन्तेऽपि यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'।

इस प्रकार विवर्तवाद में जो श्रुत्यर्थ हम कर आये हैं उसमें किसी दोष का प्रसङ्ग नहीं है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"श्वेताश्वर श्रुति के आठवें मन्त्र में—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'

इस उत्तरार्धं से भुवनेशदेव की कृत्स्नजगदुत्पादानत्वानुगुण विविधशक्ति को तथा कृत्स्नजगद्रचनानुगुण ज्ञान के और रचनानुगुण बल के सहित कृत्स्न जगद्रचनारूप क्रिया को स्वाभाविक कह रही है, ग्यारहवें मन्त्र के उत्तरार्ध में 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' सकल भूतों का तथा सकलभूतों के सकलकर्मों का साक्षात् द्रष्टा सकलप्रपञ्च का भूतकर्मानुगुणनिर्माता भूतकर्मानुगुण जगद् द्वैविध्य में रागद्वेषरहित होने से केवल—उदासीन रागद्वेषादि हेतुभूतगुणत्रयपारवश्य-रहित उस देव को कह रही है। 'निर्गुणः—इस पद का गुणसामान्याभाव अर्थं करने का पूर्वापर सन्दर्भ का अज्ञान ही कारण है। स्वाभाविक भगवज्ज्ञान के प्रसङ्ग में सत्त्व से ही ज्ञान उत्पन्न होता है यह कथन नादानी का द्योतक है। पहले कहा जा चुका है कि—वृत्ति के ज्ञानता में कोई प्रमाण नहीं है। विवरणकार वृत्तिविषयक ज्ञानपद प्रयोग को चक्षुरादि साधारण ज्ञानकरणत्वाभिप्रायक कहते हैं।

कहा जाता है—"चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा" इत्यादिक केवल प्रमत्त प्रलाप है। सत्कार्यवाद में नित्यता दो प्रकार की है—परिणामनित्यता और कूटस्थ-

नित्यथा, विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में कूटस्थनिष्यता केवल आत्मतत्त्व को सामान्य है धर्मभूतज्ञानप्रभृति की परिणामिनित्यता हो अभीष्ट है।

"कहा जाता है कि धर्मभूत के सम्बन्ध में' इत्यादि प्रमाण से जो वस्तु स्वरूपतः धर्मतः जेसा सिद्ध है प्रामाणिकों को वह वैसा ही स्वीकार्य है। कल्पना में उपपत्ति तथा लाघव आदरणोय है। अहमर्थं ज्ञाता और उसका धर्मभूतज्ञान 'घटमहं जानामि' इत्यादि बाधशून्य स्वारसिक प्रतीति सिद्ध है। अहमर्थज्ञाता की तथा उसके अग्नि के औष्ण्य के समान स्वाभाविक विज्ञाता की नित्यता 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है। यहाँ गौरव लाघव चिन्तन का प्रसङ्ग ही क्या है।

विवर्तवादियों को वृत्ति में स्वरूपज्ञान के प्रतिफलन की कल्पता करनी है वह अनेक प्रकार से अनुपपन्न है। प्रमाण सिद्ध है कि जिसके बिना अनुपपत्ति हो उसकी कल्पना की जाती है। अनुपपत्ति परिहार के लिये की जाने वाली कल्पना अनुपपन्न की नहीं होती है किन्तु उपपन्न की ही होती है। जैसे— देवदत्त का जीवितत्त्व-विशिष्ट-गृहासत्त्व प्रमाणसिद्ध है वह बहिःसत्त्व के बिना अनुपपन्न है प्रादेशिक देवदत्त के बहिःसत्त्व में कोई अनुपपत्ति है नहीं अतः बहिःसत्त्व की कल्पना की जाती है। यहाँ वृत्ति में स्वरूप ज्ञान के प्रतिफलन की कल्पना के बिना किसी प्रमाण-सिद्धि की अनुपपत्ति है नहीं अतः कल्पना अनुपपन्न है।

किञ्च मरुमरोचिका में कल्पित सरोवर में नीरूप गगन के प्रतिफलन के समान मिथ्याभूत कल्पित वृत्ति में नीरूप स्वरूपज्ञान का प्रतिफलन सर्वथा अनुपपन्न है उसकी कल्पना कैसे हो सकती है। "यही प्रश्न होगा कि कर्मकृत है इसका क्या अर्थ है।" इत्यादि कथन केवल नादानी है। प्राणियों के कर्मानुसार कृत्स्न जगद्व्यापार ईश्वर का हैं यह संपूर्ण ईश्वरवादियों को सम्मत है। प्राणियों के कर्मानुसार उच्चावच विषयों में जीवों के ज्ञान का संकोच विकास ईश्वर कृत है यह गायत्र्यादि परःसहस्रमन्त्रवाक्यादिकों से ही सिद्ध है—

"बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्त्वं दमश्शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावाभूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥"

'मत्तः स्मृतिज्ञानमपोहनञ्च' इत्यादि परःसहस्र स्मृति वाक्यों से सिद्ध है। ज्ञान के स्वरूपस्थित्यादि को आत्माधीन होने से आत्मा का ज्ञान के प्रति कर्तृत्व स्वाभाविक सम्प्रतिपन्न ही है। "ज्ञान कर्तृत्व कर्मकृत होने पर भी स्वाभाविक ही होगा" यह इष्ट के आपत्तिरूप से कथन सर्वथा नासमझी को सिद्ध कर रहा है। बड़े ग्रन्थों का अर्थ न समझ में आवे तो गुरुशुश्रूषापूर्वक पढ़ना चाहिए। श्रीभाष्य की ये पंक्तियाँ हैं—

'न च ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकम्, ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वम्। ज्ञानञ्चास्य नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वेन नित्यम्। नित्यश्चात्मनो 'नात्मा श्रुतेः' इत्यादिषु वक्ष्यति। 'ज्ञोऽत एव' इत्यत्र ज्ञ इति व्यपदेशेन ज्ञानगुणाश्रयत्वं च स्वाभाविकमिति वक्ष्यति। अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविरुद्धमित्युक्तम्। स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं सङ्कोचविकासार्हमित्युपपादयिष्यामः। अतः क्षेत्रज्ञावस्थायां कर्मणा संकुचितस्वरूपं तत्तत्कर्मानुगुणतरतमभावेन वर्तते तच्चेन्द्रियद्वारेण व्यवस्थितम्। तमिममिन्द्रियद्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमयव्यपदेशः प्रवर्तते। ज्ञानप्रसरे कर्तृत्वमस्त्येव तच्च न स्वाभाविकम्। अपितु कर्मकृतमित्यविक्रियस्वरूप एवात्मा। एवं स्वरूपाविक्रियात्मकं ज्ञातृत्वं ज्ञानस्वरूपस्यात्मन एवेति न कदाचिदपि जडस्याहङ्कारस्य ज्ञातृत्वसम्भवः"।

किसी एक पद को देख कर यत्किञ्चित् समझ लेना बाल्य है। पूरे प्रकरण के एकवाक्यत्वानुगुण अर्थ ही विद्वत्सम्मान्य है। वह यदि समझ में न आवे तो तदभिज्ञों से पढ़ना चाहिये।

"कहा जाता है कि—'चिच्छायापत्ति क्या है' इत्यादि अहंकार में संविद का प्रतिबिम्ब विवर्तवादियों के ग्रन्थ से ही सुदूर निरस्त है 'रूपानुपहितप्रतिबिम्बो न युक्तः सुतरां नीरूपे' इत्यादिक सिद्धान्तलेशसंग्रह और उसकी कृष्णालङ्काराख्यटीका में सुविशद उपपादन किया गया है निरूप का प्रतिबिम्ब नहीं होता है कथञ्चित् नीरूप गगन का प्रतिबिम्ब माना भी जाय तो भी नीरूप में प्रतिबिम्ब कथञ्चिदपि सम्भावित नहीं है अतः निरूप अहङ्कार में नीरूप संविद् का कथञ्चिदपि प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है अचाक्षुष शब्द की प्रति शब्दरूप छाया के

विवर्तवादियों से ही किये गये निराकरण को 'ध्वनौ वर्णप्रतिबिम्बत्ववादोऽऽप्य-युक्त' "प्रतिध्वनिरपि न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः" इत्यादि प्रकरणों में देखना चाहिए। प्रमाणान्तरप्राप्तिबाधशून्य परमेश्वर की जगत्कारणता सर्वज्ञता प्रभृतिपरक श्रुति-सूत्रों की चैतन्यगत अन्तःकरणसंसर्गकृत भ्रान्तिवाले नादानों के कथन की अनु-वादकता कहकर अच्छी तरह मरम्मत करके युक्तिविरुद्ध स्वसयूथ्योक्तिविरुद्ध स्वभाष्यकारोक्तिविरुद्ध और सूत्रविरुद्ध अहङ्कार में चैतन्यप्रतिबिम्बसाधने के लिए "अतीन्द्रिय शास्त्रसिद्ध अर्थ में शङ्का का अवकाश नहीं होता" इस उक्ति से शास्त्रभक्ति दिखाई जा रही है।

"एको यथा ज्योतिरात्मा' 'दृश्यते जलचन्द्रवत्' 'अत एव चोपमा सूर्यका-दिवत्" इन श्रुति-सूत्रों का अहङ्कारगत संविद् प्रतिबिम्ब में प्रमाणतया कथन अक्लमन्दी की तारीफ कर रहा है। साक्षात् विवर्तवादियों के भाष्यकार इन श्रुति-सूत्रों के उपाधियों में चैतन्य प्रतिबिम्ब प्रतिपादकता का निराकरण करते हैं—तथाहि "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपार-मार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" इति 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥" इत्येवमादिषु ॥"

जिस कारण से चैतन्यरूप निर्विशेष वाङ्मनसातीत परप्रतिषेधोपदेश्य यह आत्मा है इसी से इसकी उपाधि निमित्त अपारमार्थिकी सविशेषता के अभिप्राय से 'जलसूर्यकादिवत्' यह उपमा—जैसे यह ज्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक होने पर भी घर-भेद से भिन्न जलों में अनुगमन करते हुए बहुत रूप से किये जाते हैं, उसी प्रकार अज स्वप्रकाश यह आत्मा उपाधि से क्षेत्रों में अनुगमन करता हुआ भेदरूप किया जाता है। प्रत्येकभूतों में व्यवस्थित एक ही भूतात्मा एक प्रकार से तथा अनेक प्रकार से जलचन्द्र के समान दीखता है, इत्यादिक मोक्षशास्त्रों में दी जाती है।

"अत्र प्रत्यवस्थीयते—'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" न जलसूर्यकादितुल्य-त्वमिहोपपद्यते तद्वदग्रहणात्। सूर्यादिभ्यो हि मूर्तिभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं

जलं गृह्यते तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिविम्बोदयः । न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात् पृथा-विप्रकृष्टाश्चोपाधयः सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति ।"

यहाँ विरुद्ध पक्ष खड़ा होता है—जलसूर्य प्रतिविम्बादिकों की तुल्यता यहाँ नहीं देखी जाती है यह सर्वलोकसाक्षक है कि रूप वाले सूर्यादिकों से भिन्न दूरदेशस्थ रूपवाला जल दीखता है एवंभूत जल में प्रतिबिम्बोदय सङ्गत हैं। आत्मा तो रूपवाला है नहीं उपाधिगण उससे न तो भिन्न हैं न दूर देशस्थ हैं क्योंकि आत्मा व्यापक है और सर्वात्मक है। अतः यह दृष्टान्त अनुपपन्न है।

अत्र प्रतिविधीयते—"वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात् । न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित् कंचिद् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद् दर्शयितुं शक्यते । सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात् । न चेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादि-दृष्टान्तप्रणयनम् । शास्त्रप्रणीतस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते । किं पुनरत्रविवक्षित-सारूप्यमिति । तदुच्यते—वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जल-वृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानु-यायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेक-रूपमपि सद्ब्रह्मदेहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिधर्मान् वृद्धिह्रासादीन् । एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः ।"

इस आक्षेप में समाधान कहते हैं—दृष्टान्त में विवक्षित अंश के संगत होने से दृष्टान्त संगत ही है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में किसी अंश किसी विवक्षित अंश को छोड़कर सर्वांश में सारूप्य कोई दिखा नहीं सकता। सर्वांशभाव ही विनष्ट हो जायगा। और जलसूर्यकादि दृष्टान्त को मीमांसाकार ने निज बुद्धि से नहीं बनाया। किन्तु शास्त्रप्रणीत इस दृष्टान्त का प्रयोजन मात्र कहते हैं। फिर यहाँ विवक्षित सारूप्य क्या है। उसको कहते हैं—यह सर्वसाक्षिक है कि जलगत सूर्यप्रतिबिम्ब जल के बढ़ने पर बढ़ता है जल के ह्रास होने वर ह्रास होता है, जल के चलने पर चलता है जल के विदीर्ण होने पर विदीर्ण होता है, इस प्रकार जलधर्म का अनुसरण करने वाला होता है, वस्तुतः सूर्य का जलधर्मानुयायित्व नहीं है। इसी प्रकार वास्तव में अविकृत एक रूप ही सद्ब्रह्म देहाद्युपाधियों के अन्तर्गत होने से उपाधि-धर्मवृद्धि-ह्रासादियों को

मानों प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकों की संगति होने से कोई विरोध नहीं है।"

यहाँ प्रकृत भाष्यकार ने पूर्वसूत्रभाष्य में आक्षेप्ता के नीरूप उपाधियों में नीरूप सर्वगत आत्मा का प्रतिबिम्बोदय नहीं हो सकता इस आक्षेपांश को उत्तरसूत्र भाष्य में स्वीकार करके दृष्टान्त समर्थन किया है। यदि यहाँ शङ्का की जाय कि इन सूत्रों के भाष्य के विरुद्ध द्वितीयाध्याय के 'आभास एव च' इस सूत्र का परमात्मप्रतिबिम्बपरक प्रकृतभाष्यकार ने भाष्य किया है। परस्पर विरुद्ध दोनों भाष्यों में किसका आदर किया जाय। इसका उत्तर यही है कि तृतीयाध्याय के सूत्रों का भाष्य सूत्राक्षरानुगुण है और भाष्यकार ने इस भाष्य में उपपत्तियों को भी दिया है अतः यही स्वीकार्य है। एतद्विरुद्ध अनुपपन्न 'आभास एव च' इस सूत्र के विवर्तवादी आचार्य के भाष्य सिद्धान्त-लेशसंङ्ग्रहकार तथा कृष्णालङ्कारख्य तट्टीकाकारों ने तृतीयाध्याय के भाष्य की ही उपादेयता का उपपादन भी किया है। इस प्रकार निज भाष्यकार से अनुपपन्न तथाकथित अहङ्कारादिक में चैतन्यप्रतिबिम्ब का प्रतिपादन सुतरां असंगत है। सूर्य के तेज में दग्धृत्व नहीं है ऐसा सचेता कौन कहेगा। इस प्रकरण का अग्रिम ग्रन्थ कुछ वन्ध्यासुत के निरसन से तच्छौर्यपराक्रमादि के समान चित्प्रतिबिम्बनिरसन से निरस्त है कुछ असारता उपेक्षणीय है।"

उपर्युक्त सन्दर्भ का समाधान यह है कि—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इस श्रुति के अनुसार भगवान् की मायारूप शक्ति स्वाभाविकी अर्थात् भगवान् के स्वरूपभूत हैं। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इस श्रुति के अनुसार भगवान् का स्वरूप साक्षी सर्वपदार्थों का साक्षाद् द्रष्टा तथा रागद्वेष-रहित उदासीन केवल अर्थात् निर्धर्मक और निर्गुण गुणसामन्यरहित है। यह अर्थ पूर्वापर सन्दर्भ के प्रतिकूल कभी नहीं है और यदि है तो आपने क्यों नहीं लिखा ? श्रीकरपात्री जी जो सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है यह कहा है वह भगवत् के स्वरूपभूत-ज्ञान के सम्बन्ध में नहीं है क्योंकि भगवत् का स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है। भगवान् का माया वृत्ति रूप ज्ञान अवश्य सत्त्व-प्रधान माया का कार्य है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में 'कहा जाता है, से लेकर 'और यहाँ गौरव लाघव चिन्तन

का प्रसङ्ग ही क्या है' तक श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी के कथन का समाधान पुनः पुनः कर आये हैं इसलिये यह उनका सन्दर्भ उपेक्षणीय है।

विवर्तवादियों की वृत्ति में स्वरूपज्ञान के प्रतिफलन की कल्पना किसी प्रकार से भी अनुपपन्न नहीं है क्योंकि जड़-अन्तःकरण के परिणाम भूत वृत्ति में स्वरूप-प्रतिफलन के विना विषय-प्रकाशता उपपन्न नहीं हो सकती, यह अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति वृत्ति में स्वरूप ज्ञान के प्रतिफलन में प्रमाण है। जैसा कि खण्डन-कार ने कहा है—

"अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्टि दृष्टवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका" ॥ इति ॥

यद्यपि मरुमरीचिका तोय और अन्तःकरण वृत्ति दोनों मिथ्या हैं तथाऽपि मरुमरीचि तोय प्रातिभासिक है और अन्तःकरण-वृत्ति व्यावहारिक है इस प्रकार वृत्ति मरुमरीचि तोय के समान नहीं है अतः मरुमरीचि तोय में वस्तु का प्रतिफलन नहीं होता है और व्यावहारिक वृत्ति में प्रतिफलन सम्भव है।

यद्यपि नीरूप वस्तु का प्रतिफलन बहुधा नहीं देखा गया है तथापि नीरूप जपाकुसुमादि रूप का प्रतिफलन स्फटिकादि में देखा ही गया है।

प्राणियों के कर्मानुसार उच्चावच विषयों में जीवों के ज्ञानों का संकोचन विकासन ईश्वर-कृत है यह गायत्र्यादि मन्त्रों से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि गायत्री मन्त्र का यह अर्थ नहीं है। 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' इत्यादि गीता-वाक्यों से भी यह नहीं सिद्ध होता कि जीवों के ज्ञानों का संकोचन विकासन ईश्वरकृत है। अत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान आत्माधीन नहीं है और वृत्तिरूप ज्ञान के स्वरूप स्थित्यादि मन के अधीन है। वृत्तिरूप ज्ञान का कर्तृत्व कर्मकृत होनेपर भी स्वाभाविक अर्थात् मन के स्वभाव-सिद्ध ही होगा। इस श्रीकरपात्री जी की उक्ति से क्या आपकी इष्टसिद्धि हुई ?

'न च ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकम्' इत्यादि...न कदाचिदपि जडस्य अहङ्कारस्य ज्ञातृत्वसंभवः' इत्यन्त श्रीभाष्य के सिद्धान्त का यद्यपि हम खण्डन कर आये हैं तथापि यहाँ पर अतिसंक्षेप में पुनः लिख रहे हैं—ज्ञातृत्व ज्ञानरूप क्रिया का कर्तृत्व रूप है यह व्याकरणानुसारी अर्थ है क्योंकि ज्ञाधात्वर्थ क्रिया है और

"कर्तरि कृत्" इस सूत्र के अनुसार 'तृच्' का अर्थ कर्ता है। ज्ञान गुणाश्रयत्व वो ज्ञातृत्व का समानाधिकरण-धर्म है। आत्मा यद्यपि नित्य है तथापि ज्ञान उसका धर्म नहीं है किन्तु उसका स्वरूप है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञान-घनः' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। 'ज्ञोऽत एव' यहाँ पर ज्ञान क्रिया कर्तृत्वरूप ज्ञातृत्व मन में है और ज्ञातृतादात्म्याध्यासापन्न आत्मा 'ज्ञ' पदार्थ है यह इस सूत्र का अभिप्राय है। आत्मा यदि आपके मत में ज्ञान स्वरूप है तो उसमें ज्ञानाश्रयत्व कदाचिदपि उपपन्न नहीं हो सकता, मणि प्रभृति में प्रभाश्रयत्व तो बन सकता है क्योंकि प्रभा मणि का धर्म है, मणि का स्वरूप नहीं है, यदि प्रभा मणि का स्वरूप होती तो मणि का जैसे स्पार्शन प्रत्यक्ष अन्धे को होता है ऐसे उसको प्रभा का भी स्पार्शन प्रत्यक्ष होना चाहिए किन्तु होता नहीं है।

आत्मा का स्वरूप भूत ज्ञान अपरिच्छिन्न है यह अंश तो मान्य है किन्तु वह संकोच विकासार्ह है यह उपपन्न नहीं हो सकता। अतः क्षेत्रज्ञावस्था में कर्म से ज्ञान का स्वरूप इन्द्रियद्वारा संकोच विकास को प्राप्त होता है यह कथन अनुपपन्न है। और नित्य ज्ञान में प्रसार कर्तृत्व तथा उसमें कर्म कर्तृत्व भी अनुपपन्न है। क्योंकि यदि नित्य-ज्ञान में कर्मकृत प्रसार कर्तृत्व माना जाय तो एतादृश कर्तृत्व के कादाचित्क होने से आत्मा विकारी हो जायेगा, अविक्रिय स्वरूप नहीं होगा। इसलिये एतादृश ज्ञातृत्व का साभास अहङ्कार में ही सम्भव हो सकता है।

नीरूप जपाकुसुमरूप का स्फटिक में प्रतिबिम्बार्हता है यह हम बता आये है, अब हम यह बता रहे हैं कि नीरूप शब्द में प्रतिबिम्बग्रहण-शक्ति होती है यह वाक्यपदीय की व्याख्या वृत्ति की व्याख्या में उल्लिखित है और आज का विज्ञान भी इसको सिद्ध कर दिया है! 'टेलीविजन यन्त्र' में जो हजारों मील दूरस्थित वक्ता है उसके मुखप्रतिबिम्ब को लेकर शब्द आता है और वह प्रति बिम्ब रूपवान होने से दिखाई पड़ता है तथा शब्द नीरूप होने से नहीं दिखाई पड़ता वह श्रोत्र से गृहीत होता है। अतः स्वच्छ द्रव्य में प्रतिबिम्बग्राहिता माननी चाहिए।

उपहित ब्रह्म रूप परमेश्वर की जगत्कारणता, सर्वज्ञता परक श्रुति-सूत्रों की

अनुवादकता नहीं है किन्तु लोकानुगत होने से विधायकता है और वह श्रुत्य-तिरिक्त प्रमाण से प्राप्त या बाधित नहीं है श्रुतिप्रमाण से उसका बाध होता है क्योंकि वस्तुतः सर्वधर्मों का निर्विशेष परब्रह्म में निषेध किया गया है। अतः श्रीकरपात्री जी की उक्ति स्वसयूथ्योक्ति विरुद्ध स्वभाष्यकारोक्ति विरुद्ध नहीं है तथा अहङ्कार में चैतन्य प्रतिबिम्ब साधन सूत्र-विरुद्ध नहीं है। अतः 'अतीन्द्रिय शास्त्रसिद्ध अर्थं शङ्का का अवकाश नहीं होता' यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति शास्त्र-सम्मत है। लिखा है कि—

'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।' इति।

अद्वैतवाद में जीव के स्वरूप के प्रतिपादक दो वाद हैं। एक 'प्रतिबिम्ब वाद' और दूसरा 'अवच्छेदवाद'। श्रुतियों में भी यह दोनों वाद उपवर्णित हैं। यदि प्रतिबिम्बवाद का अद्वैतवाद में सर्वथा अभाव माना जाय तो 'जीवेशाव-भासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' यह श्रुति प्रतिबिम्बवाद के बिना सर्वथा अनुपपन्न हो जायेगी।

'अवच्छेदवाद' और 'प्रतिबिम्बवाद' यह दोनों ही सिद्धान्तलेशसंग्रह में मतभेद से उपवर्णित हैं। 'अम्बुवदग्रहणात् तु न तथात्वम्' यह सूत्र प्रतिबिम्व-वाद के खण्डन के अभिप्राय से प्रवृत्त है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने 'एको यथा ज्योतिरात्मा' इस श्रुति की उपपत्ति के लिये सूत्रानुसार 'उपाध्यवच्छेदवाद' का समाश्रयण किया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रतिबिम्बवाद नहीं है। प्रतिबिम्बवाद न होने पर 'जीवेशावभासेन करोति' इस श्रुति की उपपत्ति कैसे होगी। इस प्रकार अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद दोनों ही श्रौत तथा अद्वैतवादियों को तथा श्रीशङ्करभगवत्पाद को मान्य हैं। अतः प्रतिबिम्बवाद के अनुसार श्रीकरपात्री जी ने जो अहङ्कार गत संवित् प्रतिबिम्ब में प्रमाणतया 'एको यथा ज्योतिरात्मा दृश्यते जलचन्द्रवत्' अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादि श्रुतिसूत्रों को कहा है वह बहुत उत्तम है। 'आभास एव च' इस सूत्र में श्रीशङ्करभगवत्पाद ने परमात्म प्रतिबिम्ब परक ही भाष्य लिखा है। दोनों सूत्रों और उनके भाष्यों के देखने से तथा द्विविध श्रुतियों की उपलब्धि से अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद दोनों ही

युक्त हैं। और आभासवाद का विरोधी श्रीभाष्य श्रुति, सूत्र तथा उपपत्ति विरुद्ध होने से अमान्य है। इस प्रकार निज भाष्यकार से अविरुद्ध तथाकथित अहङ्कारादिक में चैतन्य प्रतिबिम्ब का प्रतिपादन सुतरां संगत है।

सूर्य के तेज में दग्धृत्व नहीं है ऐसा सचेता ही कहेगा, क्योंकि तेज में दाह करणत्व ही वहुधा प्रसिद्ध है दाह कर्तृत्व नहीं।

'न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्मभस्मार्हतेजसा।'
(वाल्मीकीय रा० सु० काण्ड)

सूर्य में ही दाहकत्व वहुधा प्रसिद्ध।

अहमर्थ एवं आत्मा की समालोचना समीक्षा

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"सुषुप्त्यादि में अहमर्थ आत्मा का अनुयायित्व 'जो मैं गत वर्षों में श्रीबदरिकानाथ की सन्निधि में वास करता था वही आज यहाँ हूँ'। इत्यादि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष सिद्ध है। सुषुप्त्यादि में अहमर्थ आत्मा का धर्मभूत इच्छादि की वर्तमानता "पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्" इस ब्रह्म मीमांसासूत्र से सिद्ध है। मुक्तिदशा में अहमर्थ आत्मा का धर्मभूत इच्छादिक का सद्भाव "स यदा पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" इत्याद्यनेकश्रुति-सिद्ध है। परब्रह्म में इच्छादि का सद्भाव "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। 'चैतन्य और अहङ्कार में परस्पर अभेद अध्यस्त है' इस भाषा की अशुद्धि का भार विवर्तवादियों के भाष्यकार के ऊपर है जो अध्यास भाष्य में "अन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्य" ऐसा कहते हैं। जो पुरोवाद की गति होगी वही अनुवाद की भी हो जायगी। "अविद्या एवं अहमर्थ से उपहितचैतन्य में ही अनुभव-स्मरण होता है" यह कथन सर्वथा असंगत है सर्वबन्धविनिर्मुक्त मुक्त में सर्वविषय अनुभव 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' 'एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः' इत्यादि श्रुतिसूत्र सिद्ध है। विवर्तवाद में अविज्ञात वस्तुओं का अस्तित्व मानने पर उनका मिथ्यात्व नहीं हो सकता इसको विवर्तवादियों के मुख्यसिद्धान्ती दृष्टिसृष्टिवादियों से पूछ लेना चाहिए। "अहमर्थ भी अविज्ञात कैसे रह सकता है" यह आक्षेप विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के अज्ञान का सूचक है। विशिष्टाद्वैती अहमर्थ आत्मा का

सुषुप्ति प्रलयादि सर्वकाल में प्रत्यक्त्वेन स्फुरण मानते हैं। 'चैतन्य और अहंकार में परस्पर अभेद है" इस भाष्य की अशुद्धि की जिम्मेदारी विवर्तवादियों के भाष्यकार की है। अनुवाद के शुध्यशुद्धि की जिम्मेवारी पुरोवादी की ही है अनुवादी की नहीं विवर्तवादियों के आचार्य का अध्यासभाष्य में "अन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्य" यह पुरोवाद है, पुरोवाद की जो गति वही अनुवाद की भी होगी, विवर्तवादियों का प्रतिबिम्बवाद युक्तिविरुद्ध है तथा सूत्र और विवर्तवादियों के भाष्य से निरस्त है। इसको विवर्तवादियों के ही ग्रन्थ गाते हैं। अवच्छेदवाद कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गबन्धमोक्ष-व्यवस्थानुपपत्त्यादि दोषों से निरस्त है यह भी विवर्तवादियों के ही ग्रन्थ से सिद्ध है। चैतन्य का रावेयत्व के समान अविकृत ब्रह्म की अविद्या से जीवभाव तथाविध अविकृत ब्रह्म का अतितीव्र नरकयातनानुभवितृत्व अतितीव्र नरकयातना सूकरकूकरयोनियों को भोगने वाले जीव का सकल जगत्स्रष्टृत्व "सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इत्यादि श्रुतियों में श्रूयमाण—

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥'

इत्यादिना साक्षाद् वासुदेव से गीयमान सर्वभूत महेश्वर का मिथ्यात्व सूकरकूकर कृमि नरकादि तीव्रयातनाओं को भोगने वाले जीव से कल्पितत्व

मानने वाले विवर्तवादी के मतानुवादजनित तीव्रदुरित निवृत्ति के लिये जिनके नामों को पापभयापह भीष्म ने कहा है उन प्रभु के चरणों की शरणागति करते हैं। एवं प्रकार कुतर्ककल्ककल्पित अन्योऽन्य से निराकृत विवर्तवादियों के कृत्स्न कल्पों को अपनाने वाला उन्हीं के भाषाओं से संकीर्ण 'अहमर्थ' नामक ग्रन्थकै किस कोटि के अर्ह है इसको विवेकी पाठक समझें। इस प्रकार स्वनिहित स्वनिरस्तभाग ग्रन्थक के होने पर भी पाठकों के तोषार्थ समालोचना की जाती है। "अविद्या और अहंकार दोनों घनीभूत एवं द्रवीभूत घृत के तुल्य अभिन्न ही वस्तु हैं, अतः दोनों में भिन्नता नहीं होती" "अतः स्पष्ट है कि सुषुप्ति में विना प्रकाश के अहंकार की वेदान्तियों को कभी मान्य नहीं।" इन परस्पर विरुद्धोक्तियों को विज्ञ समझें। सुषुप्ति में अहंकार की सत्ता की अमान्यता का कथन और द्रवीभूत एवं घनीभूत घृत के तुल्य अन्तःकरण एवं अविद्या के अभेद का कथन परिणाम तत्त्व के अज्ञान का सूचक है। परिणामवादियों को त्रिविध परिणाम इष्ट है धर्मी का धर्मपरिणाम, धर्म का लक्षणपरिणाम, लक्ष्य का अवस्था परिणाम। अवस्थापरिणामों में लक्षणतुल्य बुद्धिव्यपदेश अर्थ क्रिया जनक होता है, जैसे नूतन पुराणोभयावस्था में पट पटबुद्धि का पट शब्द व्यपदेश का आच्छादनरूप अर्थक्रिया का जनक होता है। धर्मपरिणाम में और लक्षणपरिणाम में बुद्धिव्यपदेश अर्थक्रिया भिन्न भिन्न होती है। घृत के द्रवीभाव और घनीभाव अवस्था परिणाम हैं अतः समानकार्यकारित्व उचित हैं। अविद्या का अन्तःकरणरूपेण परिणाम धर्मपरिणाम है धर्मपरिणाम होने पर बुद्धिव्यपदेश अर्थक्रियाओं का भेद होता है, अतः अन्तःकरणावच्छिन्न में उत्पन्न अनुभवजनित संस्कार का आधार अविद्यावच्छिन्न हो नहीं सकता शान्त अन्तःकरण का पुनः उदय हो नहीं सकता दूसरे ही अन्तःकरण का उदय कहना होगा अन्य अन्तःकरणावच्छिन्न के अनुभूत का अन्य अन्तःकरणावच्छिन्न को स्मरण होता नहीं। अतः अन्तःकरणावच्छिन्न को अहमर्थ मानने वाला विवर्तवादी केनापि प्रकारेण "मैंने पूर्व दिनों में ये कर्म किया है, इन इन वस्तुओं का अनुभव किया है और मैं वही हूँ" इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं का उपपादन नहीं कर सकता है। अन्तःकरण के गमनदशा में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यप्रदेशों में भेद होने से प्रतिसन्धानादि की अनुपपत्ति उक्तप्राय है, परिणामीद्रव्य का अभेद होने पर भी धर्मपरिणाम में

तथा लक्षणपरिणाम में अर्थक्रिया भिन्न-भिन्न होती है पिण्डात्मना घटात्मना कपालकपालिका चूर्णाद्यात्मना परिणत मृद्द्रव्य का अभेद होने पर भी तेन तेनात्मना कृतकार्यों के संस्कार तत्तत्परिणामों में ही रहेंगे। घृतपरिणाम में रहनेवाले संस्कार रसासृङ्-मांस-मेदोऽस्थिमज्जा-शुक्र-भस्म-मृदादि रूप से परिणत उसी द्रव्य में पाये नहीं जा सकते। पिण्ड कपाल कपालिका चूर्णादिरूप से परिणत मृद् द्रव्य का अभेद होने पर भी तत्तदवच्छिन्न आकाशप्रदेश जैसे भिन्न-भिन्न होंगे वैसे ही अन्तःकरण अविद्यारूप से परिणत द्रव्य का अभेद होने पर भी तत्तद-वच्छिन्न चेतन्यप्रदेश भिन्न-भिन्न ही होंगे। अतः सुषुप्ति में अन्तःकरण अत्यन्त तथा जागर में उदयमान कर प्रत्यभिज्ञादिक का उपपादन निःसार है सर्वथा अशक्य है। अहमर्थ को आत्मा मानने वाले वैशेषिक नैयायिक मीमांसक विशिष्टा-द्वैति प्रभृतियों का बौद्धपरिपन्थित्व सर्वविज्ञ विदित है। विवर्तवादियों का प्रच्छन्न बौद्धत्वप्रतिपादन वैशेषिकों के, नैयायिकों के, मीमांसा वार्तिककार भट्टपाद के, पार्थसारथिमिश्र के, पञ्चिकाकार श्रीशालिकनाथ के, सांख्यसूत्रभाष्यकर्ता विज्ञान-भिक्षु के और ब्रह्मसूत्रों का द्वैताद्वैतपरक भाष्यकर्ता भास्कराचार्य प्रभृतियों के ग्रन्थों में ही नहीं है किन्तु विवर्तवादियों में ही अन्यतम प्रबोधचन्द्रोदयनाटककार विवर्तवादियों के ग्रन्थों की वेदान्त शब्द से विवक्षा करके—"वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते" इन पदों से विवर्तवादियों के प्रच्छन्नबौद्ध प्रख्याति का प्रतिपादन करते हैं। "नामूला प्रसिद्धिः" इस न्याय से यथार्थ ही प्रसिद्ध है॥

सुषुप्ति में अहमर्थ आत्मा की सत्ता का साधक प्रत्यभिज्ञारूप अनुभव है विरूद्ध अनुभव कोई भी नहीं है। प्रतिपक्षी कहता है कि सुषुप्ति में अहमर्थरूप आत्मा का प्रकाश होता है परन्तु ठीक इसके विपरीत उपनिषद कहती है कि आत्मा सुषुप्ति में मैं हूँ ऐसा नहीं जानता 'न जानात्ययमहमस्तीति छान्दोग्य-प्रजापतिविद्याम्'।—''"मस्तीति छान्दोग्यप्रजापतिविद्याम्" इतने वर्णों का व्यत्यास सीसकाक्षर योजकों की असावधानी के नहीं हो सकते। मालुम पड़ता है अहमर्थ लेखक भूताविष्ट के समान लिखते समय किसी आवेश विशेष से व्याप्त रहता है उसको श्रुति के पद यथावत् सूझते नहीं हैं। श्रुति को आनुपूर्वी यह है—

"नाह खल्वयमेव सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति"

इस श्रुति का विवर्तवादी आचार्य का—"नाह—नैव, सुषुप्तोऽप्यात्मा खल्वयम्, सम्प्रति—सम्यगिदानीञ्च, आत्मानं जानाति—नैवं जानाति। कथम्? अयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि चेति। यथा जाग्रति स्वप्ने वा। अतो विनाशमेव-विनाशमिवेति पूर्ववद् द्रष्टव्यम्। अपीतः—अपि गतो भवति, विनष्ट इव भवतीत्यभिप्रायः। ज्ञाने सति ज्ञातुः सद्भावोऽवगम्यते नासति ज्ञाने। न च सुषुप्तस्य ज्ञानं दृश्यतेऽतो विनष्ट इवेत्यभिप्रायः। न तु विनाशमेवात्मनो मन्यतेऽमृताभयवचनस्य प्रामाण्यमिच्छन्"।

आचार्य इस भाष्य में 'सम्प्रति' शब्द का दो अर्थ कर रहे हैं। सम्यक् और इदानीम्। 'एवं' पद का जानाति पद के साथ और नञ् का 'एवं जानाति' के साथ अन्वय कर रहे हैं। खलु प्रसिद्धार्थक है। सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त यह आत्मा भी सुषुप्त्यवस्था में सम्यक् "मैं इस प्रकार का हूँ" ऐसा नहीं जानता। इस प्रकार की जिज्ञासा उठाते हैं—'कथम्' किस प्रकार से नहीं जानता है। उत्तर श्रुति वाक्य से देते हैं—'अयमहमस्मीति नो एवेमानि चेति' इदम् शब्द की प्रत्यक्षविषय सन्निहितदेश वर्तमानकालविशिष्ट अर्थ में शक्ति पदव्युत्पन्नों को विदित है। जैसे जाग्रत् अवस्था में और स्वप्नावस्था में इस देश में इस काल में हूँ ये प्राणी हैं इस प्रकार जानता है। इस प्रकार से देश में इस काल में मैं हूँ ये सब पदार्थ हैं इस प्रकार नहीं जानता है। भाष्य के 'कथम्' इस प्रकार जिज्ञासोत्थापन से और श्रुतिगत 'अयम्' पद से स्पष्ट सिद्ध है कि 'मैं हूँ' ऐसा अवश्य जानता है किन्तु इस देश में इस प्रकार देशकालविशिष्टतया अपने को नहीं जानता है। "विनाशमेवापीतो भवति" इस श्रुतिवाक्यावयव से सुषुप्ति अवस्था में ज्ञाता (आत्मा) के विनाश की आशङ्का मन्दों को हो सकती है इस आशङ्का का पूर्वापर सन्दर्भानुसन्धाता परमव्युत्पन्न भाष्यकार व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ के परम ऋजु होने से अपह्नव में असमर्थ भाष्यकार निराकरण करते हैं—"अतो विनाशमेव विनाशमिवेति पूर्ववद् द्रष्टव्यम्" पहले 'एव' शब्द की इव शब्दार्थता सिद्ध कर आये हैं उसको यहाँ दृष्टान्त कर रहे हैं। 'विनाशमेवापीतो भवति' इसका 'विनष्ट के समान होते है' यह अभिप्राय कह रहे हैं। इस अभिप्राय को और भी "ज्ञाने सति ज्ञातुः सद्भावोऽवगम्यते नासति ज्ञाने। न च सुषुप्तस्य ज्ञानं दृश्यतेऽतो विनष्ट इवेत्यभिप्रायः" इस भाष्य से अहमर्थ ज्ञाता

आत्मा के सुषुप्ति अवस्था में अविनाश के दृढता के लिये इवार्थक एव शब्दार्थ का उपपादन करते हुए सुस्पष्ट कर रहे हैं। अहमर्थ ज्ञाता आत्मा की सुषुप्ति अवस्था में स्थिति यदि प्रमाण सिद्ध हो तब उसके अविरोध के लिये एव शब्द की अस्वरस इव शब्दार्थता स्वीकृत की जाय, सुषुप्ति अवस्था में अहमर्थ ज्ञाता आत्मा की स्थिति में ही क्या प्रमाण है ? इस शङ्का को दूर करने के लिये अहमर्थ ज्ञाता आत्मा के सुषुप्ति अवस्था में सद्भाव को प्रमाणित कर रहे हैं 'न तु विनाशमेवात्मनो मन्यतेऽमृतामयवचनस्य प्रामाण्यमिच्छन्'' । इस पूर्वापर श्रुतिसन्दर्भ के स्वभाष्य को बिना समझे सुषुप्ति अवस्था में अहमर्थ आत्मा के ज्ञान और सद्भाव के प्रतिपादक श्रुति को सुषुप्ति अवस्था में अहमर्थ आत्मा के ज्ञाना-भाव में प्रमाण देना अत्यन्त असंगत है।"

उपर्युक्त सन्दर्भ का क्रमानुसार समाधान यह है कि—हम पहले बता आये हैं कि अहम् पद का वाच्यार्थ अन्तःकरणोपहित आत्मा है और अहम् पद का लक्ष्यार्थ निर्विशेष आत्मा है। अहम् पद वाच्यार्थ अन्तःकरणोपहित-आत्मा, अन्तःकरण की प्रकृतभूत अविद्या-रूप उपाधि से उपहित होकर सुषुप्ति में अनुगत होता है और अविद्या-कार्य-अन्तःकरण से उपहित होकर सुषुप्ति से उत्थित होता है अतः 'जो मैं गत वर्षों में श्रीवदरिकानाथ की सन्निधि में वास करता था वही आज यहा हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हो जाती है, अतः निर्विशेष आत्मा अहम् पद वाच्यार्थ नहीं सिद्ध होता। सुपुप्त्यादि में अहम् पद वाच्यार्थ अविद्यो-पहित चैतन्यरूप आत्मा का धर्म भूव इच्छादि की वासना-रूपेण अविद्या में वर्तमानता 'पुंस्त्वादिवत्तस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' इस ब्रह्ममीमांसा सूत्र से सिद्ध है।

जीवन्मुक्ति दशा में अविद्या-लेशोपहित चैतन्य रूप अहम् पद वाच्यार्थ-आत्मा का धर्म-भूत इच्छादि का सद्भाव 'स यदा पितृलोककामो भवति-सङ्कल्पा-देवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इत्याद्यनेक श्रुति सिद्ध है।

मायोपहित-चैतन्य-रूप-परमेश्वर में माया-वृत्ति रूप इच्छादि का सद्भाव 'सोऽकामयत वहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति-सिद्ध है। 'अविद्या एवं अहमर्थ अन्तःकरण से उपहित चैतन्य में ही वृत्ति रूप तथा अनुभव स्मरण होता है' यह

कथन सर्वथा संगत है। सर्वबन्ध-विनिर्मुक्त जीवन्मुक्त में सर्वविषयक अमनुव 'सर्वं ह पश्य: पश्यति' 'एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायण:' इत्यादि श्रुति सूत्र सिद्ध है।

"चैतन्य और अहङ्कार में परस्पर अभेद अध्यस्त है" इस त्रिदण्डी स्वामी जी के वाक्य की भाषा अशुद्ध है, इसको इस प्रकार लिखना चाहिए था कि—"चैतन्य और अहंकार में परस्पर में परस्पर का अभेद अध्यस्त है। क्योंकि शाङ्करभाष्य में अन्योऽन्यस्मिन् यह सप्तमी तथा अन्योन्यात्मक तामध्यस्य यह देखा गया है। इस प्रकार पुरोवाद और अनुवाद इन दोनों का अर्थ एक नहीं हुआ। अद्वैतवाद में दृष्टिसृष्टिवाद और सृष्टिदृष्टिवाद यह दोनों समरूप से मान्य तथा अवस्थित हैं। इन दोनों पक्षों का साम्य तथा विकल्प है आपने कोई प्रमाण नहीं दिया कि दृष्टिसृष्टिवाद मुख्य है। अविज्ञात वस्तुओं का अस्तित्व मानने पर सृष्टि-दृष्टिवाद में मिथ्यात्व सिद्ध होता है और दृष्टिसृष्टिवाद में तो वस्तुएं विज्ञान ही होती हैं और उनकी प्रतिभासिक सत्ता मानने पर ही मिथ्यात्व होता है। विशिष्टाद्वैती अहमर्थं आत्मा का सुषुप्ति प्रलयादि सर्वकाल में प्रत्यक्त्वेन स्फुरण मानते हैं यह कहना असङ्गत तथा अनुभव-विरुद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्त्वेन स्फुरण शब्द का अर्थ अहमित्याकारेण स्फुरण अर्थात् भान हो सकता है किन्तु सुषुप्ति में इस प्रकार का भान अनुभवविरुद्ध है सुप्तोत्थित का यह अनुभव है कि 'गाढं मूढोऽहम् आसम् न किञ्चिदवेदिषम्'। विवर्तवादियों का प्रतिबिम्बवाद युक्तियुक्त है यह हम पूर्व में उपपादन कर आये हैं और 'आभास एव' इस सूत्र तथा इसके भाष्य से प्रमाणित है। अवच्छेदवाद मन रूप उपाधि के कल्पान्त स्थायित्व रूप आपेक्षिक नित्यत्व के अभ्युपगम से तथा मन रूप उपाधि के नानात्व से कृतहानाकृताभ्यागम प्रसङ्ग बन्ध-मोक्ष-व्यवस्थानुपपत्त्यादि सर्व दोषों से रहित है।

अद्वैतसिद्धान्त में उपनिषदों के अनुसार तथा 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' 'मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्' इत्यादि वाक्यों के अनुसार प्रकृति: (माया) और पुरुष दो तत्त्व हैं जिसमें माया पुरुष की भेदाभेदाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वाच्या शक्ति है। उस माया के दो रूप हैं। एक माया जो शुद्धसत्त्व-प्रधाना है और दूसरी अविद्या जो मलिन-सत्त्व-प्रधाना है। इन दोनों में पुरुष के

प्रतिविम्ब को ईश्वर तथा जीव कहते हैं । ईश्वर को अपने विम्बस्वरूप का सम्यक् परिज्ञान है इसलिये वह माया धर्मों से अभिभूत नहीं होता है और अविद्या प्रति-विम्ब जीव अपने विशुद्ध-विम्ब-स्वरूप को अविद्यावशग होकर नहीं जानता है अतः आविद्यक-धर्मों से अभिभूत होता है ।

वस्तुतः ईश्वर और जीव इन दोनों का विम्ब-स्वरूप एक ही पुरुष है जैसे—सूर्य के दो प्रतिविम्ब हों, एक सरोवर में और दूसरा शराव में । जीव का वस्तु-भूत स्वरूप पुरुष ही है इस बात को भागवत में बताया गया है—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभतुष्टो
मानं जानादविदुषः कृपणाद् वृणीते ।
यद्यत् करोति पुरुषः पुरुषाय तस्मै
स्वस्यैव तत् प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥

'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' यह श्रुति भी इसी अर्थ को प्रमाणित करती है । इससे त्रिदण्डी स्वामी जी के 'चैतन्य का राघेयत्व के समान अधिकृत ब्रह्म की' इत्यादि पृ० १५१……'इसको विवेकी पाठक समझें' पृ० १५२ तक की गई तीव्र आलोचना का समाधान हो गया । यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी तथा पाठक गण समझें ।

अविद्या और अहंकार दोनों घनीभूत एवं द्रवीभूत घृत के तुल्य अभिन्न ही वस्तु है, अतः दोनों में भिन्नता नहीं होती, अतः स्पष्ट है कि सुषुप्ति में विना प्रकाश के अहङ्कार की सत्ता वेदान्तियों को कभी भी मान्य नहीं है ? यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति परस्पर विरुद्ध नहीं है क्योंकि अविद्या प्रतिविम्ब जीव है यह हम पूर्व में बता आये हैं । प्रकाश का प्रतिविम्ब भी प्रकाशरूप ही होता है यह भी हम बता आये हैं । यहाँ पर श्रीकरपात्री जी की उक्ति में अहङ्कार पर साभास-अविद्या रूप अहमर्थ-परक है । किञ्च श्रीकरपात्री जी की इस उक्ति में घनत्व द्रवत्व यह अविद्या का अवस्था परिणाम है जैसे घृत का द्रवत्व और घनत्व अवस्था परिणाम है ।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने जो यह कहा है कि "अतःकरणावच्छिन्न अनुभव-जनित-संस्कार का आधार अविद्यावच्छिन्न हो नहीं सकता । शान्त अन्तःकरण

का पुन: उदय हो नहीं सकता दूसरे ही अन्त:करण का उदय कहना होगा। अन्य अन्त:करणावच्छिन्न के अनुभूत का अन्य अन्त:करणावच्छिन्न को स्मरण होता नहीं अत: अन्त:करणावच्छिन्न को अहमर्थं मानने वाला विवर्तवादी केनाऽपि प्रकारेण 'मैंने पूर्व दिनों में ये कर्म किये हैं, इन-इन वस्तुओं का अनुभव किया है और मैं वही हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञाओं का उपपादन नहीं कर सकता।"

इसका समाधान यह है कि अन्त:करण अविद्या का कार्य है और अविद्या उसकी प्रकृति है अनुभव जनित संस्कार के सहित अन्त:करण सुषुप्ति काल में अविद्या रूप स्वप्रकृति में लीन होता है उसका विनाश नहीं होता क्योंकि अद्वैती भी सांख्य की तरह सत्यार्थवादी है अत: अविद्या में स्थित सवासन अन्त:करण जाग्रद्दशा में वही अविद्या से उद्गत होता है अत: प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति अद्वैतवाद में भी हो सकती है। अन्त:करण के गमन-दशा में अन्त:करणावच्छिन्न-चैतन्य प्रदेशों में भेद होने से प्रतिसन्धानादि की अनुपपत्ति कहना असङ्गत है क्योंकि अन्त:करणरूप उपाधि का प्रदेश-भेद से भेद नहीं होता। सुषुप्ति में अन्त:करण का अत्यय अर्थात् स्वप्रकृति अविद्या में प्रलीनता है तथा जागर में उसका स्वरूपेण आविर्भाव उदय है इसमें प्रदेश भेद की चर्चा करना व्यर्थ है। अहमर्थं को आत्मा मानने वाले वैशेषिकनैयायिक अद्वैतवाद को वेद-नय कहते हैं जैसा कि नैयायिक-शिरोमणि उदयनाचार्य का यह वाक्य है— 'किमार्द्रकवणिजां महाबहित्रचिन्तया' तथा उन्हीं का यह श्लोक है—

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः
तद् बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः॥

सांख्य-सूत्रों के भाष्यकर्ता विज्ञान भिक्षु ईश्वर को नहीं मानने वाले नास्तिक थे। श्रीभास्कराचार्य ने अद्वैतमत को कहीं भी प्रच्छन्न नास्तिकों का मत नहीं लिखा है। प्रबोधचन्द्रोदय-नाटक के नास्तिक पात्रों के द्वारा कहवाया गया वाक्य 'वेदान्ता: यदि शास्त्राणि बौद्धै: किमपराध्यते' यह तत्पर वाक्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस वाक्य में वेदान्त शब्द है जो कि वेद के अन्त उपनिषद

अहंकारावच्छिन्न चैतन्य ही अविद्यावच्छिरूप से विद्यमान रहता है। इस तरह जब प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति अन्यथा हो जाती है तब ज्ञान (त) सत्ता वाले अहं का अनुभव एवं श्रुतिविरुद्ध अज्ञात सत्ता क्यों मानी जाय" विवर्तवाद में अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य ही अहंपदवाच्यार्थ ग्रन्थि है अतः "अहं या मैं शब्द का प्रयोग अहं पदवाच्यार्थ ग्रन्थि में न होकर अहंकारावच्छिन्न चैतन्य में ही होता है यह कथन अत्यन्त असंगत है। अहंकारावच्छिन्न को ही अहं पदवाच्यार्थ ग्रन्थि होने से हो विवर्तवादियों में अन्तःकरणोपहित को साक्षी मानने वाले सुषुप्ति में प्रमाता के अभाव का तथा साक्षी के सद्भाव का उपपादन करते हैं। सुषुप्ति कालिक आत्मा अहं पद प्रयोग का विषय नहीं है यह श्रीमधुसूदनसरस्वती को इष्ट है"।

उपर्युक्त सन्दर्भ का समाधान यह है कि—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जो अहम् पद का वाच्यार्थ है वही सुषुप्ति काल में अविद्यावच्छिन्न चैतन्य है। उसमें सवासन अन्तःकरण लीन है अतः सुप्तोत्थित की 'स एवाऽहम्' यह प्रत्यभिज्ञा उपपन्न हो सकती है यह हम पहले स्पष्ट रूप से बता आये हैं। सुषुप्ति काल में उक्त अहमर्थ की अज्ञातसत्ता इसलिये है क्योंकि वह अविद्या से आवृत है और इस बात को श्रुति भी कह रही है 'नो जानाति अयमहमस्मि' इति। और अविद्यावृत्त होने पर भी वह स्वयं भान रूप है अतः स्वावरक' अविद्या तथा तत्कार्य सुषुप्ति का प्रकाशन करता ही है अत एव सुप्तोत्थित का यह अनुभव है कि 'सुखमहमस्वाप्सम् न किंचिदवेदिषम्'

सुषुप्ति कालिक आत्मा अहम् पद प्रयोग का तथा अहमित्याकारक भान का विषय नहीं है फिर भी वह अहमर्थ ही है क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन्य और अविद्यावच्छिन्न चैतन्य यह दोनों सुषुप्ति-काल में एक हो रहे हैं क्योंकि सुषुप्ति काल में अन्तःकरण का अविद्या में लय हो जाता है इस सिद्धान्त का किसी भी अद्वैतियों के ग्रन्थ से विरोध नहीं है।

अतः सुषुप्ति-कालिक आत्मा अहम् पद प्रयोग का विषय नहीं है यह श्री-मधुसूदन सरस्वती के इष्ट है, यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी की उक्ति स्वार्थ-साधिका नहीं है किन्तु अनर्थक है।

भाग को कहता है क्या आप इस वाक्य के अनुसार उपनिषदभाग को नास्तिक ग्रन्थ कहने के लिये तैयार होंगे। सुषुप्ति में अहम् पद वाच्यार्थ अविद्योपहित चैतन्यरूप आत्मा की सत्ता का साधक प्रत्यभिज्ञारूप अनुभव है विरुद्ध अनुभव कोई भी नहीं है।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रति आत्मानं जानाति, अयमहमस्मि' इस श्रुति वाक्य का ओर 'नेवं जानाति। कथम्? अयमहमस्मीति।' इन भाष्य-वाक्यों का यह अर्थ करते हैं कि 'सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त यह आत्मा भी सुषुप्ति अवस्था में सम्यक् 'मैं इस प्रकार का हूँ' ऐसा नहीं जानता' 'अयमहमस्मि' इसका 'मैं यह हूँ' यह अर्थ करना उचित है। 'मैं इस प्रकार का हूँ' यह अर्थ करना स्वमताभिनिवेश मात्र है। 'विनाशमिव अपीतो भवति' इस भाष्य-वाक्य से आत्मस्वरूप के अत्यन्त अज्ञान के कारण श्रुति-पाठकों को प्राप्त विनाशाशंका को निवृत्ति के लिए भाष्यकार 'विनाशमिव अपीतो भवति' इस प्रकार 'एव' शब्द की 'इव' शब्दार्थ परतया व्याख्या करते हैं। इस भाष्य के अनुसार सुषुप्ति में आत्मा में विनष्ट वस्तु का सादृश्य अभाव रूप ही प्रतीत होता है। इस प्रकार पूर्वापर श्रुति-सन्दर्भ के स्वभाष्य को समझ कर ही सुषुप्त्यवस्था में अविद्योपहित चैतन्यरूप अहम् पद वाच्यार्थ आत्मा के ज्ञानाभाव और सद्भाव की प्रतिपादक श्रुति को श्रीकरपात्री जी महाराज अविद्योपहित अहम् पदवाच्यार्थ आत्मा के ज्ञानाभाव में प्रमाण देना अत्यन्त संगत समझते हैं।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी यह कहते हैं कि—"जो समझते हैं कि "सोने के—उसी के निद्रा अज्ञानादि का भी प्रकाश होता है"। पूर्व कहा जा चुका है कि धर्मी धर्म परिणाम होने पर बुद्धिव्यपदेश अर्थ क्रिया भिन्न-भिन्न होती है सुषुप्ति में अन्तःकरण का अत्यय हो जाने पर सुषुप्ति कालिक अविद्यावच्छिन्न चैतन्य में अहंपद प्रयोग की सर्वथानुपपत्ति होने से सुषुप्त्युत्तर काल में उदित अन्तःकरण की अन्यता होने से 'पूर्व दिनों में अनुभव करने वाला ही मैं हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती "उक्त सर्वत्र स्थलों में अहं या मैं शब्द का प्रयोग अहं पदवाच्यार्थ ग्रन्थि में न होकर अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य में ही होता है। उसका अस्तित्व वेदान्ती को भी मान्य ही है क्योंकि सुप्ति में

अत एवाहमर्थस्यात्मान्यत्वे यः पूर्वं दुःखी सोऽधुना सुखी जातः इतिवत् यः पूर्वं मदन्यः सुषुप्तः सोऽधुनाऽहं जात इति धीः स्यादिति निरस्तम्। यथा दुःखित्वेन प्राक् ज्ञानं तथा तदन्यत्वेन प्राक् ज्ञानाभावात्। सुषुप्तावहमर्थाप्रकाशवत् तदन्यत्वस्याप्यप्रकाश एव। एवञ्च प्रागसत्वाग्रहणात् पूर्वकालगृहीतेनाभिन्नतया गृह्यमाणत्वाच्च नाहंकारे जन्मप्रत्ययः। विवेकिनाञ्चैतादृग्बुद्धाविष्टापत्तेः।

इस उद्धरण के बाद त्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है कि—

"यहाँ पूर्व सुषुप्त मदन्य है, वह जागने पर अहंरूप से जनमता है, जो पूर्व मदन्य सोया था; वही जागने पर अहंरूप से जनमा, ऐसी विवेकियों की बुद्धि भी इष्ट है, यह स्पष्ट कहा गया है।" (अ० वि १५९)

इस आक्षेप का समाधान यह है कि विवर्तवादियों को सत्कार्यवाद इष्ट है। सत्कार्यवाद में उत्पत्ति के पूर्व कारण में सूक्ष्मरूप से अवस्थित कार्य के कारण-सामग्रीप्रयुक्त आविर्भाव को जन्म कहते हैं और कार्य के तिरोभाव के सामग्रीप्रयुक्त तिरोभाव को विनाश कहते हैं। ऐसी अवस्था में सुषुप्ति के पूर्व तथा उत्तर में अहंकार का वास्तविक भेद नहीं है किन्तु आविर्भाव और तिरोभावरूप उपाधि से परिकल्पित भेद को लेकर "विवेकिनाञ्चैतादृग्बुद्धाविष्टापत्तेः" वह अद्वैत-सिद्धि-ग्रन्थ-प्रवृत्त है। यह कहा जा सकता है।

इसके बाद ही "परामृश्यमानात्मैक्यारोपात्तद्भानांशे परामर्शत्वाभिमानात्" यह अद्वैतसिद्धि के ही उद्धरण को देकर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "अहमस्वाप्सम्" इस परामर्श के अहमंश के भानांश में परामृश्यमान आत्मा के ऐक्यारोप से परामर्शत्व की भ्रान्ति विवर्तवादियों ने कही है, जब कि विवर्तवादियों के इन उक्तियों से सुस्पष्ट है कि सुषुप्ति-पूर्व-कालिक ज्ञाता कर्ता अहमर्थ अन्य है, सौषुप्तिक आत्मा अन्य है। सुषुप्त्युत्तर जागरणकालिक अहमर्थ अन्य है, तब पूर्व दिनों के किये हुए कर्मों या अनुभूत वस्तुओं का स्मरण या प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकती है।"

इसका उत्तर हम पहले ही सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को लेकर कर आये हैं। सुषुप्ति के पूर्वकालिक अहमर्थ सौषुप्तिक अहमर्थ सुषुप्त्युत्तर जागरणकालिक अहमर्थ वस्तुतः सत्कार्यवाद में एक है, आविर्भाव और तिरोभावरूप उपाधि को लेकर

औपाधिक तथा व्यावहारिक भेद है, इस प्रकार भेद और अभेद दोनों की उपपत्ति हो जाती है।

इसके बाद १५९ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "सुषुप्ति पूर्वकाल में अन्य प्रदेश में कार्य या अनुभव किया, अन्य प्रदेश में शयन किया, शयनोत्तर अन्य प्रदेश में, स्मरण करता है, इस प्रकार अहंकारावच्छिन्नचैतन्य प्रदेशों के भी भिन्न-भिन्न होने से भी स्मरण और प्रत्यभिज्ञाओं की अनुपपत्ति विवर्तवादियों के पक्ष में सुदृढ़ है।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि देह के साथ ही अहंकार भी गतिशील है, अद्वैत-मत में चैतन्य व्यापक है, अतः अहंकारावच्छिन्नचैतन्य सर्वत्र एक ही है। अतः देश-भेद से अहंकार में स्मरण या प्रत्यभिज्ञा की कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसके बाद १६० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में स्वस्मै स्वयं भासमान अहमर्थ आत्मा ज्ञाता का नित्यस्फुरण होने से सुषुप्तिकाल में भी स्फुरण है। 'सुखमहमस्वाप्सम्, 'नाहमवेदिषम्' यह अनुमित्यात्मक या स्मरणात्मक ज्ञान सुषुप्तिकाल में अहमर्थ के सद्भाव को और अहमर्थ के धर्मभूत ज्ञानाभाव को सिद्ध कर रहा है। यदि यह विवर्तवादी को मान्य है कि 'सुषुप्ति में अविद्योपहित चैतन्यरूप स्वप्रकाशसाक्षी स्फुरणस्वरूप विद्यमान है। वह अविद्या और तत्कार्य सुषुप्ति दोनों का साक्षी (भासक) है। वह सुखस्वरूप तो स्वयं है। अथवा दुःखाभावरूप उपचरित तत्कालिक सुख का भी साक्षी है। सुषुप्तिकाल में सवासन अहंकार सूक्ष्मरूप से अविद्या में विलीन होकर स्थित है। अहंकार का विनाश नहीं है किन्तु तिरोभाव है। अतः स्मरण या प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति नहीं है। सुषुप्ति में अनुभूत अहमर्थसाक्षिचैतन्य ही है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"सुखमहमस्वाप्सम्, नाहमवेदिषम्" यह ज्ञान अभिनय मात्र है, शब्दबोधार्थ पदों का समभिव्याहर नहीं है, अतः अहंपद लक्ष्यार्थ साक्षी है, यह कथन असंगत है'। यह आक्षेप सर्वथा असंगत है। क्योंकि करपात्री जी का अभिप्राय यह है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों में जो अहंपद का लक्ष्य है वही स्वप्रकाश साक्षिरूप अहमर्थ सुषुप्तिकाल में भासता है।

श्रीकरपात्री जी ने लिखा था कि "परन्तु 'सुखमहमस्वाप्सम्' के तुल्य 'नाहमवेदिषम्' मैं सुखपूर्वक सोया था, मैंने उस समय कुछ नहीं जाना, यह सुप्तोत्थित का स्मरण होता है, यह स्मरण अनुभवमूलक ही है, अतः सुषुप्ति एवं अज्ञान का अनुभव मानना ही चाहिये।"

इसका खण्डन श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने किया है कि "यह कथन नितान्त अज्ञानमूलक है। योगभाष्य में तम के समुल्लास की विशेषता से त्रिविध सुषुप्ति के त्रिविध प्रत्यवमर्श कहे गये हैं 'सुखमहमस्वाप्सम्' प्रसन्नं मे मनः, प्रज्ञां मे विशदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सम्, स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्। गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्, गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तमलसमुषितमिव तिष्ठतीति।' विवर्तवादी यदि 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रत्यवमर्श के बल से सुषुप्ति में सुखानुभव मानें तब तो 'दुःखमहमस्वाप्सम्' 'गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्' इन परमर्शों के बल से सुषुप्ति में दुःखानुभव मोहानुभव भी मानने पड़ेंगे।"

यह आक्षेप असंगत है क्योंकि सुषुप्ति में दुःख नहीं होता। अतः वहाँ पर दुःखानुभव तथा सुप्तोत्थित को दुःखस्मरण नहीं होगा। स्वप्नावस्था में दुःखानुभव होता है। अतः सुप्तोत्थित को 'दुःखमहमस्वाप्सम्' यह स्मरण इष्ट ही है। और मोहपदार्थ अविद्या है। अतः अविद्यानुभव अथवा मोहानुभव सुषुप्ति में है। अतः 'गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्' यह सुप्तोत्थित को स्मरण होता है। विवर्तवादी सुषुप्ति में आत्मस्वरूपभूत सुख का अनुभव आत्मा को स्वप्रकाश होने से मानता है और सुषुप्ति में अन्तःकरण और उसकी सुखाकारवृत्ति नहीं होती। सुषुप्ति में आत्मस्वरूपभूत सुखाकार अविद्यावृत्ति है।

श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी १६१ पृष्ठ में लिखते हैं कि "एक जीववाद जिसका दूसरा नाम दृष्टिसृष्टिवाद है वही विवर्तवादियों का मुख्य सिद्धान्त है, उसको अप्पयदीक्षित तथा मधुसूदनसरस्वती चुलुकित कर गये हैं। दृष्टिसृष्टिवाद में कृत्स्न दृश्यों के प्रातीतिक होने से चक्षुरादिक इन्द्रिय तथा उनकी वृत्तियों की अन्तःकरण तथा उनकी वृत्तियों की आवश्यकता नहीं है।"

इसका समाधान यह है कि अद्वैतवाद के रुचिभेद और अधिकारिभेद से उपपत्ति के लिये व्यावहरिक-सत्तावाद प्रातिभासिक-सत्तावाद (विवर्तवाद) दृष्टिसृष्टिवाद अथवा सृष्टिदृष्टिवाद आदि अनेक सिद्धान्त वर्णित हैं। इनमें कोई

मुख्य तथा कोई गौण नहीं हैं। रुचिभेद से इनका खण्डन तथा मण्डन दोनों ही अद्वैतवादियों को अभीष्ट हैं क्योंकि अद्वैतवादी अपने सिद्धान्तों की भी व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक-सत्ता ही मानते हैं। यदि अद्वैतवादी अपने सिद्धान्तों की परमार्थसत्ता मानें तो अद्वैतवाद अनुपपन्न हो जायेगा।

वह कहते हैं 'क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्' जब अद्वैतवादी विवर्तवाद के सिद्धान्तानुसार दृष्टिसृष्टिवाद में कृत्स्नविश्व की प्रातिभासिक-सत्ता मानते हैं तब चक्षुरादिक इन्द्रिय और अन्तःकरण तथा उनकी वृत्तियों की भी प्रातिभासिकसत्ता अनुभवानुसार क्यों नहीं मानेंगे। इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त में :—

"प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।"

इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अनुसार अतिमात्र प्रवृद्धतम से सात्त्विक अन्तःकरण के प्रसार का निरोध हो जाने से बद्धावस्था में अन्तःकरण-प्रसाराधीन प्रसार वाले धर्मभूत ज्ञान की काष्ठा प्राप्तप्रसाराभाव से अनभिव्यक्तावस्था हो जाती है।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि अद्वैतवाद में जीवोपाधि अविद्या है, वह त्रिगुणात्मक है, इसलिये सुषुप्तिकाल में सात्विक प्रधान अन्तःकरण का विलय और अविद्या के गुण तम की प्रवृद्धि बन सकती है। विशिष्टाद्वैतवाद में तम किमाश्रित है जिसको सुषुप्ति में प्रवृद्ध तम आप कह रहे हैं। और विशिष्टाद्वैतवाद में नित्य स्वप्रकाश आत्मा के धर्मभूत नित्य ज्ञान का अन्तःकरण के संकोच और प्रसार के अधीन संकोच और प्रसार अनुपपन्न हैं क्योंकि संकोच और प्रसार अनित्य वस्तु प्रभा आदि का देखा गया है नित्य का नहीं। क्योंकि प्रशिथिलावयव संयोग प्रसार है और निविडावयव संयोग संकोच है। ज्ञान के संकोच और प्रसार मानने पर सावयवत्व मानना होगा ही और सावयवत्व से अनित्यत्व सिद्ध होगा।

१६२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि 'अहमर्थं प्रत्यगात्मा के भी धर्मभूत ज्ञानप्रकाशने वाले धर्मों का प्रकाश नहीं रहता है। अतः अस्फुट केवल अनुदितानस्तमितरूप प्रकाश सुषुप्ति अवस्था में रहता है:'

यह कथन विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि इस कथन से प्रतीत होता है कि "स्वप्रकाश आत्मा का धर्म ज्ञान जड़ है और उसके प्रकाशने वाले धर्म भी जड़ हैं क्योंकि उनका प्रकाश सुषुप्ति में नहीं रहता है। और अस्फुट प्रकाश को अनुदित कहना व्याहत है।"

इसी पृष्ठ में इसके वाद श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि 'स्वप्रकाशात्मक ज्ञान का प्रत्यक्त्व अनुकूल एकत्व प्रकारकत्व सिद्धान्त-सम्मत है, अत एव 'सुख-महमस्वाप्सम्' यह प्रत्यभिज्ञान उपपन्न है, यदि सुषुप्तिकाल में आत्मगतानुकूलत्व का अनुभव न होता तब उसका प्रतिसन्धान न होता, क्योंकि अनुभूत विषय के प्रतिसन्धान प्रकाश हो नहीं सकता।"

यह कथन अविचारित रमणीय है क्योंकि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में प्रत्यक् का स्वरूप ज्ञातृरूप है ज्ञानरूप नहीं। और स्वरूपात्मक ज्ञान में एकत्व प्रकारकत्व न तो प्रत्यक्त्व का प्रयोजक है और न कारण है। स्वरूपात्मक ज्ञानगत सुषुप्ति के पूर्वोत्तरकाल में एकत्व भले ही प्रत्यभिज्ञा का प्रयोजक या करण हो सकता है। और सुषुप्ति में आत्मगत अनुकूलत्व का अनुभव नहीं होता है और न सुप्तोत्थित को उसका प्रतिसन्धान ही होता है, सुषुप्ति में स्वरूपभूत सुख का अनुभव और सुप्तोत्थित को उसका प्रतिसन्धान नहीं होता है, सुख अनुकूलवेदनीय है, अनुकूलत्वरूप नहीं। धर्मभूत ज्ञान के संकोच और प्रसार का खण्डन हम पीछे कह आये हैं।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "यदि शंका की जाये कि 'स्तोकं पचति' इस प्रतीति में पाक के स्तोकत्व के समान 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रतीति में स्वाप का ही सुखरूपत्व भासता है, तब उसका उत्तर है कि ज्ञान-सामान्याभावरूप आत्मगत स्वाप को अधिकरण स्वरूप होने से स्वापगत आनुकूल्य आत्मगत आनुकूल्यरूप ही है"।

यहाँ पर आनुकूल्य के स्थान पर अनुकूल वेदनीयत्व कहना उचित होता। क्योंकि स्वाप या आत्मा जब सुख रूप है तब उसमें अनुकूलवेदनीयत्वरूप सुख-धर्म रहेगा। अनुकूलत्व नहीं।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "'सुखमहमस्वाप्सम्' इस ज्ञान में स्वापांश और कालांश में प्रत्यभिज्ञारूपता नहीं है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में

असन्निकृष्टार्थ पूर्वानुभूत ही भासता है। अतः स्वापांश और कालांश में अनुमिति-रूप एक ज्ञान है। और सुखविशिष्टात्मांश में प्रत्यभिज्ञारूप अपर ज्ञान है"।

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि अभिलाप और अभिलप्यमान को समान-विषयकत्व उचित है। जब 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस वाक्य में एकवाक्यार्थविषयकै-कज्ञानजनकत्व माना जाता है तब अभिलप्यमान ज्ञान को भी विशिष्टार्थविषयक एक ज्ञान मानना ही उचित होगा। ज्ञानद्वय मानना अनुभव के विरुद्ध है। 'सुख-महमस्वाप्सम्' इसका 'अतीतकालिकं स्वापमनुमिनोमि' इस प्रकार का अनुव्यव-साय न होने से स्वापांश और कालांश में अनुमिति मानना अत्यन्त अयुक्त है। अतः यहां पर प्रदर्शित कालानुमानद्वय के विचार की आवश्यकता नहीं है। अतः 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह प्रतिसन्धानरूप एक ही ज्ञान है। 'प्रातश्चत्वरे गजो नाभूत्' यहाँ पर प्रातःकालिक चत्वर में गजस्मरणपूर्वक गजाभाव का प्रत्यक्ष हुआ था अतः प्रतिसन्धान हैं अन्यथा अभिलाप में एकवाक्यता न होती। 'पर्वतो वह्निमान्' यहाँ पर भी वृत्तिभेद होने पर भी ज्ञान ही है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह ज्ञान अहमर्थ अंश में भी स्मरण ही है। क्योंकि अद्वैतवाद में सुषुप्ति में साक्षिचैतन्यरूप अनुभव ही अहमर्थ है, उससे जन्य संस्कार द्वारा स्मरण उपपन्न होगा। अथवा सुषुप्ति में साक्षिचैतन्यरूप जो अहं-पद-लक्ष्यार्थ तदाकारा अविद्या वृत्ति हो सकती है, वही अनुभव है, तज्जन्य संस्कार से अहमर्थ का स्मरण उपपन्न होगा। अथवा सुषुप्ति के पूर्व जो अन्तःकरण के अहमर्थाकारवृत्तिरूप अनुभव तज्जन्य संस्कारसहित अन्तःकरण सुषुप्तिकाल में अविद्या में लीन हुआ। अतः प्रबोधकाल में उद्बुद्ध संस्कार द्वारा अहमर्थ का स्मरण उपपन्न होगा। इस प्रकार अद्वैत-वाद में 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रतिसन्धान की अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकार अनुभूत स्वरूपसुख और अहमर्थ, और सुषुप्ति तीनों को गोचर करने वाला 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह प्रतिसन्धानात्मक ज्ञान एक है। यद्यपि अहमर्थ सदा प्रत्यक्ष ही होता है तथापि अहमर्थाकार अपरोक्ष और सुखाकार तथा स्वापाकार परोक्षवृत्ति के भेद होने पर भी ज्ञान एक ही है जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनु-मित्यात्मक ज्ञान स्वावच्छेदक वृत्तिभेद होने पर भी एक ही है। अतः श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का यह कथन कि 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह ज्ञान ज्ञानद्वयात्मक है, असंगत है।

१६४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है कि "सुपुप्तिकाल में दुःख तथा मोह के अनुभव की कथञ्चिदपि संभावना न होने से योगभाष्योक्त 'दुःख-महमस्वाप्सम्' 'गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्' इन प्रत्यभिज्ञाओं से दुःख तथा मोह का भान सन्निकर्ष प्रयुक्त है।"

यह कथन असंगत है क्योंकि दुःख का अनुभव स्वप्नावस्था में होता है उसका परामर्श 'दुःखमहमस्वाप्सम्' यह है। और मोह अविद्या है, उसका भान सुषुप्ति में साक्षिचैतन्यप्रयुक्त है। अतः 'गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्' यह भी परामर्श उपपन्न होगा। तब इन दोनों परामर्शों को सन्निकर्षप्रयुक्त कहना असंगत है।

इसी पृष्ठ में आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "यद्यपि योग दर्शन में सुषुप्ति भी वृत्ति मानी गई है तथापि 'एतावन्तं कालं किञ्चिदहमवेदिषम्। प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽपि व्यक्तियोगात्' इत्यादि प्रमाणों से प्रत्यक्स्वरूप प्रकाशातिरिक्त ज्ञान-सामान्याभाव ही सुषुप्ति है।"

यह कथन असंगत है क्योंकि 'सुखमहमस्वाप्सम्' 'न किञ्चिदवेदिषम्' इस परामर्श में सुषुप्ति और अविद्या का पृथक्-पृथक् भान है। अतः अविद्या प्रकृति है और सुषुप्ति उसका परिणाम है। यतः सुषुप्ति अविद्या की वृत्ति है। इस विषय में योगदर्शन और अद्वैतदर्शन का इतना ही भेद है कि अद्वैतदर्शन सुषुप्ति को अविद्या मानता है और योगदर्शन अन्तःकरणवृत्ति। 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' यह भी अविद्याविषयक ही प्रमाण है। 'पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' इस सूत्र से भी सुषुप्ति में अविद्या की ही सिद्धि होती है।

'देवदत्तप्रमा तत्स्थप्रमाभावातिरेकिणः।
भावस्य भेदिकामात्वादविगीतप्रमा यथा।'

अविद्या भाव पदार्थ है, यह अद्वैतियों का परम सिद्धान्त है। यह भावरूप अविद्या का साधक अनुमान है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से सुषुप्ति को अविद्या-वृत्ति मानना ही उचित है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥

इस भागवत पद्य में बुद्धि शब्द अन्तःकरण परक है, वृत्ति अवस्था परक है। यह कथन श्रुतिविरुद्ध और योग दर्शन विरुद्ध है। क्योंकि श्रुति कहती है—

'सुपुप्तिकाले सकले विलीने पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।'

योग दर्शन में कहा है—

'वृत्तयः पञ्चतय्यः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।'

यहाँ पर निद्रा का अर्थ सुषुप्ति है। स्वप्न विपर्ययवृत्ति से गतार्थ है। अतः प्रकृत भागवतपद्य में 'स्वरूपेण चाविद्यात्मताऽवस्थितताया बुद्धेः' यह विशेषण अध्याहार करके अर्थ करना उचित होगा। इस अर्थ में श्रुतिविरोध, योग-दर्शन विरोध वृत्तिपद की अवस्था में लक्षणा सब दोषों का परिहार होगा।

१६४ तथा १६५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "कृत्स्न वृत्ति रहित होना मन की सुषुप्त्यवस्था है। अतः सुपुप्ति भी मनोवृत्ति है।"

इसके आगे लिखते हैं कि "आत्मा का केवल 'अहमित्येकाकारेण अवभासमान की निर्व्यापारावस्था के अधीन है। अतः इस अवभास को सुषुप्ति कहते हैं।"

यह दोनों लेख परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि इसमें पहले सुषुप्ति को मनोवृत्ति बताया है और आगे अवभास को सुषुप्ति कहते हुए सुषुप्ति को आत्मधर्म कहा गया है क्योंकि अवभास ज्ञान है और वह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में आत्म-धर्म है।

१६५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "तथापि 'प्रत्यगात्माहं' प्रतीति का ही विषय है, यह अयोगव्यवच्छेद निर्बाध है।"

यह कहना असंगत है, क्योंकि उद्देश्य संगत एवकार अथवा तदर्थक पद अन्ययोगव्यवच्छेदक होते हैं। प्रकृत में 'अहम्' प्रतीति उद्देश्य है और उसमें प्रत्यगात्मरूप विषयसम्बन्धित्व विधेय है। अतः यहाँ पर उद्देश्य संगत एवकार्थक ही पद अन्ययोगव्यवच्छेदक होगा। अयोगव्यवच्छेदक नहीं। जैसे 'पर्वतस्यैवायं वह्निर्नतु महानसस्य'। यहाँ पर पर्वत उद्देश्य है और उसमें वह्निसम्बन्धित्व विधेय है।

इसी पृष्ठ में आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "विवर्तवादियों के भाष्यकार ने भी 'युष्मदस्मत्प्रात्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः' इस ग्रन्थ से पराग्व्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयक अस्मत् प्रत्यय को ही कहा है।"

इस भाष्य से अहंकारावच्छिन्न चैतन्यरूप ही अहमर्थ भाष्यकार को अभिप्रेत है क्योंकि यह अध्यास भाष्य कहा जाता है तथा पूर्वपक्षभाष्य है। निर्विशेष चैतन्यरूप अहंपद का लक्ष्यार्थ तो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य में ही प्रसिद्ध है। दशश्लोकी में 'शिवः केवलोऽहम्' इस वाक्य में अहंपद का लक्ष्यार्थ निर्विशेष चैतन्य ही अभिप्रेत है क्योंकि सविशेष चैतन्य में निर्धर्मकत्वरूप केवलत्व का बाध है। 'अहमन्नम्' इत्यादि श्रुति सर्वोपाधिविनिर्मुक्त मुक्त के स्वरूपानुभव को नहीं बता रही है किन्तु अहंकारावच्छिन्न चैतन्यरूप अहमर्थ में अन्नत्वारोपरूप उपासना को बता रही है। अतः यह श्रुतिजन्य ज्ञान आरोपात्मक होने से मिथ्या है। सर्वत्र अहंग्रहोपासना मिथ्या होने पर भी स्वप्नादिवत् सत्यार्थ साधक है।

पृष्ठ १६६ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "अतः सर्वावस्थाओं में प्रत्यगात्मस्वरूप का अनुभव अहंत्वप्रकारक ही है। श्रुति-स्मृति-सूत्रों में उद्घुष्यमाण स्वाभाविक-सार्वज्ञ्यसर्वशक्तित्वशाली निखिलजगदुदयविभवलयलील मुक्तिद मुक्तभोग्य सर्वेश्वर को भी जो विवर्तवादी अविद्या जीव कल्पित कहने का साहस करते हैं वे प्रत्यगात्मस्वरूपानुभव में अनुभूयमान प्रत्यगात्मैक्यारोपात् अहमंश का भान कहें इसमें क्या आश्चर्य है उनका तुण्ड निरङ्कुश है।"

इन आक्षेपों का समाधान यह है कि सर्वेश्वर को अविद्यया जीवकल्पित विवर्तवादी नहीं कहते हैं किन्तु जीवेश्वरभेद को अविद्याकल्पित कहते हैं 'स्वाज्ञान-कल्पितजगत्परमेश्वरत्व जीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा:'। और श्रुति सर्वेश्वर को मायाकल्पित बताती है :—

'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'।

और आपने जो सर्वेश्वर को मुक्तभोग्य कहा है इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

इसी पृष्ठ में आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "जब दृढतर प्रमाणों से सिद्ध स्वस्मै स्वयं भासमानप्रत्यगात्मा अहमर्थ ही है तब 'चैतन्य अहमर्थाश्रित नहीं है किन्तु अहमर्थाभासक नित्यप्रकाशसाक्षिस्वरूप है' यह कथन निःसार कथनमात्र है। भाव-तद्धितान्त चैतन्यशब्दका 'चेतनस्य भावः चैतन्यम्' यह विग्रह

ही चैतन्य के चेतन अहमर्थाश्रितत्व का साधक है। अनादिनिधन चेतन प्रत्यगात्मा को ही अहमर्थरूप होने से अविद्या का अहमर्थ जननीत्व कथन चार्वकसौहार्द कथनमात्र है"।

इसका समाधान यह है कि जब पूर्वोक्त दृढतर प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा अहंपद का लक्ष्यार्थ है तो वाच्यार्थ तो अहंकारावच्छिन्न चैतन्य ही है तब चैतन्य अहमर्थाश्रित नहीं है किन्तु अहमर्थभासक नित्यस्वप्रकाश-साक्षिस्वरूप है यह कथन सारवद् है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानघन एव' इत्यादि श्रुतियों से आत्मा की चैतन्यरूपता सिद्ध होती है, जीवात्मा के उपाधि अन्तःकरण को वृत्तिरूप ज्ञान के आश्रय होने से तदुपहित आत्मा को चेतन कहते हैं। अथवा 'इह बने आम्राः' की तरह एक में ही आधाराधेयभाव की कल्पना करके चेतनपद का प्रयोग है। इस प्रकार जब अनादिनिधनचिद्रूप प्रत्यगात्मा अहं पद का वाच्यार्थ नहीं हुआ तब अविद्या अहंकाररूप अहमर्थ की जननी है यह कथन समुचित तथा सत्य सिद्ध हुआ।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "विवर्तवादियों की असंग चिति उपाधि और औपाधिक से युक्त नहीं होती, उपाधि औपाधिकों से युक्त कहना भ्रान्तिमूलक है"।

यह आक्षेप असंगत है क्योंकि विवर्तवाद में यद्यपि चिति परमार्थतः असंगत है तथापि व्यवहार दशा में उसका उपाधिकृत परिच्छेद व्यावहारिक सत्य है ही।

१६७ पृष्ठ पर श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है "शान्त अहंकार तथा उदित अहंकार भिन्न-भिन्न ही होंगे"।

इसके आगे लिखा है "प्रदेश में भेद से अहंकारावच्छिन्न चैतन्य भी भिन्न-भिन्न ही होगा"।

इसका समाधान यह है कि अहंकार तथा उसका आश्रय देह गतिशील है और चैतन्य व्यापक है। अतः सर्वप्रदेशों में अहंकारावच्छिन्न चैतन्य वस्तुतः एक है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है कि "ब्रह्म में आगन्तुक-

धर्माश्रयत्वरूप विकार प्रमाण सिद्ध है। अत एव ब्रह्म उपादान कारण है। निर्विकारत्व श्रुतियाँ स्वरूपान्यथाभावलक्षण विकार का निषेध करती हैं"।

यह कथन असंगत है क्योंकि जब ब्रह्म आगन्तुक धर्मों का उपादान कारण होगा तब उसमें स्वरूपान्यथाभावरूप विकार अनिवार्य है। अतः ब्रह्म को आगन्तुक धर्मों का विवर्तोपादान मानना ही उचित है।

आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "विवर्तवादियों की चिति असंग-स्वगत-सजातीय-विजातीय-भेद-शून्य होने से किसी धर्म का आश्रय नहीं हो सकती।

इसका उत्तर सुरेश्वराचार्य के इस वचन से हो जाता है :—

"अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥

१६७ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है कि "विवर्तवादियों का अहमर्थ प्रतिसुषुप्ति विनाशी है, सान्वय नाश होने पर भी शान्तधर्म का पुनः उदय नहीं होता"।

विवर्तवाद में सत्कार्यवाद को लेकर इसका उत्तर कई बार कर चुके हैं। यहीं पर लिखा है कि "प्रदेश भेद से अहमर्थावच्छिन्न चैतन्य भी भिन्न होगा। एवं सति विवर्तवादियों के यहाँ स्मरणादि की व्यवस्था कथञ्चिदपि संपादित नहीं की जा सकती है"।

इसका समाधान भी हम कई बार कर चुके हैं कि सवासन अहंकार गतिशील है और चैतन्य व्यापक है। अतः प्रदेश-भेद से अहंकारावच्छिन्न चैतन्य का भेद तथा तत्प्रयुक्त स्मरणानुपपत्ति नहीं होगी।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डीस्वामी जी लिखते हैं कि "विज्ञानवादी विज्ञानों को क्षणिक मानता हुआ भी क्षणिकत्वादि धर्मों को वास्तविक नहीं मानता है, उसका निर्वाण सर्वभेदोपप्लव रहित अखण्ड स्वप्रकाश विज्ञानात्मक ही है। विवर्तवादियों के यहाँ भी मिथ्याभेद की अनेक प्रक्रियायें हैं, उनमें अन्यतमाविज्ञानवादी की भी प्रक्रिया हो सकती है। विज्ञानवादियों के निर्वाण में और विवर्तवादियों के कैवल्य में लेशतोऽपि अन्तर नहीं है। अतः नानाप्रक्रिया वाले विवर्तवादियों के

सिद्धान्तैक्य के समान विज्ञानवादियों के भी साथ सिद्धान्तैक्य कथन में कोई आपत्ति नहीं है"।

यह सब कथन विज्ञानवाद और विवर्तवाद के सिद्धान्तों के न जानने का फल है। क्योंकि विज्ञानवादी विज्ञानों को क्षणिक तथा परस्पर भिन्न मानता है। अद्वैतवादी विज्ञान को स्वगत-सजातीय-विजातीय भेद-शून्य तथा नित्य मानता है। विज्ञानवादी विश्व को विज्ञानाकार विशेष मानता हुआ आन्तर तथा सत्य मानता है, विज्ञानातिरिक्त बाह्य विश्व नहीं। अद्वैतवादी विश्व को विज्ञानाकार नहीं मानता किन्तु माया का परिणाम तथा व्यावहारिक सत्य तथा ईशसृष्ट मानता है। अद्वैतवादी वेदविहित तथा वेदनिषिद्ध कर्मों का फल स्वर्ग-नरकादि मानता है। चित्तशुद्धि के लिये वेदोक्त नित्यकर्मों की अवश्यानुष्ठेयता समर्थक है। वह व्यवहारदशा में वेदोक्त कर्मों की अवहेलना को पापकर्म समझता है। वह युक्तावस्था में :—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।"

इस गति को मानता है और व्यवहारदशा तथा साधनावस्था में :—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।"

इस गति को भी मानता है। अद्वैतवादी 'मन्मना भव' इस पद्य का कोई दूसरा अर्थ नहीं करता है। विशिष्टाद्वैतवादी "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः"। इस गीता की ओर 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों की अवहेलना करता है। विज्ञानवादी क्षणिकत्वादि धर्मों को विज्ञानाकार विशेष होने से वास्तविक मानता है। विज्ञानवादी का मोक्ष विज्ञानस्वरूप होते हुए भी प्रति जीव भिन्न है क्योंकि उसके मत में अनन्तात्मवाद है। अतः विज्ञानवादी का निर्वाण सर्वभेदोपप्लव रहित नहीं है। विज्ञानवादी के स्वप्रकाशसिद्धान्त में क्रिया-कर्म-भाव है और अद्वैतवादी के सिद्धान्त में नहीं। अद्वैतवादी तो प्रकाश को आत्मा का स्वरूप ही मानता है। विज्ञानवादियों के यहाँ भेद मिथ्या नहीं है किन्तु विज्ञानाकारविशेष होने से सत्य है। विज्ञानवादियों का निर्वाण अनन्तविज्ञानात्म-रूप होने से अनन्त है। अद्वैतवादी का निर्वाण एकात्मरूप होने से एक है। अतः विज्ञानवादी और अद्वैतवादी का सिद्धान्तैक्य कथमपि नहीं हो सकता।

१६८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "पूर्व-घट-परिणाम-भूत-मृदंश, पूर्वाहंकारपरिणाम-भूत अविद्यांश" ।

ये दोनों वाक्य असंगत हैं क्योंकि कार्य का परिणाम उपादान नहीं होता । उपादान का परिणाम कार्य होता है । "पूर्वाहंकार परिणामभूत अविद्यांश' से अपर अहंकार का उदय हो यह नियम नहीं बन सकता" यह श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कहना असंगत है क्योंकि सत्कार्यवाद में विलीन अहंकार तथा उदीयमान अहंकार तथा उसके उपादान में अणुमात्र का भी भेद नहीं है । अतः प्रतिजीव अविद्या भेद हो अथवा अविद्यैक्य दोनों सिद्धान्तों में सुप्तोत्थित की प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हो सकती है :

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी के कतिपय आक्षेप हैं ।

१—अहंकारादि के गमन से अहंकारावच्छिन्न चैतन्य का गमन सर्वथा अनुपपन्न है ।

२—चैतन्य प्रदेश भेद से व्यवस्था अनुपपन्न है ।

३—जब "अहमस्वाप्सम्" यह परामर्शविशिष्ट अहमर्थ को ही विषय कर रहा है तब "अस्मद् शब्द लक्ष्यार्थ अखण्डबोधरूप आत्मा ही सोपाधिकरूप से प्रत्यभिज्ञा का गोचर होता है" यह कथन प्रलापमात्र है ।

४—'नैयायिकों के अनुसार नहीं प्रकाशने पर भी अहमर्थ आत्मा का सद्भाव निश्चित हो सकता है' इसका खण्डन स्वप्रक्रिया-रटनमात्र से नहीं हो सकता ।

५—वस्तुतः सुषुप्ति में अहन्त्वेन प्रकाशमान ही अहमर्थ आत्मा विशिष्टाद्वैतियों को सम्मत है ।

इन आक्षेपों का क्रमशः यह उत्तर है—

१—उपाधि के गमनागमन से उपहित में गमनागमन व्यवहार होता है । जैसे घटाकाशो गतः, घटाकाश आगतः ।

२—अद्वैतवादी उपाधिभेद से सर्वव्यवस्था करता है, चैतन्य प्रदेश भेद से नहीं । और पूर्वोक्त रीति से अहंकारावच्छिन्न चैतन्य के एक होने से प्रत्यभिज्ञा की व्यवस्था बन सकती है ।

३—अहंकार का उपादानकारण अविद्या है । सुषुप्तिकाल में अहंकार अविद्या में ही लीन हो जाता है, नष्ट नहीं होता । सुषुप्ति के बाद उसी अहंकार

का पुनः उदय होता है। सुषुप्ति अविद्या की परिणामरूप वृत्ति है, सुषुप्ति अविद्योपहित चैतन्यरूप साक्षी से भास्य है। अतः सुप्तोत्थित का 'अहमस्वाप्सम्' यह परामर्श (स्मरण) उपपन्न होगा। सुषुप्तिकालिक अविद्यावच्छिन्न चैतन्य और प्रबोधकालिक अहंकारावच्छिन्न चैतन्य एक ही है। क्योंकि मृत्तिका और घट की तरह अविद्या और अहंकार में कोई भेद नहीं है। सुषुप्तिकाल में अविद्योपहित चैतन्य सुषुप्ति का आश्रय है। अतः प्रबोधकाल में अहंकारावच्छिन्न चैतन्य में स्वापवैशिष्ट्य का स्मरण हो सकता है।

४—सुषुप्तिकाल में अहंपद के लक्ष्यार्थ साक्षिचैतन्य की सत्ता अद्वैती भी मानता ही है, केवल अहंकार की स्वरूपेण सुषुप्ति में सत्ता को नहीं मानता। साक्षिचैतन्य सर्वदा स्वप्रकाश है। नैयायिक की तरह आत्मा की अज्ञात सत्ता को अद्वैती नहीं मानता।

५—सुषुप्ति में आत्मा का अहन्त्वेन प्रकाश नहीं होता। क्योंकि सुषुप्ति में आत्मा का अहंत्वप्रकारज्ञान यदि मान लिया जाय तो सुषुप्ति में सविकल्पक ज्ञान सिद्ध हो जायगा। किन्तु सुषुप्ति में सविकल्पक ज्ञान कोई नहीं मानता।

१६९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है "नाहं किञ्चिदवेदिषम्, 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह प्रत्यभिज्ञान सुषुप्ति में ज्ञाता स्वस्मै स्वयं भासमान अहमर्थ आत्मा को ही सिद्ध कर रहा है, यहाँ अहंकारावच्छिन्न चैतन्य की कोई चर्चा ही नहीं है"।

इसका समाधान यह है कि प्रत्यभिज्ञान सुषुप्ति में अहमर्थ को नहीं सिद्ध करता क्योंकि ज्ञाता ज्ञानाश्रय को कहते हैं। और सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता। हम पहले भी कह चुके हैं कि सत्कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार अहमर्थ अहंकार का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। सर्वथा विनाश नहीं होता। अतः अहंकारावच्छिन्न चैतन्य की यहाँ चर्चा उपपन्न है।

आगे लिखते हैं कि 'अहं के रहते सुषुप्ति होती ही नहीं है।' यह कथन निःसत् है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह प्रत्यभिज्ञान सुखसुषुप्तिविशिष्ट अहमर्थ को ही सिद्ध कर रहा है।"

इसका समाधान यह है कि सुषुप्ति में कोई ज्ञान नहीं होता अतः अहं इत्याकारक ज्ञान भी नहीं होता। जो सुख सुषुप्तिविशिष्ट अहमर्थ (अहंकारावच्छिन्न चैतन्य) का उपाधि अहंकार सुषुप्तिकाल में अविद्यारूप से अवस्थित है

उसी का आविर्भाव प्रबोध में हुआ, अतः यह प्रत्यभिज्ञान सुख सुषुप्तिविशिष्ट अहमर्थ (अहंकारावच्छिन्न चैतन्य) का अवगाहन कर सकता है।

इसके आगे वहीं श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "जैसे तिल की अरक्षावस्था में तैलरहित तिल की उपलब्धि में कोई आपत्ति नहीं है। जैसे पुरुष की बाल्यावस्था में पुंस्त्व धातु-विशेष की उपलब्धि न होने पर भी पुरुष की उपलब्धि में कोई आपत्ति नहीं है वैसे चैतन्य इच्छादि गुणों की उपलब्धि न होने पर भी स्वस्मै स्वयं भासमान अहमर्थ की उपलब्धि में कोई आपत्ति नहीं है"।

यह दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि तैलरहित तिल की उपलब्धि हो सकती है, पुंस्त्व धातुविशेष रहित पुरुष की उपलब्धि हो सकती है किन्तु चैतन्य (ज्ञान) और इच्छादि गुणों से रहित अहमर्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अहमर्थोपाधि अहंकार प्रबोध में ही रहता है। सुषुप्ति में उसका स्वकारण अविद्या में तिरोभाव हो जाता है। अतः प्रबोध में चैतन्य इच्छादि गुणों का अहंकार में अभाव या अनुपलब्धि नहीं हो सकती। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' यह श्रुति इसमें प्रमाण है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं—"जब सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रत्यभिज्ञान से स्वापविशिष्ट अहमर्थ सिद्ध हो रहा है तब अहं के प्रस्वाप-विशिष्ट होने का अर्थ ही है अहं का प्रविलय यह कौन सचेता कह सकता है"।

इसका उत्तर है कि जब 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रत्यभिज्ञान से पूर्वोक्त युक्तियों से सुषुप्तिकाल में स्वापविशिष्ट अहमर्थ नहीं सिद्ध हो रहा है तब अहं के प्रस्वापविशिष्ट होने का अर्थ ही है अहं का प्रविलय यह कौन सचेता नहीं कह सकता। प्रकृत में प्रस्वाप सुषुप्ति और प्रविलय एकार्थक ही हैं।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादी सम्मत सुषुप्ति में चैतन्य प्रकाश अत्यन्त अनुपपन्न है क्योंकि जिस काल में आश्रय और विषय प्रकाशते हैं उसी काल में चैतन्य प्रकाशता है। चैतन्य-व्यवहारानुगुण-प्रकाशनिष्ठ व्याप्यता-निरूपित-विषयाश्रय-प्रकाश की व्यापकता वैशेषिक, नैयायिक, भाट्ट, प्राभाकर प्रभृति सम्मत है, व्यापकविषयाश्रय प्रकाश के बिना व्याप्य चैतन्य व्यवहारानुगुण प्रकाश हो नहीं सकता। मुक्ति में अहमर्थ प्रत्यगात्म प्रकाश का समर्थन क्रियासमभिहारेण कर आये हैं"।

इसका समाधान यह है कि चैतन्य नित्य तथा आत्मरूप है। वह स्वप्रकाश होने से विषय-प्रकाश अथवा आश्रय-प्रकाश को अपेक्षा आत्मप्रकाश में नहीं करता।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

यह श्रुति इसमें प्रमाण है। वह व्यवहारकाल में व्यवहारानुगुण प्रकाश है। सुषुप्ति और मुक्ति में व्यवहाराभावदशा में भी नित्य स्वप्रकाश होने से प्रकाशमान ही हैं। अतः चैतन्यरूप-प्रकाश और विषयाश्रय-प्रकाश का व्याप्य व्यापक-भाव अनुपपन्न हैं। मुक्तिकालिक आत्मा अहंपद का लक्ष्यार्थ है और वह स्व-प्रकाश होने से उस काल में भी प्रकाशमान है ऐसा अद्वैतवादी मानता है।

१७० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "कुछ लोग कहते हैं प्रत्यगात्मा मुक्ति में यदि नहीं जाना जाता तो बोधन सर्वथा असंभव नहीं है।" यह कथन नितान्त निःसार है। पता नहीं लगता कि 'न वह सबको अपने लिये प्रकाशता है' यह कथन किस ध्वनि में टपक पड़ा। धातु विशेषों से कर्तृगामि क्रियाफल की विवक्षा में परस्मैपद प्रत्ययों के प्रयोग व्याकरण स्मृति में विहित हैं। अहमर्थ प्रत्यगात्मा स्वस्मै स्वयं प्रकाशता है इसका अर्थ है कि प्रत्यगात्म-प्रकाश का फल प्रत्यगात्मगामी है। जड़ प्रकाश का फल भी प्रत्यगात्म में ही है। चैतन्यप्रकाश का फल भी प्रत्यगात्मा में ही है। इस अर्थ को विवर्तवादियों के भाष्यकार ने भी कहा है :—

साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्युपलब्ध्यभावोपपत्तिरित्यादि। शिला-घनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत् इत्यन्त (भाष्य) माभूत् ज्ञानयोः साम्येन ग्राह्यग्राहक-भाव इत्यादि। अवगन्तुश्चेत् कस्यचिदपि न प्रकाशते कृतमवगमेन स्वयं प्रकाशेन इत्यन्त (भामती)।"

इसका समाधान यह है कि नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मा मुक्ति अथवा सुषुप्ति में वेद्य और वेदन साधन के अभाव से नहीं जानता और तात्कालिक आत्मा का बोधन निर्विशेष होने से विधिमुख से न हो कर इतर (निषेधमुख) से होता है। प्रत्यगात्म प्रकाश यद्यपि नित्य है और उसमें प्रकटता भी नित्य तथा स्वरूप-भूत है अतः उसमें फलत्वव्यवहार अनुपपन्न है तथापि नित्य विज्ञानरूप आत्मा वृत्त्यभावदशा में अविद्या से आवृत है और अविद्या विरोधिवृत्ति दशा में अनावृत्त है। अतः उसके प्राकट्य में फलत्वव्यवहार हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि

प्रत्यगात्मप्रकाश का प्राकटचरूप फल प्रत्यगात्मगामी है तथापि जड़ प्रकाश का तथा वृत्तिरूप ज्ञान प्रकाश का प्राकटचरूप फल प्रत्यगात्मगामी नहीं है किन्तु जड़गामी तथा ज्ञानगामी है। क्योंकि हम भी ज्ञानतारूप (प्राकट्यरूप) फल को विषयगामी ही मानते हैं। भाष्य और भामती का यहाँ जो उद्धरण दिया गया है वह अद्वैत संप्रदाय के अज्ञान से है।

'ग्राह्योऽप्यर्थः प्रमातारं प्रति सत्यां संविदि प्रकटः, संविदपि प्रकटा।'

इस भाष्य से अर्थ में भी प्रकट्रूप फल प्रतीत होता है। वृत्तिरूप ज्ञान भी ग्राह्य ही है अतः उसमें भी प्राकट्य है। प्रकृत भाष्य के व्याख्यानभूत भामती से भी यही सिद्ध होता है।

१७१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "अतः जड़ चैतन्य चेतन अहमर्थ प्रत्यगात्मा के ही शेष हैं, सर्वशेषी अहमर्थ प्रत्यगात्मा सम्पूर्ण पुरुषार्थों की पर्यवसान भूमि है, किसी अन्य का शेष नहीं है। अत एव विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में अहन्त्व की पर्यवसान भूमि परमात्मा ही है"

इसका प्रत्याख्यान यह है कि प्रत्यगात्मा अद्वैतसिद्धान्तानुसार जीवका निकृष्टरूप हो अथवा परमतानुसार परमात्म रूप हो उसका शेष चेतन नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों का चेतनत्व समान है। समान में शेषशेषिभाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता। और प्रत्यगात्मा सर्वथा अविकृत है अतः उसमें जड़चैतन्यकृतोपकारकृतविकार की संभावना नहीं है इस प्रकार अहमर्थ प्रत्यगात्मा को सर्वशेषी कहना असंगत है। और प्रत्यगात्मा सम्पूर्ण पुरुषार्थों की पर्यवसानभूमि नहीं हो सकता। क्योंकि अर्थधर्मकामरूप त्रिविधपुरुषार्थों का उस निर्विकार चैतन्यरूप प्रत्यगर्थ में संभव नहीं है। मोक्षरूप परम पुरुषार्थ का ही वह पर्यवसानभूमि हो सकता है क्योंकि मोक्ष तत्स्वरूप है। 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अहन्त्व की पर्यवसानभूमि परमात्मा ही है।' यह कथन भी अद्वैत-वाद का ही साधक है क्योंकि इससे जीव और परमात्मा में अहंग्रहपूर्वक ऐक्य ही सिद्ध होता है।

१७२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "इस अर्थ स्थिति को नहीं जानने के कारण गुरु शिष्य को अर्थबोधन करता है' इत्यादिक प्रलाप है।

मालूम पड़ता है कि 'जब बोधन के पहले ही वह अपने और अन्य को जानता है तब उसका बोधन व्यर्थ ही है।' इत्यादि वेहोसी में लिखा गया है। क्योंकि अपने से अन्य अज्ञशिष्य को जानकर ही गुरु शिष्य को बोधन करता है।"

यह सब कथन असंगत है क्योंकि जब गुरूपदेश के पहले ही शिष्य जीव और परमात्मा के भेद को जानता ही है तब उसका बोधन व्यर्थ ही है यह श्रीकरपात्री जी का अभिप्राय है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है कि "कहा जाता है दीपादि-प्रत्युत प्रपञ्चज्ञानरूप ही है, यह सब कथन बालकों के जैसा नासमझी का है। अतः उपेक्षणीय है"।

यह सब कथन अहेतुक होने से असंगत तथा उपेक्षणीय है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "प्रकृत में अनुपयुक्त होने पर भी इतना यहाँ बता दिया जाता है कि ज्ञानहननादि क्रियाओं में कर्ता का कर्मत्व लोक-वेद सम्मत है। 'स्वयं विजानाति, स्वयं पश्यति' इत्यादि लौकिक प्रयोग प्रामाणिक है।

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः, आत्मानं चेद्विजानीयात्, ये के चात्महनो जनाः।'

इत्यादि वैदिक प्रयोग हैं। लक्षण-समन्वय प्रकार पण्डितों से जानना चाहिए"।

यह सब कथन असंगत है क्योंकि एक में एक क्रिया निरुपपत्ति कर्तृत्व और कर्मत्व एक काल में अनुपपन्न है। 'स्वयं विजानाति, स्वयं पश्यति, स्वयं हन्ति' में औपाधिक भेद अथवा स्वतः सिद्ध भेद को लेकर कर्तृत्व कर्मत्व को उपपत्ति हो सकती है। 'परसमवेतक्रियाफलशालित्वं कर्मत्वं' यह कर्मलक्षण शास्त्रसम्मत है। अत एव 'चैत्रः स्वं गच्छति' यह प्रयोग नहीं होता। कर्ता कर्म के एक होने पर 'मल्लो मल्लं गच्छति, विहगो विहगं गच्छति' इत्यादि प्रयोग भी नहीं होते। 'स्वयं विजानाति' यहाँ पर वृत्तिरूप ज्ञान का कर्ता अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाता है और स्वशब्दार्थ अन्तःकरणोपहित चैतन्य कर्म है। प्रमाता में अन्तःकरण विशेषण है और प्रमेय (विज्ञेय) में अन्तःकरण उपाधि है। इसलिए यहाँ पर कर्ता और कर्म का भेद है।

'विद्यमानत्वे सति विधेयान्वयित्वे च सति व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वम्।'

'विद्यमानत्वे सति विधेयान्वयित्वे च सति व्यावर्तकत्वं उपाधित्वम्।'

यह विशेषण और, उपाधि के भिन्न-भिन्न लक्षण हैं। लक्षणसमन्वय का प्रकार पण्डितों से पूछना चाहिए। ग्रन्थगौरवभय से यहाँ पर नहीं लिखते हैं। 'स्वयं पश्यति' यहाँ पर यदि दृश्धात्वर्थं चाक्षुषज्ञान हो तब स्वशब्दार्थं आत्मीय देह है और कर्ता प्रमाता है। यदि शब्दार्थं आत्मा है तब 'स्वं विजानाति' कर्म की तरह कर्तृ-कर्म भेद उपपन्न होगा। 'स्वं हन्ति' यहाँ पर 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इस गीता के अनुसार स्वशब्दार्थं देह है और कर्ता देहेन्द्रियाद्यवच्छिन्न आत्मा है। 'आत्मानं चेद् विजानीयात्' इत्यादि वैदिक वचनों को 'स्वं विजानाति' की तरह जानना चाहिये।

इसी पृष्ठ के अन्त में श्री त्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "कहा जाता है कि 'जीवात्मा चन्दन—उसके बल पर अहं का प्रकाश कैसे मान्य हो सकता है।' यह सब बालभाषित हैं। विषयानुभवितृरूप स्वस्मै स्वयं भासमानत्व नहीं है स्वस्मै स्वयं भासमानत्व का सविशद अर्थ कह आये हैं। उससे भी ठीक से न समझ में आये तो अभिज्ञों की शुश्रूषा करके जानना चाहिये।"

इसका उत्तर यह है कि हेतूपन्यास और दोषोपन्यास के बिना बालभाषित कहना असंगत है।

'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्।'

इस अभियुक्तोक्ति का अनुसरण करना चाहिये। हम आत्मा में परस्मै भासमानत्व का उपपादन कर आये हैं। अत एव जड़ और चैतन्य (वृत्तिरूप विज्ञान) में ज्ञातत्व (प्राकट्य) रूप फल अनुभूत होता है। इस प्रकार आत्मा में परस्मै भासमानत्व तथा विषयानुभवितृत्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा में स्वयं भासमानत्व अद्वैती भी मानता है किन्तु निर्विशेष तथा निर्विकार आत्मा में स्वप्रकाश प्रयुक्त कोई फल नहीं मानता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का फल वस्तुतः अनुपपन्न है। इस प्रकार स्वस्मै भासमानत्व का विशद अर्थं समझ कर ही हम खण्डन कर रहे हैं।

इसके बाद श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "इस प्रकरण का अग्रिम वाक्य प्रायः जरद्गवादि वाक्यों के समान असगंत है। जो कुछ आक्षेप हैं वे पूर्व ग्रन्थ से सुसमाहित हैं। अतः उनकी उपेक्षा की जाती है।"

इसका उत्तर भी यही है कि "श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी के ये वाक्य प्रायः जरद्गवादि वाक्यों के समान असंगत हैं और जो कुछ आक्षेप हैं वे पूर्व ग्रन्थ से सुसमाहित हैं। अतः उनकी उपेक्षा की जाती है"।

ज्ञान नित्यत्व की समालोचना करते हुए श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि— "सकर्मक सकर्तृक ज्ञाधात्वर्थं ज्ञान का आत्मत्व परमात्मत्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है"।

यह सब कथन अद्वैत सिद्धान्त को न जानने के कारण हैं। क्योंकि अद्वैती आत्मस्वरूपभूत नित्य ज्ञान को न तो क्रियारूप मानता है और न सकर्मक और सकर्तृक मानता है, उसके अवच्छेदक उपाधि वृत्तिरूप अनित्य ज्ञान को सकर्मक-सकर्तृक क्रियारूप होने से तदुपहित नित्य-ज्ञानरूप चैतन्य में सकर्तृक-सकर्मक क्रियारूपत्व व्यवहार औपाधिक होता है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। विज्ञानघन एव।' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के ज्ञानरूपत्व में प्रमाण हैं।

इसके बाद श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "ज्ञानपद आत्मा के धर्मभूत ज्ञान में रूढ है, ज्ञानगत स्वयं प्रकाशत्व धर्मयोग से निरूढ-लक्षणया आत्मविषयक भी क्वचित् क्वचित् प्रयोग पाया जाता है, यह कह आये हैं।"

यह सब कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि लोकव्यवहार में ज्ञान पद का प्रयोग वृत्त्युपहित चिद्रूप ज्ञान में है।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्तिसारूप्यमितरत्र'

योगसूत्र इसमें प्रमाण है। अन्तःकरण के परिणाम तथा धर्मभूत वृत्ति में निरूढा लक्षणा से ज्ञानपद का प्रयोग होता है। अध्यात्म शास्त्रों में आत्मा में प्रयुज्यमान ज्ञान पद की स्वयं प्रकाशत्वधर्मयोग से निरूढलक्षणा कहना स्व-सिद्धान्ताभिनिवेशमूलक तथा अप्रामाणिक है। आत्मा और ज्ञान दोनों को स्वयं प्रकाश बताना नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्रभाकर तथा नास्तिकदर्शनकार सबके विरुद्ध तथा व्यर्थ है। एकतर के स्वयं प्रकाश मानने से ही सर्व दृश्यों की भानोपपत्ति हो सकती है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में अन्तोदात्त ज्ञानपद ज्ञानवदर्थक है, इसका उपपादन पहले कर आये हैं।"

इसका उत्तर यह है कि यदि प्रकृत श्रुति में ज्ञानपद की अन्तोदात्तता प्रमित हो तब ज्ञानपद की अन्तोदात्तता भावल्युडन्त होने पर भी घृतादित्व कल्पना से उपपन्न हो सकती है। सर्वत्र श्रुतियों में तथा श्रुत्यर्थानुवादक इतर अध्यात्म-शास्त्रों में ज्ञानपद की ज्ञानवत् में लक्षणा-कल्पनापेक्षया घृतादित्वकल्पना श्रेयस्करी है।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में विज्ञानादिपद निरूढलक्षणया विज्ञानातिगत स्वयं प्रकाशत्वधर्मयोग से प्रयुक्त है"।

इसका उत्तर अभी पीछे कर आये हैं। श्रुति में शक्यार्थवाद यदि प्रबल-प्रमाण से हो तब लक्षणा मानना उचित है अन्यथा नहीं। प्रकृत में शक्यार्थबाध न होने से ज्ञान ज्ञानपद की ज्ञानवत् में लक्षणा अनुचित है।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "इस प्रकार ज्ञानादिशब्दितोद्देशेन तत्त्व का विधान :—

'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥'

इस पद्य में किया गया है, उद्देश्यत्वसहचरित अनुवाद्यत्व होता है, अनुवाद पुरोवाद-सापेक्ष होता है, पुरोवादस्थल 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह है। इसमें ज्ञानपद ज्ञानवदर्थक है। अतः उक्त भागवतपद्यगत ज्ञानपद भी ज्ञानवदर्थक है"।

इसका उत्तर यह है। हम पहले और अभी भी पुनः-पुनः बता चुके हैं कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में शक्यार्थका बाधकर के लक्षणा की कल्पना करना अत्यन्त अनुचित है। यतः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यहाँ पर ज्ञान पद ज्ञानवदर्थक नहीं है। अतः उसके अनुवादक प्रकृत भागवतपद्य में भी ज्ञानपद की ज्ञानवत् में लक्षणा नहीं है।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी १७४ पृष्ठ में लिखते हैं कि "तत्त्वों के विवेचन में प्रवृत्त भगवान् कपिल बद्ध जीवस्वरूप का निरूपण इस श्लोक में करते हैं :—

'ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मणा ॥'

इस श्लोक में ज्ञानपद व्यक्ताव्यक्त कालात्मक जड़ द्रव्यों से व्यावृत्त करने वाला स्वयं प्रकाशत्वधर्म योग से निरूढलक्षणया जीवात्मपरक है ।"

यह कथन अत्यन्त असंगत तथा युक्ति रहित स्वमताभिनिवेश के कारण है । क्योंकि इस श्लोक का अर्थ अतिस्फुटरूप से ज्ञान की निर्गुण एकब्रह्मरूपता को बता रहा है । आप अपने मताभिनिवेश के कारण ज्ञानपद के प्रसिद्ध अर्थ चैतन्य को छोड़कर ज्ञानवत् अर्थ कर रहे हैं । अध्यात्मशास्त्रों में जहाँ भी आत्मा में ज्ञानपद का अबाधित प्रयोग आता है वहाँ पर अन्यगति होकर आप लक्षणा ही बताया करते हैं । यह मताभिनिवेश नहीं तो क्या है ?

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "ब्रह्म पद का श्रीमद्भगवद्गीता में जीवात्मकपरक प्रयोग है" ।

यह कथन सत्य है क्योंकि जीव ब्रह्म के ऐक्य को 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं ।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "श्रीतुलसीदास जी का भी—'यं शैवा समुपासते शिव इति' इस न्याय से नानावादियों से नानारूपेण वर्त्तमान सीतावर ही हैं, इसी अर्थ में तात्पर्य है" ।

यह कथन भी अद्वैतवाद का समर्थक है अतः मान्य है ।

१७५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "प्रतिवादी ज्ञान का प्रागभाव बुद्धिवृत्ति ज्ञान में ही गतार्थ हो जाता है ।"

यह कथन सर्वथा निःसार है विवर्तवादी भी मैं जानता था, जानता हूं, जानूंगा इत्यादि प्रतीति सिद्ध ज्ञाधात्वर्थवृत्ति नहीं मानते हैं, किन्तु ज्ञायते अनेन इस व्युत्पत्ति से ज्ञानकरणत्वाभिप्रायेण करणल्युडन्त ज्ञानपद का प्रयोग वृत्ति में करते हैं । इसका उपपादन विवरण ग्रन्थोद्धारपूर्वक कर आये हैं । इससे "सुषुप्ति में मैं नहीं जानता था इस कथन से वृत्तिरूप विशेष ज्ञान का ही अभाव सिद्ध होता है" यह भी निरस्त हो गया । वृत्ति ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान नहीं है ।

"यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वैतन्न पश्यति । ता ये नैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः । नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ।"

ये आत्मा के द्रष्टृत्व के साधक वाक्यगण विवर्तवादियों के इष्ट के विघातक हैं। इस पूर्वोक्त वाक्यगण का क्रमशः उत्तर यह है। सुषुप्ति में ज्ञानप्रागभावरूप ही अज्ञान है, यह विशिष्टाद्वैतवादी यदि कहे तो उसकी उक्ति में प्रागभाव-प्रतियोगी ज्ञान वृत्तिरूप ज्ञान ही हो सकता है। क्योंकि नित्य तथा आत्म-स्वरूपभूत ज्ञान तो प्रागभाव का प्रतियोगी नहीं हो सकता है। 'मैं जानता था, मैं जानता हूँ, मैं जानूँगा" इत्यादि प्रतीति सिद्ध ज्ञाधात्वर्थं वृत्तिरूप ज्ञान ही है। क्योंकि धात्वर्थं साध्यस्वभाव क्रियारूप होता है। नित्य ज्ञान सिद्धस्वभाव है।

विवर्तवादी वृत्ति में चिदाभास को तथा चिदाभासवती वृत्ति को ज्ञाधात्वर्थं ज्ञान अथवा अर्थप्रकाशक कहते हैं। वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार (आरोप) है ऐसा वेदान्त-परिभाषाकार लिखते हैं। मुख्य ज्ञान तो नित्य चैतन्य रूप आत्म-स्वरूप ही है। चिदाभास की उत्पत्ति में वृत्ति कारण है। अतः उसमें करण व्युत्पत्ति से ज्ञानपद का प्रयोग होता है। चिदाभास में साधन ज्ञानपद का प्रयोग होता है। इस प्रकार विवरण और वेदान्तपरिभाषा दोनों ग्रन्थ समर्थित होते हैं। और इस प्रकार सुषुप्ति में मैं नहीं जानता था इस कथन से वृत्तिरूप विशेष ज्ञान का ही अभाव सिद्ध होता है। यह कथन सर्वथा युक्ति-युक्त है।

'यद्वैतन्न पश्यति' इत्यादि श्रुति वृत्तिरूप विशेष ज्ञान की सत्ता को प्रतिपादित करती है। 'ता ये नैवानुभूयन्ते' इत्यादि वाक्य वृत्तियों के आभासक साक्षिरूप ज्ञान को कहता है। समानाधिकरण षष्ठी मानकर 'नहि द्रष्टुर्दृष्टे'रित्यादि श्रुति का समन्वय अद्वैतवाद में पहले कर चुके हैं।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "उसी ज्ञान के द्वारा उसी ज्ञान का अभाव सिद्ध होता है। यह कथन अत्यन्त अंगत है। यह कथन लड़कपन का है।"

इसका समाधान यह है कि आपके लिख देने से ही कोई कथन लड़कपन का नहीं होता। आपने भाष्य तथा श्रुतप्रकाशिका के आधार पर अपनी उक्ति

को सिद्ध नहीं किया है। आपको श्रीभाष्य तथा श्रुतप्रकाशिका का संक्षिप्त आशय यहाँ पर लिखना चाहता था जिससे उसका खण्डन यहाँ पर कर दिया जाता।

१७६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "ज्ञान वर्तमानावस्था में स्वाश्रय को स्वतः प्रकाशता है, वर्तमानेतरावस्था में स्वाश्रय को भी ज्ञानान्तर से ही प्रकाशता है, स्वानाश्रय को सर्वावस्था में ज्ञानान्तर से ही प्रकाशता है, यह सभी को अनुभव सिद्ध है।"

यह कथन नितान्त असगंत तथा असमञ्जस है। आप ज्ञान को नित्य मानते हैं या अनित्य ? यदि ज्ञान नित्य है तो उसका अवस्था भेद नहीं हो सकता। और यदि ज्ञान अनित्य है तो पूर्वग्रन्थ विरोध तथा अपसिद्धान्त है। और स्वाश्रय को स्वतः प्रकाशता है।' यहाँ पर स्वतः पद व्यर्थ है। क्योंकि परतः प्रकाशन में स्व में कर्तृता नहीं बनेगी। अतः ज्ञानान्तर से ही प्रकाशता है। यह कथन भी अयुक्त है। स्वानाश्रय को सर्वावस्था में ज्ञानान्तर से ही प्रकाशता है। यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि ज्ञान स्वानाश्रय घटादि को स्वतः प्रकाशता है, ज्ञानान्तर से नहीं, यही सर्वानुभव सिद्ध है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "ज्ञान नानात्व के विना पण्डित-मूर्ख लौकिक परीक्षक आदि की कृत्स्न व्यवस्थायें अनुपपन्न होंगी।"

यह कथन अनुचित है क्योंकि अद्वैतवादी वृत्तिरूप ज्ञान का नानात्व तो मानता ही है।

इसी के आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "धर्मभूत ज्ञान की परिणामि-नित्यता इष्ट है।"

यह कथन भी असंगत है। क्योंकि धर्मी का परिणाम होता है धर्म का नहीं।

इसके आगे इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "वृत्तिरूपज्ञान निर्णय-संशय विपर्यय आदि का विषय आत्मा ब्रह्मसंवित् आदि अवश्य होते हैं। यह कथन सर्वथा व्यर्थ है।"

इसका समाधान है कि यह कथन सर्वथा सार्थक है। क्योंकि—

'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥

यह अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है। वृत्ति का ज्ञाधात्वर्थत्व अनुपदोक्तरीति से विवर्तवादियों को सम्मत है।

१७७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने लिखा है कि:—

"तेन विषयावच्छिन्नमेव चैतन्यं वृत्तिरिति विज्ञानमिति चाख्यायते।"

यह भामती है। यहाँ भाष्य तथा भामती में विषयाश्रयावच्छिन्नज्ञान चैतन्य ही कहा गया है।"

यह कथन असंगत है क्योंकि यहाँ पर एवकार से विषयावच्छिन्न चैतन्य में वृत्तिपदवाच्यत्व तथा विज्ञानपदवाच्यत्व का प्रतिषेध किया गया है। अन्तःकरण-परिणाम-विशेष में नहीं। अतः अन्तःकरणपरिणाम में वृत्तित्व कथन विवरणकार का उपपन्न हुआ। पूर्वोक्त भामती में विषयावच्छिन्न चैतन्य में वृत्तित्व व्यवहार विषयावच्छेद (विषयसम्बन्ध) रूपविशेषण को लेकर किया गया है तथा चैतन्य रूप विशेष्यांश को लेकर विज्ञानत्व व्यवहार किया है। 'वृत्तिरत्र सन्निकर्षः' यह 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' इस कारिकांश के व्याख्यावसर में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि:—

'तस्माच्चित्स्वभाव एवात्मा तेन प्रमेयभेदेनोपधीयमानोऽनुभवाभिधानीयकं लभते।' इस पद्मपादाचार्य के वचन से चैतन्य में अनुभव पदवाच्यता का लाभ होता है तो वृत्ति में अनुभवपद की लक्ष्यता हो तो क्या विरोध है। इसी रीति से श्रीप्रकाशात्मयति कृत अवतरणिका की भी उपपत्ति हो जायेगी।

'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्तस्य चात्माश्रयत्वादन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचाराद्।' इस विवरण वचन का अर्थ है कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ज्ञाता है, उसमें अन्तःकरण परिणामविशेषरूप अर्थ प्रकाश ज्ञान है, वह अर्थप्रकाश रूप ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप आत्मा में आश्रित है। क्योंकि विशेषणाश्रित पदार्थविशिष्टाश्रित कहा जाता है। 'शिखी ध्वस्तः' की तरह उस अर्थप्रकाश रूप अन्तःकरणपरिणाम में ज्ञानत्व का उपचार (आरोप) है।

'अतोऽन्तःकरणपरिणामविशेषश्चैतन्यस्य विषयावच्छेदोपाधिः। करणव्युत्पत्त्या ज्ञानम्, भावव्युत्पत्त्या तु संवेदनमेवार्थप्रकाशो ज्ञप्तिर्ज्ञानमित्युच्यते।'

इस विवरणकार के कथन से भी श्रीत्रिदण्डी जी का कोई अभीष्ट नहीं सिद्ध होता। क्योंकि करणव्युत्पत्ति से अन्तःकरण परिणाम विशेष ज्ञान है और भावव्युत्पत्ति से वृत्ति में चिदाभासरूप अर्थप्रकाश या संवेदन ज्ञान है। नित्य चैतन्य रूप ज्ञान ज्ञाधात्वर्थ साध्यस्वभाव क्रियारूप नहीं हो सकता। विषयावच्छिन्न चैतन्य भी अर्थप्रकाश संवेदन तथा ज्ञाधात्वर्थज्ञान कहा जा सकता है। क्योंकि विषयावच्छेदरूप विशेषण को अनित्य होने से विशिष्ट भी अनित्य भी हो सकता है। अतः विवर्तवाद में अन्तःकरणपरिणामविशेषवृत्ति का ज्ञाधात्वर्थ ज्ञानत्व कथन प्रसिद्ध स्वाचार्यों के कथन के विरुद्ध नहीं है। अतः आत्मा ब्रह्म संवित् आदि को निर्णय-संशय-विपर्यय आदि वृत्ति का विषय मानने पर आत्मा ब्रह्म संवित् आदि का वृत्तिव्याप्यत्व (वृत्तिविषयत्व) सिद्ध होता है। ज्ञानान्तर गृहीतत्व नहीं।

१७८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि ''विवर्तवादियों के स्वयं भाष्यकार ने उभयलिङ्गाधिकरण में चैतन्य प्रतिबिम्बपक्ष का जोरदार खण्डन किया है। अतः चैतन्य प्रतिविम्ब का कथन सर्वथा निःसार है''।

अद्वैतवाद के व्युत्पादनार्थ प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद दोनों का प्रतिपादन तथा प्रत्याख्यान स्थान-स्थान पर किया गया है। प्रतिबिम्ब तथा आभास दोनों ही मिथ्या हैं। अतः उनमें आस्था अद्वैतवादियों की नहीं है।

'क्व ममत्वं मुमुक्षुणामनिर्वचनवादिनाम्।'

यह अद्वैतवादियों की सूक्ति है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "ज्ञान-पदार्थ-विषयाश्रयावच्छेद-रहित सर्वप्रमाणों से असिद्ध है।"

इसका समाधान है कि सर्वविध परिच्छेद-शून्य ब्रह्म को ज्ञानरूप 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में बताया है। पद्मपादाचार्य तथा विवरणकार के एक ही वचन का पुनः पुनः उल्लेख पुनरुक्ति दोषाक्रान्त है।

१७८ पृष्ठ के अन्त में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "ज्ञात्राश्रय अर्थ प्रकाश का ज्ञानानुभवादि पदवाच्यत्व लोक प्रसिद्ध है। उसी का ये आचार्य अनुवाद करते हैं। यदि पदों के लोकप्रसिद्धार्थों का परित्याग कर स्वोत्प्रेक्षित पारिभाषिकार्थ का स्वीकार कर शास्त्रार्थ का निर्धारण किया जाय तो कोई

शास्त्रार्थ व्यवस्थित नहीं रह जायेगा स्वाभिप्रायानुसार पदों की परिभाषा कल्पन करके किसी सीमित वाक्य का कोई भी यथेष्ट अर्थ का वर्णन कर सकता है।"

इसका उत्तर यह है कि पद्मपादाचार्य विषयावच्छिन्न चित्स्वभाव आत्मा को अनुभवाभिधानीय (अनुभवपद वाच्य) कह रहे हैं। ज्ञात्राश्रय प्रकाश को नहीं। आत्मा ज्ञात्राश्रय नहीं है। और विवरणकार 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' कह रहे हैं। ज्ञानपदवाच्यत्व नहीं कह रहे हैं। अर्थ प्रकाश ज्ञानपद का लक्ष्य होकर भी लोक प्रसिद्ध हो सकता है। तैलपद का लक्ष्यार्थसार्षपादि-स्नेह लोक प्रसिद्ध है। अंग-वंगादि शब्दों की देशविशेष में निरूढा लक्षणा लोक प्रसिद्ध है। देवदत्तादि नाम पद का पारिभाषिकार्थ लोक प्रसिद्ध है। अर्थप्रकाश कादाचित्क होने से अनित्य है, वह नित्य ज्ञानरूप नहीं हो सकता। अतः वह अन्तःकरणपरिणामविशेषरूप ही है। उसका अधिकरण अन्तःकरणा-वच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञाता हो सकता है, इस प्रकार अर्थप्रकाशरूप अन्तःकरण-परिणाम में ज्ञानपद की लक्षणा वेदान्तपरिभाषाकार ने कहा है।

१७९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "छेदन के सकर्तृक सकर्मक सकरणक लोकप्रसिद्ध धात्वर्थ है। छेद्य के बिना छेदन के सद्भाव के समान ज्ञेय सम्बन्ध के बिना ज्ञान का सद्भाव लौकिक परीक्षकोभयकोटिबहिर्भूत जन ही कर सकते हैं। आत्मस्वरूप का सकर्मक सकर्तृक सकरणक ज्ञाधात्वर्थ-भूत ज्ञान से वैलक्षण्य होने पर भी ज्ञानगत स्वयं प्रकाशत्वरूप धर्म का योग आत्मस्वरूप में भी होने से निरूढलक्षणया ज्ञानादिपदों से क्वचित् श्रुतियों स्मृतियों में आत्मस्वरूप भी कहा गया है। यह अनेक बार कह चुके हैं। अतः मृद् द्रव्य का घटशरावादिरूपेण उत्पत्त्यादि के समान ही तत्तद्विषयक ज्ञानों की उत्पत्त्यादिक मानना चाहिये।"

उसका उत्तर यह है कि अन्तःकरण परिणाम विशेषरूप ज्ञान लक्षणया ज्ञाधात्वर्थ है, विषयावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञान पूर्वोक्त पद्मपादाचार्य के वचना-नुसार शक्त्या ज्ञाधात्वर्थ है। चैतन्य में विषयावच्छेद के कादाचित्क होने से विषयावच्छिन्न चैतन्य भी ज्ञाधात्वर्थ साध्यस्वभाव क्रियारूप हो सकता है जैसे

तत्तत्क्षणावच्छिन्न सत्ताभूत धात्वर्थ है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति से प्रतिपाद्य आत्मस्वरूपभूत ब्रह्म को तो आप भी लक्षणया ज्ञानपदप्रतिपाद्य कह ही रहे हैं। यही विवर्तवादी का मत है। पूर्वोक्त अर्थप्रकाशरूप ज्ञान का अथवा विषयावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञान का ज्ञेय सम्बन्ध के बिना सद्भाव नहीं होता। किन्तु ज्ञानपदलक्ष्यार्थ निर्विशेष चैतन्यरूप ज्ञान का ज्ञेय सम्बन्ध के बिना भी सद्भाव श्रुत्यादिसिद्ध है। क्योंकि वह शाश्वतिक होने से निद्रा और समाधि में भी रहता है। मृद् द्रव्य धर्मी है, उसका घटशरावादि धर्माकारेण परिणाम हो सकता है किन्तु ज्ञान धर्म है उसका परिणाम असम्भवी है क्योंकि क्रिया-कारकधर्माकारेण परिणाम होगा।

१७९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं—

'प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति।'

यह कौषतकी श्रुति विवर्तवादियों के सर्वथा प्रतिकूल है।

'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः।'

इस पूर्व वाक्य में प्रज्ञा शब्द से विवक्षित जीव यहाँ कर्ता है। तृतीयान्त प्रज्ञा शब्द मनःपरक है, जीवात्मा मन से चक्षुरिन्द्रिय का अधिष्ठान करके चक्षु-रिन्द्रिय द्वारा सर्व रूपों को ज्ञान से प्राप्त करता है। जैसे तक्षा हाथों से कुठार का अधिष्ठान करके काष्ठादिका छेदन करता है वैसे ही स्वतः स्वयं भासमान अहमर्थ ज्ञाता आत्मा मन से चक्षुरिन्द्रिय का अधिष्ठान करके रूपविषयक ज्ञान को उत्पन्न करता है, यह श्रुति का भाव है। यहाँ जीव शरीर के उपास्य ब्रह्म का शरीरभूत जीव के जडवर्ग व्यावृत्त स्वरूप का वर्णन श्रुति कर रही है, विवर्त-वादियों की इस श्रुति से स्वप्रक्रिया सिद्धि की आशा व्यर्थ है"।

इसका समाधान यह है कि पूर्वोद्धृत कौषतकी श्रुति विवर्तवादियों के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि विवर्तवादी मानते हैं कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है, उसके विषयग्रहण में साधन अन्तःकरण चक्षुरिन्द्रिय को आरूढ होकर बाह्य विषयों को प्राप्त होता है और वहाँ प्राप्त होकर तत्तद् विषयाकार हो जाता है। जैसे तडागोदक कुल्या द्वारा बहिर्निःसृत होकर केदारों को प्राप्त होकर के त्रिकोण चतुष्कोणाद्याकार हो जाता है। यह वेदान्तपरिभाषा के आरम्भ में

लिखा है। विवर्तवादियों का मत है कि अन्तःकरण में दो शक्ति है, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। उसकी ज्ञानशक्ति से मन पैदा होता है और क्रियाशक्ति से प्राण। अतः—

'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमः'

इस न्याय से मन से अभिन्न अन्तःकरण उससे अभिन्न प्राण मन से अभिन्न हो जाता है। इसी प्रकार प्राण से अभिन्न मन हो जाता है।

'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः' इस श्रुति का यही भाव है। इस श्रुत वाक्य में भी प्रज्ञा शब्द का अर्थ मन ही है। पूर्वोत्तर वाक्यों में प्रज्ञा-पद की एकार्थकता उचित है 'सर्वाणि रूपाण्याप्नोति' इसका सर्वरूपों का ज्ञान से व्याप्त करता है, यह अर्थ अक्षर बाह्य है। 'वैसे ही स्वस्मै स्वयं भासमान अहमर्थ ज्ञाता आत्मा' यह अर्थ भी श्रुति बाह्य है। 'चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि आप्नोति' इस श्रुत्यर्थ का 'चक्षुरिन्द्रियका अधिष्ठान करके रूप विषयक ज्ञान को उत्पन्न करता है' यह अर्थ नहीं है। यहाँ जीव शरीर के उपास्य ब्रह्म का शरीर-भूत जीव के जडवर्ग व्यावृत्तस्वरूप का वर्णन श्रुति कर रही है, यह कहना असं-गत है। क्योंकि इस अर्थ के प्रतिपादक शब्द इस श्रुति में नहीं है। अतः विवर्त-वादियों की इस श्रुति से स्वप्रक्रिया सिद्धि की आशा सार्थक है।

१८० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "वृत्ति ही अवेक्षण है यह कथन सर्वथा असंगत है, अनेक वार कह आये हैं कि विवर्तवादी भी ज्ञाईक्ष-प्रभृति धात्वर्थ को वृत्ति नहीं मानते हैं किन्तु धात्वर्थ करणत्वाभिप्रायेण ज्ञान-दिपदों से वृत्ति को कह लेते हैं। यदि वृत्ति ही ईक्षण पदार्थ हो तब 'ईक्षतेर्ना-शब्दम्' यह सूत्र प्रधान व्यावृत्ति चेतन सद् ब्रह्म का साधक नहीं हो सकता। किन्तु वृत्तिरूप ईक्षण का प्रधान धर्म होने से—

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'

यह श्रुति प्रधान कारणता की ही साधिका होगी अतः 'पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति' इत्यादि वाक्यों से पत्न्यादि कर्तृक आज्यावेक्षणादि के विधान ज्ञानानित्यत्व के साधक ही हैं।

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः, तद्वास्य विजज्ञौ,

इत्यादि परःसहस्र वाक्यों के स्वारस्य विवर्तवादियों की प्रक्रिया के भञ्जक हैं"।

इसका उत्तर है कि घटादि सर्ग के पूर्व में जीव का अवेक्षण मनोवृत्तिरूप है और पञ्चमहाभूत सर्ग के पूर्व में परमेश्वर का अवेक्षण माया वृत्तिरूप है। क्यों कि 'तदैक्षत' इत्यादि वाक्यों से अवेक्षण का कादाचित्कत्व प्रतीत हो रहा है। विवर्तवादी ज्ञा—ईक्ष प्रभृति धातुओं का अर्थ समास-वृत्ति मानते हैं। वेदान्त-परिभाषा में 'वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' यह लिखा है।

'ज्ञायते चिदाभासविषयीक्रियते घटादिर्येन तज्ज्ञानम्।'

इस करण व्युत्पत्ति केवल वृत्ति में भी ज्ञान पद का प्रयोग विवर्तवादी करते हैं। परमात्मा का ईक्षण माया वृत्तिरूप है अथवा समष्टि-बुद्धि-वृत्तिरूप है। अतः 'ईक्षतेर्नाशव्दम्' यह सूत्र उपपन्न होगा। प्रधान का परिणाम महत्त्व है और महत्त्व का परिणाम ईक्षण है। क्योंकि महत्त्व समष्टि बुद्धि है। प्रधान का परिणाम ईक्षण है यह कहना अशास्त्रीय है। आज्यावेण के विधान ज्ञानानित्यत्व के साधक ही हैं, इस कथन से वृत्तिरूप अथवा चिदाभासरूप अथवा विषयावच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान की अनित्यता सिद्ध होती है। विवर्तवादियों के मत में प्रागुक्त रीति से दो तरह के ज्ञान होते हैं। एक नित्य दूसरा अनित्य। साक्षिचैतन्यरूप ज्ञान नित्य है और वृत्त्यादिरूप ज्ञान अनित्य है। अतः 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसा क्षयात् पापस्य कर्मणः तदघास्य विजज्ञौ' इत्यादि वाक्य विवर्तवादियों की प्रक्रिया के भञ्जक नहीं है।

"१८० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिभास्यम्" इत्यादि स्वप्रक्रिया रटन घर में ही शोभता है। परीक्षक परिषद् में नहीं"।

इसका समाधान यह है कि—

'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च'

इत्यादि श्रुतियों से केवल (असङ्ग) निर्गुण चेतन (आत्मरूप) साक्षी (विषयों का साक्षाद द्रष्टा) अवभासक सिद्ध है। 'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों से जीवब्रह्मैक्य सिद्ध है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से आत्मरूप ब्रह्म

की ज्ञानरूपता सिद्ध है। 'ज्ञातो घटः, अज्ञातो घटः' इत्यादि अनुभवों से विषयों की ज्ञातता तथा अज्ञातता सिद्ध है। अतः अनवस्था, चक्रक, अन्योऽन्याश्रय आदि दोषों के परिहार के लिये साक्षिरूप ब्रह्मात्मक ज्ञान को ही वृत्तिरूप व्यवसायात्मक ज्ञान का अवभासक विवर्तवादी मानते हैं। यह उसकी प्रक्रिया परीक्षक-में अत्यन्त शोभा युक्त प्रतीत होती है।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "वृत्ति के ज्ञानत्व के निराकरण से 'सर्वथाऽपि ज्ञान का प्रागभाव या अतीतता नहीं होती है' इत्यादि कथन निरस्त है"।

इसका समाधान है कि पूर्वोक्त रीति से वृत्ति ज्ञानत्व के साधन से वृत्ति रूप ज्ञान का प्रागभाव या अतीतता सिद्ध होती है सर्वथापि साक्षिरूप नित्य ज्ञान का प्रागभाव या अतीतता नहीं सिद्ध होती।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "उपर्युक्त बातों पर विचार करने पर ये उचित नहीं प्रतीत होता। पूर्वपक्षी के उक्त पक्ष से नैयायिकों का ही पक्ष श्रेष्ठ ठहरता है। यह सब कथन अज्ञान कृत है।"

इसका समाधान यह है कि श्रीत्रिदण्डी जी से समर्थित विशिष्टाद्वैत-वादियों का यह मत ठीक नहीं कि आत्मा ज्ञानाधार तथा स्वप्रकाश है, ज्ञान आत्मा का धर्म तथा स्वप्रकाश है। ज्ञान नित्य होते हुए भी मृदादिवत् परिणामी है। अतः सांख्य मत में प्रधान की तरह परिणामि नित्य है। यह मत अत्यन्त असंगत है क्योंकि ज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर तदाधार आत्मा की स्वप्रकाशता मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अत एव आत्मा को प्राभाकर और नैयायिक दोनों अचिद्रूप मानते हैं।

> 'प्राभाकराः तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम्।
> आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणाश्चितिः ॥'

यह उनका मत लिखा है। आत्मा प्रभाकर के मत में ज्ञानाश्रयतया ज्ञान-विषय है और नैयायिकमत में ज्ञानकर्मतया विषय है, ज्ञान धर्म होने से मृदादि का तरह परिणामी नहीं होगा। इत्यादि विचार करने पर विशिष्टाद्वैतवादी के मत से नैयायिक का मत ही ठीक ठहरता है।

आगे १८१ तथा १८२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी इन्द्र और प्रजापति के संवादरूप श्रुतियों का तथा उनके श्रीशङ्कराचार्य कृत उपनिषद्भाष्यों का उल्लेख करके लिखते हैं कि "यह भाष्य इस श्रुति के अशरीर अहमर्थ आत्मा की चक्षुर्घ्राणादि-करणकरूपगन्धादि ज्ञानकर्तृता की प्रतिपादकता को सुस्पष्ट कर रहा है। जब प्रजापति श्रुति अशरीर अहमर्थ आत्मा की बद्धावस्था में चक्षुरादिकरणक ज्ञानवत्ता को तथा मुक्तावस्था में 'स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके', इत्यादि वाक्यों से स्वाभाविक ज्ञानवत्ता को प्रतिपादित कर रही है तब 'परन्तु निरुपाधिक आत्मा निर्गुण निष्क्रिय ही है' इत्यादि कथन सर्वथा भ्रममूलक ही है। 'स वा एषः' इस श्रुति में दिव्य पद आत्मा के ज्ञान की स्वाभाविकता को चक्षुःपद प्रत्यक्षरूपता को मन शब्द संसार दशा में मनोऽधीन विकासवत्ता को बोधित करता है।"

इसका समाधान यह है कि यह भाष्य इस श्रुति के स्थूल शरीरातिरिक्त तथा चक्षुर्मन आदि इन्द्रियोंपहित आत्मा की चक्षुर्घ्राणादि करणक रूप-गन्धादि-ज्ञान-कर्तृता की प्रतिपादकता को सुस्पष्ट कर रहा है क्योंकि आप भी कहते हैं कि यह श्रुति आत्मा की बद्धावस्था में चक्षुरादिकरणक ज्ञानवत्ता का प्रतिपादन कर रही है। आत्मा का ब्रह्मलोक में सूक्ष्म शरीर है जा कि इन्द्रिय प्राण तथा पंचभूतसूक्ष्मों का संघातरूप है जिसमें तादात्म्याभिमान से वह बद्ध है। 'स वा एषः' इत्यादि श्रुति मुक्तावस्था में आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानवत्ता को प्रतिपादन नहीं कर रही है क्योंकि यह श्रुति ब्रह्मलोक में जीव की रति का वर्णन कर रही है। ब्रह्मलोक में निवासावस्था में मुक्ति नहीं होती किन्तु ब्रह्मा और ब्रह्मलोक के विलयोत्तर ब्रह्मा और ब्रह्मलोकवासी ज्ञानियों की मुक्ति होती है।

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं। जिनके विषय भोग की कामना पूर्ण नहीं हुई है वह जीव ब्रह्मलोक से लौट भी आते हैं। इसी लिये—

'न पुनरिमं मानवमावर्तन्ते'

इस श्रुति में मानव आवर्त का विशेषण 'इमम्' यह सुनाया गया है। और जब ब्रह्मलोक में आत्मा का ज्ञान दिव्य चक्षुर्मनःकरणक है तब वह स्वाभाविक कैसे हुआ। स्वाभाविक तो उसको कहते हैं जो सदा हो। और 'स वा एषः' श्रुति में दिव्य पद आत्मा के ज्ञान की स्वाभाविकता को किस वृत्ति से कहता है और मनः शब्द संसार दशा में मनोऽधीन विकासवत्ता को कैसे बोधन करता है यह बताइये।

इस प्रकार विचार करने पर श्रीकरपात्री जी का यह कथन "परन्तु निरुपाधिक आत्मा निर्गुण निष्क्रिय ही है।" सर्वथा प्रमाण सिद्ध और अबाधित है।

आगे ८३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "इस श्रुति में ज्ञाता अहमर्थ आत्मस्वरूप के स्फोरणार्थ 'न जानाति' का 'नैवं जानाति' का इस प्रकार एवं पद का अध्याहार करके व्याख्यान किया। और सुस्पष्ट करने के लिये 'कथम्' इत्यादिना आकांक्षा द्वार अभिनय करते हैं।

'अयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि चेति' यहाँ अहं का विशेषण अयं है, अयम् यह पद वर्तमानकालसन्निहित देशविशिष्ट वर्णाश्रमादिधर्मविशिष्ट शरीरविशिष्ट का उपस्थापक है 'संप्रति' शब्द का भाष्यकार ने सम्यक् और इदानीम् यह दो अर्थ किया है। सुषुप्ति-वेला में सुषुप्तिकाल-विशिष्ट शयनाधिकरण देशविशिष्ट वर्णाश्रमादिधर्म विशिष्ट शरीरविशिष्ट अहमर्थ ज्ञाता आत्मा को अयमहमस्मि इस प्रकार से नहीं जानता है। प्रत्यक्त्वेन एकत्वेन सुखत्वेन स्वरूप को अहमर्थ ज्ञाता आत्मा जानता ही है। यह श्रुति और भाष्य का आशय सुस्पष्ट है। सुषुप्तिकाल में ज्ञाता अहमर्थ आत्मस्वरूप का सद्भाव तथा अमृतत्व अभयत्व ('ज्ञाने हि सति ज्ञातुः सद्भावोऽवगम्यते नासति ज्ञाने, न च सुषुप्तस्य ज्ञानं दृश्यतेऽतोविनष्ट इवेत्यभिप्रायः। न तु विनाशमेवात्मनो मन्यतेऽमृताभयवचनस्य प्रामाण्यमिच्छन्') इस भाष्यसन्दर्भ से सुस्पष्ट है। अतः 'वस्तुतः अहं को आत्मा मानने से उसको स्वयं प्रकाश नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुप्ति में अहं का प्रकाश नहीं होता इत्यादि कथन प्रलाप मात्र है'।

इसका समाधान यह है कि अद्वैतवाद में अहमाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य अहं पद का वाच्यार्थ है, सुषुप्ति तथा समाधि में अवस्थित निर्विशेष तथा निर्विषय

चैतन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुति वाक्यानुसार अहं पद का लक्ष्य है। सुषुप्ति वेला में समस्त विषयों के विलय होने से तथा अहमाकारवृत्ति के अभाव से अहं पद का लक्ष्य निर्विशेष तथा निर्विषय नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मचैतन्य अज्ञानावृत्त होने से विनष्ट की तरह होता है। विनष्ट नहीं होता है। यह श्रुति तथा उसका भाष्य इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

'न जानाति अयमहमस्मि नो एवेमानि भूतानि' इस श्रुतिवाक्य तथा इसके भाष्य से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि सुषुप्ति में अहमर्थ का ज्ञान नहीं होता और पञ्चमहाभूतात्मक विश्व का ज्ञान भी उस समय नहीं होता। अतः 'प्रत्यक्त्वेन एकत्वेन सुखत्वेन' स्वस्वरूप अहमर्थ ज्ञाता आत्मा जानता ही है' यह आपका कथन सर्वथा अयुक्त है क्योंकि 'अहम् एकः सुखश्च' यह ज्ञान प्रत्यक्त्व (अहंत्व) प्रकारक एकत्व प्रकारक तथा सुखत्वप्रकारक है। यह प्रत्यक्त्वेन सुखत्वेन स्वरूप का ज्ञान है' क्या यह ज्ञान सुषुप्ति में होता है ? कभी नहीं। सुषुप्ति में कोई भी सप्रकारक ज्ञान नहीं होता। केवल सुषुप्ति में आत्मा की सुखरूपता भासती है और उस काल में अज्ञान तथा उसका परिणाम सुषुप्ति में भी साक्षिभाष्य है। अतः—

'सुखमहमस्वाप्सम्, गाढं मूढोऽहमासम्' यह सुप्तोत्थित को परामर्श होता है। इस परामर्श में अहमंश प्रत्यक्ष है क्योंकि सुषुप्ति में अहमर्थ का अनुभव नहीं हुआ है। 'पर्वतो वह्निमान्' की तरह परोक्षापरोक्षवृत्तिद्वयात्मक यह परामर्श है। इस प्रकार प्रकृत श्रुति और उसके शांकरभाष्य से सुषुप्ति में अहं का भाव नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत अहमर्थ का भानाभाव ही सिद्ध होता है। अतः अहं स्वप्रकाश नहीं है यह श्रीकरपात्री जी का कथन प्रमित है।

१८४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—

"अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमिति प्रसुप्ते कूटस्थआश्रयमृते तदनुस्मृतिर्नः॥

जीवस्वरूप के एक रूप का वर्णन इस श्लोक में करते हैं। अण्डज-जरायुज-उद्भिज्ज-ऊष्मज प्रत्येक शरीरों में शरीर धारक प्राण जीव का अनुवर्तन करता है, प्रत्येक शरीरों में प्राण द्वारा धारक जीव प्रवेश करता है जिस

जीव का प्राण उपधावन करता है वह जीव कूटस्थ है निर्विकार सदा एकरूप है। इन्द्रियगण के विशीर्ण हो जाने पर अहं का प्रलय हो जाने पर शरीर के बिना कर्मकृतशरीर रहित मोक्षावस्था में यथावस्थित अहमर्थ जीवात्मस्वरूप का हम जीवों को अनुभव होता है। यह अर्थ—

'अशरीरं वा वसन्तम्'

इत्यादि श्रुति सिद्ध है। इस श्लोक में अहं पद मान्त विभक्तिप्रतिरूपक अहंकारवाची अव्यय है। अस्मद् शब्द का प्रथमैकवचनान्त अहं पद प्रत्यग् आत्मा का वाचक है। अतः सामान्यतः अहं पद अहंकारवाची या चिदचिद्-ग्रन्थिवाची है, यह विवर्तवादियों का कथन प्रलाप मात्र है।"

इस आक्षेप के समाधान के पहले इस श्लोक की व्याख्या करना आवश्यक है क्योंकि इस श्लोक की समुचित व्याख्या के ऊपर ही इस आक्षेप का समाधान अवलम्बित है। अब अर्थ सुनिये—

अण्डपेशि (जरायु) तरु तथा अन्य अविनिश्चित शरीरों में जहाँ-जहाँ सर्वगत जीव अवस्थित है, वहाँ-वहाँ प्राण उसका उपधावन करता है। यहाँ पर प्राण शब्द सूक्ष्म शरीर का उपलक्षण है। क्योंकि सुषुप्ति में इन्द्रियगण सन्न (उपरत) हो जाते हैं और अहंकार आशय (वासना) के बिना कूटस्थ निर्विकार (साक्षिचैतन्य) में प्रसुप्त प्रविलीन होता है। अतः सुषुप्ति में अहंकार के स्वरूपेण प्रविलीन होने पर भी वासनारूपेण अवस्थित होने से सुप्तोत्थित के बाद हम लोगों को अहंकार की अनुभूति होती है। व्याख्या के अनुसार अहमर्थ का सुषुप्ति में भान नहीं होता है यही अर्थ सिद्ध होता है क्योंकि सुषुप्तिकाल में अहमर्थ का कूटस्थ में प्रस्वाप (प्रविलय) लिखा है। यहाँ पर कूटस्थ का अर्थ अविद्यावच्छिन्न चैतन्य किया जाये तो अहंकाररूप अविद्या-परिणाम का स्वोपादान अविद्या में लय सिद्ध होता है और यदि साक्षिचैतन्य अर्थ किया जाय तो स्वविवर्तोपादान चैतन्य में लय सिद्ध होता है। 'अहं'पद अव्यय अनव्यय दोनों है। एकतर अर्थ में कोई विनिगमना नहीं है, जैसे 'अस्ति पद' एकार्थक अव्यय अनव्यय दोनों है। 'अस्ति घटः, अस्ति रागौ' यह दोनों के उदाहरण हैं। 'अहं शुभयोर्युस्' इस सूत्र में अहंपद से अव्यय अहं ही लक्ष्यानुरोध से लिया जाता है।

पूर्वोक्त भागवत पद्य का श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने जो अर्थ किया है जो ऊपर उद्धृत है उसको 'अशरीरं वावसन्तम्' 'एष स प्रसाद' इत्यादि श्रुति सिद्ध कहना अत्यन्त असंगत है क्योंकि प्रकृत भागवत वाक्य और इस श्रुति वाक्य का कथमपि अर्थसाम्य नहीं है।

अतः सामान्यतः अहं पद अहंकारवाची या चिदचिद्ग्रन्थिवाची है यह विवर्तवादियों का कथन प्रलापमात्र नहीं है किन्तु अत्यन्त अवहित बुद्धि से किया गया है अतः उपादेय है।

पूर्वोक्त भागवत पद्य में योगशास्त्र के अनुसार आशय पद वासना अर्थ में प्रयुक्त है। आशय पद का शरीर में प्रयोग कहीं नहीं देखा गया है। वासना में प्रयोग योगशास्त्र में देखा गया है।

१८६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "नित्यज्ञानेच्छाकृतिशाली ईश्वर को मानने वाले नैयायिकों के पक्ष की अपेक्षा सर्व्वज्ञ्यादि गुणों के सहित ईश्वर जीवाविद्याकल्पित है इत्यादि प्रलापों से साक्षाज्जगत् स्वामी जगन्नियन्ता का घोरावमान करने वाले विवर्तवादियों का पक्ष अत्यन्त जघन्य है"।

इसका उत्तर यह है कि ईश्वर के विषय में प्रागुक्त नैयायिकों का पक्ष श्रुति सिद्ध नहीं है और विवर्तवादियों का पक्ष श्रुति सिद्ध है।

'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति।'

यह श्रुति माया में चिदाभास को ईश्वर कहती है। विवर्तवादी ईश्वर और जीव के भेद को जीवाविद्याकल्पित कहते हैं, ईश्वर को नहीं। संक्षेपशारीरक में कहा है—

'स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूयमावा:।'

ईश्वर जीव का प्रभेद 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। इस प्रकार विवर्तवादी ईश्वर का अपमान नहीं करते हैं।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "ज्ञाता कर्ता भोक्ता अहमर्थ प्रत्यगात्मा को नित्य मानने वाले नैयायिकों के पक्ष से ज्ञाता कर्ता भोक्ता अहमर्थ प्रत्यगात्मा का प्रति सुषुप्ति विनाश नहीं मानता है। और वह अहंकार का प्रतिसुषुप्ति स्वोपादान अविद्या में प्रविलय (वासनारूप से अवस्थिति) अर्थात्

सूक्ष्मरूप से अवस्थिति मानता है। अतः विवर्तवादियों का पक्ष अत्यन्त उपादेय है।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "अहमर्थानाश्रित गगनकुसुमसदृश तुच्छ चिति का प्रकाश तो दूर रहा सद्भाव भी नैयायिक जागरादि किसी अवस्था में नहीं मानते हैं, तथा भूतसंवित् का प्रकाश सुषुप्ति में विवर्तवादी कैसे मानते हैं।"

इसका उत्तर यह है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अतः आत्मस्वरूपभूत ज्ञान अहमर्थानाश्रित है और वृत्तिरूप ज्ञान अहंकाररूप अहमर्थ में आश्रित है। यह पहले सिद्ध कर आये हैं। और आत्मा का ज्ञानरूपत्व

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, एष विज्ञानघनः'

इत्यादि श्रुति सिद्ध है। अतः विवर्तवादी उसका सुषुप्ति में सद्भाव और प्रकाश दोनों मानते हैं क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाश है।

१८७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "नैयायिक आत्मा को अचेतन मानते हैं, ऐसा नैयायिकों के प्रारम्भिक तर्कसंग्रह आदि ग्रन्थों का ज्ञाता भी नहीं कह सकता।"

इसका समाधान यह है कि तर्कसंग्रह में 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' यह लिखा है। आत्मा में ज्ञान जाग्रत और स्वप्न में पैदा होता है, सुषुप्ति और मूर्च्छा में आत्मा ज्ञानाधिकरण नहीं है। यतः आत्मा की चेतनता न्याय मत में स्वाभाविक नहीं है। अतः आत्मा न्यायमत में अचिद्रूप होने से अचेतन है। जैसा कि विवर्तवादी कहते हैं—

'प्राभाकरास्तार्किताश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम्।
आकाशवद् द्रव्यमात्माशब्दवत्तद्गुणश्चितिः॥'

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "कर्तरि ल्युप्रत्ययान्त पुंलिङ्ग चेतन शब्द ज्ञानाधिकरणवाची है। नैयायिक या सभी आत्मवादी आत्मा को चेतन कहते हैं।"

इसका समाधान यह है कि अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप आत्मा में चेतन शब्द का प्रयोग ज्ञानाधिकरणरूप अर्थ में है। अन्तःकरण-वृत्तिरूप ज्ञान का अधिकरण है। उपाधि के ज्ञानाधिकरण होने से उपहित में चेतन शब्द का प्रयोग होता है। अनुपहित चैतन्य में चेतन शब्द का प्रयोग भावप्रधान निर्देश हैं। जैसा-

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।'

इस श्रुति में प्रथम चेतन पद का भाव में प्रयोग है। 'चेतनानां चैतन्यम्' यह अर्थ है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति आत्मा को ज्ञानरूप कहती है, ज्ञानाधिकरण नहीं कहती, यह हम बहु वार पीछे कह आये हैं।

इसके आगे इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदन्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "सुखमहमस्वाप्सम्, तावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषम्, नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानाति नो एवेमानि भूतानि' इत्यादिक अनुभव प्रभृति श्रुतियों को ही विवर्तवादी सुषुप्ति में अहमर्थाभाव का और संवित् प्रकाश का साधक कहते हैं। आश्चर्य है अहमर्थप्रत्यगात्मा के सद्भाव तथा प्रकाश के स्वरसत: साधक तथा अर्थप्रकाशरूप संवित् के अभाव के साधक अनुभव प्रभृति श्रुतियों को अहमर्थप्रत्यगात्मा के अभाव का साधक तथा संवित् प्रकाश के साधक कहना कैसी उच्छृंखलता है"।

इसका समाधान यह है कि विवर्तवादी के मत को आप भली-भांति नहीं समझ रहे हैं। क्योंकि विवर्तवादी सुषुप्ति में अहं पद के वाच्यार्थ अहंकार के अभाव को कहता है। अहं पद के लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा के अभाव को नहीं कहता। तथा सुषुप्ति में अर्थाभाव होने से अर्थ प्रकाश-रूप संवित् का अभाव कहता है। संवित् का भाव होने से नहीं।

'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति।'

यह श्रुति भी सुषुप्ति में अहंकाराभाव को तथा 'नो एवेमानि भूतानि' यह श्रुति अर्थविज्ञानाभाव को बता रही है। नित्य विज्ञानरूप चैतन्यरूप प्रत्यगात्मा तो सुषुप्ति में रहता ही है। क्योंकि श्रुति कहती है—'पश्यन्नपि न पश्यति।'

'अर्थाभावान्न पश्यति' यह श्रीशंकरभगवत् पाद कहते हैं।

आगे में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "अथवा विवर्तवादियों के लिये यह अत्यल्प है। जो विवर्तवादी अप्रतिष्ठित कुतर्क जालों को पुरस्कृत करके 'जगत् का प्रत्यक्ष नहीं है', 'भेद श्रुतियां प्रत्यक्ष सिद्ध भेद की अनुवादिका है, इत्यादि विप्रतिसिद्ध प्रलापशील है।"

इसका समाधान यह है कि गौतम ने प्रत्यक्ष का लक्षण लिखा है—

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।'

इसका अर्थ है—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तच्च द्विविधम् । अव्यपदेश्यम् (निर्विकल्पकम्) व्यवसायात्मकम् (सविकल्पकम्) चेति ।' जैसे रज्जु में सर्पधारादि प्रत्यय प्रत्यक्ष प्रमा नहीं है वैसे ही 'सन् घटः' यह प्रत्यय ब्रह्मात्मक सद्रूप अधिष्ठानांश में प्रत्यक्ष प्रमा है और सदंश में कल्पित घटाद्यंश में विभ्रम है । अतः सभी प्रत्यक्ष सद्रूप अधिष्ठानांश में प्रमा है और घटादिरूप प्रकारांश में विभ्रम होने से जगद्विषयक प्रत्यक्ष नहीं है यह कहना प्रमित है । क्योंकि अर्थाव्यभिचारी ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं । 'भेद-श्रुतियाँ प्रत्यक्ष सिद्ध भेद की अनुवादिका हैं' यह विवर्तवादियों का कथन भी युक्तियुक्त है क्योंकि अप्राप्त का विधान और प्राप्त का अनुवाद होता है । भेद लोकतः प्राप्त है अतः उसकी विधि अनुपपन्न है । 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादि श्रुतियाँ लोक सिद्ध अर्थ की अनुवादिका प्रसिद्ध हैं ।

१८७ तथा १८८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "जैसे अयं घटः" इस अनुभव में एकत्ववान् घट, रूपवान् घट 'परिणामवान् घटः' इत्याद्याकारेण एकत्वरूप परिणामों का उल्लेख न होने पर भी 'अयं घटः' इस अनुभव का रूप एकत्व परिणामविषयकत्व सर्वपरीक्षकसंमत है वैसे ही 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रत्यवमर्श का प्रत्यक्त्व एकत्व अनुकूलत्व धर्मविशिष्ट अहमर्थविषयकत्व हम लोगों को अभीष्ट है । इसमें क्या अनुपपत्ति है ।"

इसका समाधान यह है कि 'अयं घटः' इस अनुभव का स्वयं एकत्वविषयकत्व तो सर्व सम्मत है किन्तु रूपविषयकत्व और परिणामविषयकत्व किसी लौकिक या परीक्षक को सम्मत नहीं है क्योंकि भासमानत्व ही विषयता है और रूप तथा परिणाम 'अयं घटः' इस अनुभव में भासमान नहीं हैं । 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस सुप्तोत्थित के प्रत्यवमर्शका प्रत्यक्त्व एकत्व अनुकूलत्व धर्मविशिष्ट अहमर्थविषय-कत्व अभासमान होने से अनुपपन्न हैं । इस परामर्श में सुख अहमर्थ और सुषुप्ति का भान होता है, प्रत्यक्त्व एकत्व अनुकूलत्व का नहीं । परामर्श में अहमर्थ विषयकत्व की उपपत्ति पूर्व में हम कर आये हैं । अतः यहाँ पर उसकी पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं है ।

१८८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "जैसे कभी रूपादिधर्म रहित घटादि नहीं उपलब्ध होते, उष्णत्व रहित अग्नि नहीं भाषित होता, वैसे ही धर्मभूत ज्ञान के विना अहमर्थ आत्मा भी प्रकाशित नहीं हो सकता इत्यादि कथन अत्यन्त अविवेकमूलक है, वस्तु की उपलब्धि, उपलब्धि सामग्री के अधीन है। जैसे घट के रूपी होने पर भी अन्धे को घट का रूपाविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। द्रव्यायुतसिद्ध गन्धादिकों के द्रव्याविषयक घ्राणजादि प्रत्यक्ष होता है। सतारक गगनाभोग की दिन में तारकादि रहित उपलब्धि होती है। सतैलघृततिलक्षीरादि का तैलघृत के बिना प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही वृद्धावस्था में करणव्यापाराधीन-प्रसारशाली-धर्मभूतज्ञान की सुषुप्ति अवस्था में करण-व्यापारोपरतिनिबन्धन प्रसाराभाव से अव्यक्तावस्था हो जाने से धर्मभूत ज्ञान नहीं प्रकाशता है। अनुभवबलात् विषयसम्बन्धवेला में ही ज्ञान स्वाश्रय को स्वयं प्रकाशता है। ऐसा मानते हैं। अहमर्थ प्रत्यगात्मा की स्वस्मै स्वयं प्रकाश-मानता तत्सत्तामात्रनिबन्धन है। अतः अहमर्थ प्रत्यगात्मा का प्रकाश सुषुप्ति प्रलयादि सर्व काल में मानते हैं।"

इसका समाधान यह है जैसे चक्षु से रूपरहित घट की, त्वक् से स्पर्श रहित घट की, त्वक् से उष्णत्व रहित अग्नि की उपलब्धि नहीं होती इसी प्रकार अन्तःकरण से धर्मभूत ज्ञान के बिना अहमर्थ आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। यह श्रीकरपात्री जी का भाव है। अतः अन्धे को त्वक् से रूपाविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष हो सकता है द्रव्यायुतसिद्ध गन्धादिकों का द्रव्याविषयक प्रत्यक्ष धर्म के बिना धर्मिप्रत्यक्ष का उदाहरण नहीं हो सकता। सतारक गगनाभोग की दिन में तारका रहित उपलब्धि इसीलिये होती है क्योंकि दिन में सूर्य किरणों से तारों का अभिभव हो जाता है, अर्थात् सौरी-प्रभा तारा प्रत्यक्ष में प्रतिबन्धक है। तैल और घृत के बिना तिल और क्षीर का प्रत्यक्ष भी उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि तैल-घृत के प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक तिल तथा क्षीर है। आत्मा के धर्म-भूत ज्ञान के प्रसार और प्रसाराभाव की अनुपपत्ति को हम पहले बता चुके हैं। आत्मा का धर्मभूत ज्ञान अनित्य तथा सविषयक होता है अतः विषयसम्बन्धवेला में ही ज्ञान स्वाश्रय को स्वयं प्रकाशता है, यह कहना असंगत है। अहं पद के लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा की स्वयं प्रकाशता यावत् स्वसत्ता भाविनी है, यह कहना

उचित है। क्योंकि आत्मसत्ता आत्मा के स्वयंप्रकाशता की प्रयोजिका नहीं है। और आत्मा की प्रकाशमानता परार्थ है। क्योंकि श्रुति कहती है—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।''

१८८ पृष्ठ में ''फिरतो नैयायिकों के तुल्य आत्मा को अचेतन मानकर उसके ज्ञान को क्षणिक एवं अनन्त मानना ही ठीक है क्योंकि ऐसा अनुभव सिद्ध है।'' श्रीकरपात्री जी के इस वाक्य में अचेतन पद का प्रयोग चेतनपदार्थाज्ञान-मूलक है, ऐसा श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं।

यह लिखना असंगत है क्योंकि नैयायिक आत्मा के चैतन्य गुण (ज्ञान गुण) को स्वाभाविक नहीं मानते। अतः—

'प्राभाकरास्तार्किकाश्चप्राहुरस्याचिदात्मताम्' ऐसा कहा गया है।

१८९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं ''हम लोग वस्तुओं के अभ्युपगम में श्रुति स्मृति-सूत्र-परतन्त्र हैं।''

विवर्तवादी भी वस्तुओं के अभ्युपगम में श्रुति-स्मृति-सूत्र-परतन्त्र हैं, इस बात को मैं पूरी दृढ़ता के साथ लिख रहा हूँ। विवर्तवाद के उद्धारक श्रीशंकर-भगवत्पाद स्मृतिसंप्रदाय के प्रवर्तक तथा पंचदेवता के उपासक थे। उन्होंने बौद्धों से वर्णाश्रमव्यवस्था की रक्षा की। यह जगत्प्रसिद्ध है। और उन्होंने परम-श्रद्धापूर्वक विष्णुसहस्रनाम, व्याससूत्र, गीता, आपस्तम्बधर्मसूत्र, उपनिषद्, सनत्सुजातीय आदि पर श्रुत्यर्थाविरुद्ध भाष्य किया। आप अद्वैतवाद में द्वेष के कारण यह सब लिख रहे हैं अतः अमान्य है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि ''नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'' इत्यादिका श्रुति ज्ञाता के ज्ञान के विपरिलोपाभाव को तथा ज्ञान के दृष्टि घ्राति रसयति वक्ति (यहाँ वक्ति पद वदन-क्रिया-हेतु-भूत-ज्ञानपरक है) श्रुति-मति-स्पृष्टि-विज्ञाति-रूप-परिणामों को सुस्पष्ट कर रही है।''

यह कहना असंगत है क्योंकि उक्त श्रुति ज्ञातृरूप ज्ञान अथवा ज्ञानरूप ज्ञाता के विपरिलोपाभाव को कह रही है। इस बात को हम पीछे कई बार सिद्ध कर चुके हैं। और अन्तःकरण के परिणामभूत वृत्तिज्ञानस्वरूप दृष्टि घ्राति रसयति आदि के द्रष्टा (साक्षी) को बता रही है। इस श्रुति में ज्ञान का परिणाम 'घ्राति' आदि है। यह बात किसी पद से वाच्य व्यङ्ग्य या लक्ष्य नहीं है।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्, यह सूत्र सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में अहमर्थं ज्ञाता के अनभिव्यक्ता- वस्थज्ञान के सद्भाव को बताता है।"

इसका समाधान यह है कि यह सूत्र सुषुप्ति में अविद्या में निलीन अनभि- व्यक्तावस्थ विश्व को बता रहा है।

'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' इत्यादि श्रुति तथा

'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ! प्रभवत्यहरागमे ॥'

इत्यादि गीता वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

इसके आगे इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

'एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः'

यह सूत्र अहमर्थंज्ञाता प्रत्यगात्मा के ज्ञान की सर्वविषयकत्वावस्था को सिद्ध कर रहा है। अतः प्रमाण परतन्त्र विशिष्टाद्वैती ज्ञान को परिणामि नित्य मानते हैं।"

इसका उत्तर यह है कि अहमर्थं ज्ञाता प्रत्यगात्मा का ज्ञान सर्वविषयक नहीं होता क्योंकि अहमर्थं ज्ञाता ता अल्पज्ञ है। और ज्ञान की परिणामिनित्यता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। और लेखक ने स्वानुकूल सूत्रार्थं का निर्देश नहीं किया है। अतः इस सूत्र से अहमर्थं ज्ञाता के ज्ञान का सर्वविषयकत्व नहीं सिद्ध होता है।

इसी पृष्ठ में एक ही वस्तु को गुण एवं द्रव्य दोनों मानना भी निरर्थक है।' श्रीकरपात्री जी के इस कथन को श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी अनादिलोकव्यवहारान- भिज्ञताकृत बताते हैं और वैशेषिकों की परिभाषा से जनित भ्रान्तिप्रयुक्त कहते हैं।

हम श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी से पूछते हैं कि वह कौन सा अनादि लोक- व्यवहार है जिसमें एक ही वस्तु को गुण और द्रव्य दोनों माना गया है। और अमरकोष के 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणि लिङ्गास्तु तद्वति' इस वाक्य में शुक्लादि रूपों को गुण कहा है, पारिभाषिक शब्दों का संग्रह कोष में नहीं किया जाता।

कोष तो शक्तिग्राहक है, परिभाषा-ग्राहक नहीं। तब रूपादिकों में गुण शब्द का प्रयोग वैशेषिकों की परिभाषा कैसे है। किस व्यवहार या शास्त्र में ज्ञान को गुण और द्रव्य दोनों माना है। यद्यपि प्रधान द्रव्य में भी गुण शब्द का प्रयोग मीमांसा तथा लोक में प्रसिद्ध है तथापि आत्मा के धर्म ज्ञान में गुणत्व व्यवहार अप्रधानत्व प्रयुक्त नहीं है किन्तु आत्मधर्मत्वप्रयुक्त है।

१९० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि 'अतः ज्ञान को नित्य ही आत्माश्रित होने से आत्मगुण तथा संकोचविकासाद्यवस्थाश्रय होने से द्रव्य मानना सुसार्थक ही है।"

इसमें 'नित्य ही आत्माश्रित होने से' यह अंश अनुभव विरुद्ध है। क्योंकि सुषुप्ति तथा मूर्च्छा में ज्ञान आत्माश्रित नहीं है। और ज्ञान का संकोच और विकास अनुपपन्न है क्योंकि ज्ञान निरवयव है। सावयव का ही संकोच और विकास हो सकता है ऐसा देखा गया है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "संकोच विकास भी विकार हो हैं। इत्यादिक कथन अज्ञान तथा अभिनिवेशकृत है।"

इस कथन के अज्ञानकृत तथा अभिनिवेशकृत होने में लेखक ने कोई हेतु नहीं दिया है। संकोच-विकास कोई विकार नहीं हैं इसमें क्या कारण है।

श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "विशिष्टाद्वैतियों को ज्ञान का परिणामित्व इष्ट है।"

विवर्तवादियों को ज्ञान का परिणामित्व अनिष्ट है क्योंकि ज्ञान निरवयव है और सावयव का परिणाम होता है।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "सत्कार्यवाद की दृष्टि से ज्ञान को नित्य कहा जायेगा तब तो घटादि को भी नित्य कहा जा सकता है, फिर तो जो कार्य है वह अनित्य है यह लोकप्रसिद्धि निरर्थक हो जायेगी। इत्यादिक बच्चों का कथन है।"

यह बच्चों का कथन है इसकी सिद्धि के लिए प्रयास नहीं किया है अतः श्री त्रिदण्डी जी का आक्षेप निराधार है। सत्कार्यवाद में कार्यमात्र की स्वरूपेण अनित्यता तथा कारणरूपेण नित्यता मानी गयी है। ऐसे ज्ञान की भी नित्यता तथा अनित्यता बन सकती है। सत्कार्यवाद सिद्धान्त में स्वरूपेण किसी कार्य

की नित्यता अभीष्ट नहीं है। कृत्स्न जगत् को मिथ्या मानने वाले विवर्तवादी सत्कार्यवाद की अवहेलना नहीं करते। क्योंकि सद्ब्रह्मरूप कारणात्मना विश्व को विवर्तवादी सद्रूप मानते हैं। वृत्ति का ज्ञानत्व 'चक्षुषा पश्यामि, श्रोत्रेण शृणोमि, मनसा स्मरामि'' इत्यादिक अनुभव से सिद्ध है। यह अनुभव चाक्षुषादि ज्ञान को अनित्य बताते हैं।

'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादि श्रुति कामादिकों के मनःकरणत्व का प्रतिपादन नहीं करती। क्योंकि यहाँ पर कार्यकरण का सामानाधिकरण्येन निर्देश है। 'मृद्घटः' इत्यादि की तरह सामानाधिकरण्येन निर्देश में उपादानो-पादेयभाव प्रतीत होता है। 'मानसा ह्येव पश्यति' इत्यादि श्रुति चाक्षुषादि वृत्ति में मन के करणत्व का प्रतिपादन करती है स्वकीय कामादिरूप वृत्ति में तो मन का उपादानत्व ही है।

'तस्मादपि पृष्ठत उपपृष्ठो मनसा विजानाति' इस श्रुति से भी त्वाच विज्ञानरूप वृत्ति में मन का करणत्व सिद्ध होता है। अतः वृत्ति के ज्ञानत्व में 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुति को प्रमाण करने का विवर्तवादियों का प्रयास सफल है। और इसमें श्रुति का कदर्थन नहीं है। जैसे अग्नि का उष्णत्व असाधारणधर्म है इसी प्रकार अहमर्थ ज्ञाता अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप आत्मा के उपाधिरूप अन्तःकरण का वृत्तिरूप ज्ञान असाधारण धर्म है यह लोकानुभव सिद्ध है। तथा अनेक श्रुति स्मृतिसूत्र सिद्ध है। लोकानुभव श्रुति स्मृति सिद्ध प्रक्रिया कल्पना विवर्तवादियों की अत्यन्त उपादेय है। दर्शनादिरूप ज्ञानों का सद्भाव सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में विवर्तवादियों को भी इष्ट नहीं है। मायोपहित चैतन्यरूप परमेश्वर के ज्ञान बलसहित क्रिया को 'स्वाभाविकी ज्ञान-बल क्रिया च' इत्यादि श्रुति स्वाभाविक कहती है। यहाँ पर स्वभाव का अर्थ माया है।

'स्वं स्वरूपं सदाऽऽश्रितो भावः स्वभावः' यह स्वभावपद की व्युत्पत्ति है। 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति।' यह श्रुति तथा— 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।' यह गीता इसमें प्रमाण है—'तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्।'

यह श्रुति अपहतपाप्मत्वादि सत्य-संकल्पत्वान्त गुणों को व्यावहारिक सत्य कहती है क्योंकि—

'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ।'

यह श्रुति आत्मा को वस्तुतः निर्गुण कहती है। प्रजापतिविद्या के वे कौन वाक्य हैं जिनसे अपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वान्त गुणों की पारमार्थिकता अशरीरत्वरूप मोक्षावस्था में सिद्ध होती है।

'एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इत्यादि श्रुति से अपहत-पाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वान्त गुणों की पारमार्थिकता सुदृढ़ नहीं होती। और यह 'अर्थज्ञोऽत एव एवमत्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः' इत्यादि सुत्रों से वज्रलिखित नहीं होता है यदि होता है तो सिद्ध करना चाहिये। प्रतिज्ञामात्र से अर्थ-सिद्धि नहीं होती।

१९२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "प्रतिवादो के यहाँ निर्विषयक ज्ञान होता है इत्यादि कथन वस्तुस्थिति के अज्ञान का तथा प्रमाणों के अज्ञान का सूचक है"। इसके बाद बटबीज का दृष्टान्त विस्तारपूर्वक दिखाकर श्रीत्रिदण्डी जी कहते हैं कि "वैसे ही सुषुप्त्यादि अवस्थाओं में आत्मा का धर्मभूत ज्ञान शक्त्यात्मना अवस्थित रहता है उसके प्रकाश का प्रसङ्ग ही क्या है।"

इसका समाधान यह है कि इस कथन से सुषुप्त्यवस्था में शक्त्यात्मना अवस्थित ज्ञान का सविषयकत्व नहीं सिद्ध होता।

'पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽपि व्यक्तियोगात्।' यह सूत्र सुषुप्त्यवस्था में ज्ञान के सविषयकत्व को नहीं सिद्ध करता। अहं पद के वाच्यार्थ से भिन्न अहं पद का लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतिसिद्ध है।

'रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यम्' इत्यादिक भागवत पद्य को विवर्तवादी श्रुति सम्मत तथा श्रुति की तरह प्रमाण मानता है क्योंकि श्रीकृष्ण का परमार्थरूप तो निर्विशेष ब्रह्म ही है, श्यामसुन्दर रूप उसमें रज्जु में सर्प की तरह अविद्या कल्पित है यही इसका भाव है। इस प्रकार इस पद्य से विवर्तवाद की पुष्टि होती है।

ज्ञान के स्वप्रकाशत्व की समालोचना-समीक्षा

१६४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "कहा जाता है वर्तमान-दशा शब्द से श्रुति में मन की कार्यता स्पष्टरूप से उक्त है। यह सब कथन विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ताज्ञानकृत है। विशिष्टाद्वैती सत्कार्यवादी हैं। विशिष्टाद्वैत-वादियों को दो प्रकार की नित्यता मान्य है। एक कूटस्थनित्यता एवं दूसरी परिणामिनित्यता। कूटस्थनित्यता केवल परमात्मतत्त्व और जीवात्मतत्त्व ही मान्य है। ज्ञान की परिणामिनित्यता मान्य है। ज्ञान का अहमर्थं प्रत्यगात्म-नित्यत्व परिणामित्व 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेः-' इत्यादि, 'नहि घ्रातुर्घ्रातेः' इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। इस तत्त्व का कुतर्कजालों से विवर्तवादी प्रभृति आवरण न कर सकें एतदर्थं भगवान् बादरायण 'ज्ञोऽत एवं....तद्गुणसारत्वात्' इत्यादि 'पुंस्त्वा-दिवत्वस्य' इत्यादि सूत्रों से सुप्रकाशित करते हैं। मोक्षसमय में 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' इत्यादि श्रुतिसिद्ध ज्ञान के पूर्ण विकास को 'एवमप्युपन्यासात्' इत्यादि सूत्रों से सुप्रतिष्ठित करते हैं।"

इसका समाधान यह है कि 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुति में मन की धीरू-पेण परिणामितारूप कार्यता स्पष्ट-रूप से उक्त है। मन के परिणाम धीरूप ज्ञान का परिणाम नहीं होता। क्योंकि वह विकृति ही है किसी की प्रकृति नहीं। 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडशकश्च विकारः।' ऐसा लिखा है। अतः ज्ञान विकृति हो सकता है, किसी का प्रकृति नहीं। यदि ज्ञान को आत्मधर्मभूत गुण नैयायिक की तरह मानें तब तो परिणाम अत्यन्त असंभवी है। अनवयव वस्तु का परिणाम नहीं होता। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेः' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान की नित्यता केवल सिद्ध होती है, परिणामिता नहीं। धीरूप ज्ञान का मनोधर्मत्व 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिसिद्ध है, आत्मधर्मत्व नहीं। 'ज्ञोऽत एव' 'तद्गुण-सारत्वात्' इत्यादि 'पुंस्त्वादिवत्वस्य' इत्यादि 'एवमप्युपन्यासात्' इत्यादि सूत्रों से ज्ञान का नित्यत्व तथा परिणामित्व नहीं सिद्ध होता। वस्त्रवेष्टितस्यमन्तकमणि घटोदर में प्रकाशित विजलीवत्ती का प्रकाश संकोच विकास-शाली हो सकता है क्योंकि वह द्रव्य है। ज्ञान आत्मा का गुण तथा निरवयव वस्तु है अतः उसका संकोच-विकास नहीं हो सकता। और ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म अग्नि

के औष्ण्य की तरह नहीं है किन्तु कादाचित्क तथा कृत्रिम है, सुषुप्ति मूर्च्छा प्रलय में ज्ञान ही रहता है। यह अनुभव तथा श्रुत्यादि-सिद्ध है। अतः आत्मा के धर्मभूत ज्ञान की परिणामिनित्यता अनुपपन्न है।

१९६ पृष्ठ में श्रोत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "प्रतिवादी के मत में भी 'इसलिये नित्य ज्ञान द्रव्य क्या है यह दुर्निरूप ही है।' यह श्रीकरपात्री जी का कथन विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ज्ञानगन्धशून्य का प्रलाप उपेक्षणीय है। अग्नि के औष्ण्य के समान आत्मा के स्वाभाविक धर्मभूत ज्ञान का निरूपण अनेक वार किया जा चुका है।"

इसका समाधान यह है कि श्रीकरपात्री जी को विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का ज्ञान सम्यक् प्रकार से है। यतः उन्होंने ज्ञान के आत्मधर्मत्व, स्वाभाविकत्व परिणामिनित्यत्व, संकोच-विकासशालित्व का खण्डन प्रमाण तथा तर्कों द्वारा बहुवार किया है।

१९६ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "कहा जाता है कि ईश्वर का स्वरूप आत्मा के नित्य परतन्त्र होने से ज्ञान जीवेश्वर का गुण कहा जाता है तथा अवस्थाश्रयत्वरूप द्रव्यलक्षणाश्रय होने से ज्ञान द्रव्य कहा जाता है, वृत्ति के ज्ञाघात्वर्थता में कोई प्रमाण नहीं है।"

इसका समाधान यह है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानघन एव' 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों से जीवेश्वर का ऐक्य तथा ज्ञानरूपत्व सिद्ध है। जीवेश्वर के स्वरूपभूत ज्ञान में अननुभूतित्व इष्ट है। क्योंकि प्रमाणजन्य ज्ञान में अनुभूतित्व व्यवहार होता है। स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है। प्रमाणजन्य नहीं। द्रव्यत्व और गुणत्व दोनों विरोधी धर्म हैं। क्योंकि गुणाश्रयत्वरूप द्रव्य है और निर्गुणत्व निष्क्रियत्वरूप गुणत्व है। नित्यपरतन्त्रत्वरूप गुणत्व यदि ज्ञान में माना जाये तो भगवान् में भी 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादि वचन सिद्ध भक्तपरतन्त्रत्व होने से गुणत्व आपन्न हो गया। अवस्थाश्रयत्वरूप द्रव्यत्व ज्ञान में अनुपपन्न है क्योंकि ज्ञान के अनवयव होने से अवस्थालक्षण परिणाम का खण्डन पीछे अनेक वार कर चुके हैं। वृत्तिरूप ज्ञान ज्ञाधात्वर्थ है इसमें 'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादि श्रुतिप्रमाण हैं। इसमें मन का धीरूप परिणाम कहा गया है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "घटं जानामि" यह प्रतीति वर्तमान-घट-विषयक है" इत्यादि कथन सर्वमताज्ञानपिशुन है। वर्तमान अवस्था में घट भी अज्ञासिषम् 'जानामि, ज्ञास्यामि' इन तत्तत्कालावच्छिन्नप्रतीतियों का विषय सभी अक्षणिकवादियों के मत में होता है। विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त में सुखादिकों की ज्ञानावस्थाविशेषता मान्य होने से सुखादिक में ज्ञानलक्षणातिव्याप्ति कथन विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ताज्ञानकृत है।"

इसका समाधान यह है कि 'घटं जानामि' यह प्रतीति वर्तमानघट विषयक है क्योंकि घटासत्वदशा में यह प्रतीति नहीं होती। अतीत घट या अनागत घट की जब प्रतीति होती है तब 'अतीतं घटं जानामि, भाविनं घटं जानामि' यह प्रतीति का आकार होता है। यह सर्वानुभवसिद्ध है। सुखादिकों की ज्ञानावस्था विशेषता सर्वपरीक्षकासम्मत अनुभवविरुद्ध तथा अयुक्त है। 'सुखमनुभवामि' इस अनुभव में सुख में ज्ञानकर्मता प्रस्फुट-रूप से प्रतीत हो रही है। ज्ञानावस्था-विशेष में ज्ञानकर्मता युक्तियुक्त नहीं है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "अनुभूति वर्तमान काल में स्वाश्रय के प्रति स्वसत्ता से ही प्रकाशती है, इसका यह अर्थ है कि अनुभूति वर्तमान काल में अनुभूत्यन्तर निरपेक्ष स्वाश्रयकर्तृक व्यवहारार्ह होती है।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है। क्योंकि यह अर्थ वाच्यार्थ नहीं है। यह तो अविप्रतिपन्न है। शक्यसम्बन्धाभाव से लक्ष्यार्थ भी नहीं है। व्यञ्जना के अनेक सहस्र प्रभेदों में एक के भी निर्देशन करने से व्यङ्ग्यार्थ भी नहीं है।

१९७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "अनुभूति के उत्पन्न होने पर मुझे अनुभूति हुई इत्यादिक प्रलाप अज्ञानकृत है। अतीत स्वज्ञान की स्मृतिरूप ज्ञानविषयता भाविस्वज्ञान की कारणलिङ्गकानुमितिविषयता, चेष्टा-विशेषकानुमितिलिङ्गविषयता, अमुक एतज्जानाति इत्याद्याकारक आप्तवाक्यजन्य बोधविषयता ऋषि-देव-ईश्वर प्रभृतियों के ज्ञानों की वेदवाक्यजन्यबोधविषयता अपलाप नहीं है।"

इसका उत्तर यह है कि वृत्तिरूप अनुभूति स्मृत्यादिरूप वृत्त्यन्तर से वेद्य अवश्य है क्योंकि वृत्ति की वेद्यता अद्वैती मानते हैं, वृत्तिरूप अनुमिति साक्षि-वेद्य भी है। 'सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिज्ञानस्य विषयः।' यह अद्वै-

तियों का सिद्धान्त है। साक्षिरूप अनुभव स्वप्रकाश है। अन्यथा उसको वेद्य मानने पर आत्माश्रय, अन्योऽन्याश्रय, चक्रक, अनवस्थादोष अनिवार्य आपतित होगा।

१९७ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं यो वेद। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म की वेद्यता को सुस्पष्टरूप से कहती हैं। 'वृत्तिव्याप्यत्वरूप ज्ञेयत्व ब्रह्म में होने पर भी फलव्याप्यत्व रूप ज्ञेयत्व नहीं रहता।' इत्यादिक पदों की परिभाषा कल्पनापूर्वक कथन श्रद्धालु स्त्रियाँ तथा स्त्रीकल्पों के प्रति ही शोभ सकता है, प्रामाणिकों के प्रति नहीं। शब्दों के लिङ्गवचनादिविशिष्टस्वरूप तथा अर्थादि परम्परया प्रवृत्त वृद्धव्यवहारावगत तथा तथाभूत वृद्धव्यवहारावगमनिबन्धन व्याकरणस्मृत्यवगत ही प्रामाणिकों को मान्य है। स्वात्मज अप्रतिष्ठित तर्ककल्पित प्रक्रियाभिनिविष्टों की परिभाषाओं से अवगत अर्थ प्रामाणिकों को मान्य नहीं हैं। उक्त द्विविध ज्ञेयत्व न तो अनादिपरम्पराप्रवृत्त वृद्धव्यवहारागत ही है और न तो व्याकरणादिस्मृत्यवगत ही है।"

इसका समाधान यह है कि उपर्युक्त श्रुतियाँ ब्रह्म को वेद्य कहती हैं और--

'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म को अवेद्य करती हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्म के अवेद्यत्व और वेद्यत्व दोनों की उपपत्ति के लिये वृत्तिविषयस्वरूप अवेद्यत्व ब्रह्म में मानते हैं। धीरूप ज्ञान की अन्तःकरणपरिणाम-विशेषरूपता 'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। अन्तःकरण जड है, अतः उसका वृत्तिरूप परिणाम भी जड ही है। अतः उसमें वस्त्ववभासकत्व की उपपत्ति के लिये चिदाभासरूप चित्सम्बन्ध मानते हैं। विषय का भान सदा नहीं होता इसलिये विषयावच्छिन्न चैतन्य को अज्ञानावृत मानते हैं। गीता में भी लिखा है :--

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' 'तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।' यह अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है। वेद्य वस्तु में वृत्तिविषयता और फलविषयता दोनों है किन्तु स्वप्रकाश सर्वावभासक ब्रह्म में अज्ञाननाशार्थ केवल वृत्तिविषयता है, फलविषयता नहीं। इस प्रकार ब्रह्म में वेद्यत्व और अवेद्यत्व की उपपत्ति होती है। ब्रह्म औपनिषद है। उसका स्वरूप उपनिषन्मात्र-

वेद्य है, वह अनादि वृद्धव्यवहारपरम्परा से अथवा व्याकरणादिस्मृतियों से वेद्य नहीं है। जैसे अदृष्ट चोदनामात्र वेद्य है। ब्रह्मज्ञान के लिये श्रुति और श्रुत्यनुकूल तर्क अपेक्षित हैं। इस लिये कहा गया है :—

'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय इति दर्शनहेतवः॥

श्रुत्यनुकूल तर्क अप्रतिष्ठित तथा स्वात्मज नहीं है।

१९८ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "यह क्रियासमभिहारेण कहा जा चुका है कि अहमर्थ आत्मा का धर्मभूत ज्ञान परिणामिनित्य है, संकोच विकासशाली है उसके विषय के साथ सम्बन्ध के लिए इन्द्रिय व्यापारादिकों का साफल्य है। अत: फिर उसमें इन्द्रिय मन आदि का व्यापार व्यर्थ ही होगा, यह कथन अत्यन्त अज्ञानमूलक तथा मन्द है।"

इसका समाधान यह है कि यह क्रियासमभिहारेण कहा जा चुका है कि अहं पद का वाच्यार्थ-अनुपहित आत्मा नहीं है तथा ज्ञान उसका धर्मभूत नहीं है। किन्तु ज्ञान आत्मस्वरूपभूत है और ज्ञान निरवयव होने से परिणामिनित्य भी नहीं है तथा संकोच विकासशाली भी नहीं है और न तो भवदभिमत ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध के लिए इन्द्रियव्यापारादिकों का साफल्य है। अतः फिर उसमें इन्द्रियमन आदि का व्यापार व्यर्थ ही होगा।' यह कथन अत्यन्त युक्त तथा संगत है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "धर्मभूत ज्ञान अनादि प्रवृत्त वृद्धव्यवहारों से तथा कुतार्किकों के मुखभञ्जनार्थ प्रवृत्त 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः, ज्ञोऽत एव', इत्यादि अपरिमित श्रुति-स्मृति-सूत्रों से सिद्ध है। अतः 'धर्मभूत ज्ञान सिद्ध नहीं होता।' यह कथन अतिमन्द है।"

इसका समाधान यह है कि भ्रान्त्या अनादि प्रवृत्त वृद्धव्यवहार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से बाधित है। अतः ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, धर्म नहीं। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' यह श्रुति द्रष्टा की दृष्टिरूपता को बताती है। क्योंकि 'द्रष्टुः दृष्टेः' यहाँ पर समानाधिकरण में षष्ठी है। 'संभवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्याय्यम्' यह आप्तवाक्य है। 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः

क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।' इस गीतावाक्य में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप जीव में अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान के आश्रयत्वरूप का उपवर्णन है। 'ज्ञोऽत एव' इत्यादि सूत्रों में जाड्यव्यावृत्तिरूप ज्ञातृत्व विवक्षित है। इस प्रकार अपरिमित श्रुति-स्मृति-सूत्रों से धर्मभूत ज्ञान नहीं सिद्ध होता। अतः "धर्मभूत ज्ञान सिद्ध नहीं होता' यह कथन अत्यन्त युक्तियुक्त है।

इसके आगे श्री त्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "चेतनस्य ज्ञातुर्भावश्चैतन्यम्, यह व्याकरणस्मृत्यनुसारी चैतन्य पद का अर्थ हो निर्विषय निराश्रय चैतन्य को अप्रामाणिक सिद्ध कर रहा है। वृत्ति के ज्ञानत्व का निराकरण सम्यक् किया जा चुका है। अतः वृत्ति के ज्ञानत्व को पुरस्कृत करके कृत्स्न कथन निःसार है।"

इसका समाधान यह है कि 'चेतन्यस्य ज्ञातुर्भावश्चैतन्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वृत्तिरूप ज्ञान चैतन्य पद का वाच्यार्थ है। विषयावभासकत्वरूप सादृश्य-मूलक लक्षणा से चैतन्यपद का प्रयोग आत्मस्वरूपभूत ज्ञान में भी किया जाता है।

'चैतन्यविभवश्चायमविच्छेदेन वर्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते॥'

यहाँ पर भर्तृहरि ने चैतन्य पद का आत्मा में प्रयोग किया है। आत्मरूप चैतन्य सुप्ति-समाधि-निद्रा आदि दशाओं में निर्विषय है और सर्वदा ही निराश्रय है। अतः आत्मरूप चैतन्य को निर्विषय निराश्रय कहना प्रामाणिक है। वृत्ति के ज्ञानत्व का समर्थन 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के आधार पर किया जा चुका है। अतः वृत्ति के ज्ञानत्व को पुरस्कृत करके कृत्स्न कथन सारभूत है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "श्रुतिसिद्ध गुणविभूतिविशिष्टरूप से ब्रह्म विदिततया मत है।" इत्यादि कथन स्वप्रक्रियाभिनिवेशमूलक श्रुतिस्मृतिसूत्र विरुद्ध है। सर्वानर्थ निवर्हण ब्रह्मबोधनैकपर श्रुतिस्मृतिसूत्र एक ही ब्रह्म को सगुणनिर्गुण कहते हैं। निर्गुणोक्तियाँ हेय गुणनिषेधपरक हैं। सगुणोक्तियाँ कल्याणगुणपरक हैं। इस अर्थ को बहुतेरे वाक्य तत्तद् हेयगुणों का निषेध करके कल्याणगुणों का विधान करते हुए सिद्ध करते हैं। जैसे—

'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।'

यह दहर वाक्य दहर आत्मा में अपहतपाप्मत्वादि हेयगुणों का निषेध कर सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्वरूप कल्याणगुणों का विधान करता हुआ सगुणनिर्गुण श्रुतियों के विषयों को व्यवस्थित सिद्ध कर रहा है।"

इसका समाधान यह है कि "श्रुतिसिद्ध गुणविभूतिविशिष्टरूप से ब्रह्म विदिततया मत है" यह कथन स्वप्रक्रियाभिनिवेशमूलक नहीं है और न तो श्रुतिस्मृतिसूत्र विरुद्ध ही है। क्योंकि श्रुतिस्मृतिसूत्रविरोध का आपने स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। एक ही ब्रह्म का सगुणत्व और निर्गुणत्व श्रुतिस्मृतिसूत्र प्रतिपादित अवश्य है। किन्तु ब्रह्म का गुणसामान्याभावरूप निर्गुणत्व परमार्थ है और सगुणत्व अध्यारोपित है। क्योंकि 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' इस श्रुति में केवल और निर्गुण पदों से सर्वधर्मशून्यत्व का ब्रह्म में लाभ होता है। यदि ब्रह्म में सगुणत्व स्वाभाविक हो तो कैवल्य नहीं बनेगा। और सगुणत्व तथा निर्गुणत्व भावाभावरूप होने से परस्पर विरोधी भी हैं। सगुणपद और निर्गुण पद का क्रमशः कल्याणगुणविशिष्ट तथा हेयगुणशून्य शक्यार्थ नहीं है। लक्षणा में प्रमाण नहीं है। भागवत के प्रथम श्लोक में 'यत्र त्रिसर्गो मृषा' इस वाक्य से सत्य ब्रह्म में त्रिसर्ग को मृषा (अध्यारोपित) कहा है। और समस्त कल्याणगुण सत्त्वगुण का कार्य है। सत्त्वप्राकृत है। उसका कार्य समस्तकल्याणगुण ब्रह्म में स्वाभाविक कैसे होगा। अतः ब्रह्म में सगुणत्व अध्यारोपित है। दहर वाक्य में सर्वपापनिवृत्तिरूप आपहतपाप्मात्व हेयगुण नहीं है। तत्तत् कार्यानुकूल भगवान् का काम और संकल्प आगन्तुक होने से स्वाभाविक नहीं।

'ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे॥'

इस भागवत पद्य में ब्रह्म को निर्गुण तथा अनिर्देश्य कहा है। सगुण ब्रह्म अनिर्देश्य कैसे हो सकेगा। 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' इत्यादि 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये

११

हिरण्मयः पुरुषः दृश्यते ।' इत्यादि श्रुतियों में भी पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म का निर्गुणत्व स्वाभाविक तथा परमार्थ है और सगुणत्व अध्यारोपित है।

'अजायमानो बहुधा विजायते।' इस उत्तर-नारायण-वाक्य में ब्रह्म का अजायमानत्व परमार्थ है और बहुधा विजायमानत्व देहेन्द्रियादिरूप जायमान उपाधि के संसर्ग से अध्यारोपित है। क्योंकि श्रुतियों में ब्रह्म को अज कहा गया है। यदि ब्रह्म का वस्तुभूत जन्म माना जाय तो ब्रह्म में अनित्यत्व दुर्वार हो जायगा, ब्रह्म अतद्व्यावृत्तिमुखेन वेदान्तैकवेद्य है। और विधिमुखेन अविज्ञात है। 'अविज्ञातं विजानताम्,' के 'एतावत्वेन अविज्ञातम्।' इस लाक्षणिक तथा संकुचित अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है।

'क इत्था वेद यत्र सः' इस श्रुति-वाक्य में ब्रह्म के प्रकार तथा आधार का निषेध है।

'ते ये शतं मानुषा आनन्दाः' इत्यादि तथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियाँ आनन्दरूप ब्रह्म की इयत्ता का निषेध करती हैं। यदि ब्रह्म वस्तुतः सगुण हो तो उसकी इयत्ता अनिवार्य है। 'ब्रह्म इयत्तापरिच्छिन्नं सगुणत्वाद् घटादिवत्' यह अनुमान प्रयोग हो सकता है।

'अथात आदेशो नेति नेति' 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' इत्यादि, 'अहं हि पृष्टोऽर्यमणः' इत्यादि श्रुति-स्मृति-वाक्यों को ब्रह्म की इयत्ता के निषेध पर कभी यदि मान लिया जाये तब भी ब्रह्म का वस्तुतः सगुणत्व नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि सगुणत्व में इयत्ता अनिवार्य है। परमेश्वर को तथा परमेश्वर के गुण-विभूतियों को जानने वाले उनकी इयत्ता नहीं जानते हैं यह भले ही हो किन्तु सगुण ब्रह्म की इयत्ता तो दुर्वार है। वस्तु का अज्ञान वस्तु के अभाव का साधक नहीं है।

२०२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "सगुणत्व, निर्गुणत्व, विज्ञातत्व, अविज्ञातत्व-प्रतिपादक श्रुतिस्मृति वाक्यों का अविरोधेन व्यवस्था और एकार्थप्रतिपादकतया समानभाव से प्रामाण्य मान कर सामञ्जस्य बताते हैं किन्तु यह अत्यन्त असमञ्जस और अनुपपन्न है क्योंकि भावाभाव का समसत्ताक होने पर अविरोध कथमपि नहीं बन सकता। और तत्प्रतिपादक वाक्यों का समानभाव से प्रामाण्य भी नहीं बन सकता। अद्वैतवादी बिना तात्पर्यानुपपत्ति

के कहीं भी श्रुति वाक्यघटकपदों में लक्षणा नहीं मानते। अद्वैतवादी समस्त श्रुतिवाक्यों को भ्रमसिद्धार्थानुवादी नहीं कहते और न मानते हैं।

ये श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी के आक्षेप अद्वैतवाद में विद्वेषमूलक और अद्वैत सिद्धान्त के अज्ञानमूलक हैं। मेरी समझ में ऋतंभराप्रज्ञा श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी को ही नहीं प्राप्त हुई है, वह श्रीकरपात्री जो को भी प्राप्त है।

श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "प्रत्यक्षादि ग्राह्य आगमग्राह्य कहने पर भी आदि पद की आगमेतरग्राहकपरता साधारणजन भी जानता है।"

इसका समाधान यह है कि आदि पद का आगमेतरग्राहक अर्थ है तो क्या ब्रह्म स्मृति और सूत्रों से ग्राह्य नहीं है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डो जी लिखते हैं "किञ्चिद्रूप से ब्रह्म जानता है परिपूर्ण-रूप से नहीं जानता।" तथा यह कथन भी निःसार है, भ्रमपूर्ण है।"

इसका समाधान यह है कि ब्रह्म वस्तुतः नामरूप से शून्य है। 'नानारूपे किल जन्म कर्म वा' इत्यादि भागवत इसमें प्रमाण है। तब किञ्चिद्रूप से ब्रह्म जाना जाता है, परिपूर्णरूप से नहीं जाना जाता। यह कथन सर्वथा निःसार है। यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति सर्वथा भ्रम रहित है। विशिष्टाद्वैती ब्रह्म को किञ्चिद्रूप से वेद्य तथा इयत्तया अवेद्य कहते हैं। यह कथन सर्वथा असंगत है। क्योंकि ब्रह्म तो नीरूप है। अतः ब्रह्म को अद्वैतमतानुसार कल्पित-रूप से वेद्य तथा सर्वरूपेण अवेद्य कहना समुचित है। 'न्यायव्याकरण भी परिश्रम बिना नहीं जाना जाता फिर ब्रह्म की क्या बात है। श्रीकरपात्री जी के इस कथन को श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी बालभाषित कहते हैं। इस कथन से प्रतीत होता है कि श्रीत्रिदण्डी स्वामो जी को यह अधिकार है कि जिसको जब चाहें जैसा चाहें जो चाहें कह दें। पाठक स्वयं विचार करलें कि यह कथन कितना असंगत तथा निराधार है।

२०४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है कि "जब भगवदनुग्रह बिना जीव किसी चोज को नहीं जानता तो अनुग्रह बिना ब्रह्म के भी जानने का प्रसंग ही क्या था जो इसका निषेध करते।" इस कथन का भी 'नाहं वेदैर्न तपसा' इत्यादि वाक्यों से इतरचीजों को जानने के अनुगुण भगवदनुग्रह की अपेक्षा

से भगवत्तत्व जानने के अनुगुण अनन्यभक्ति साध्य विलक्षण भगवदनुग्रह की आवश्यकता सिद्ध है।"

यह कथन अद्वैतमत में विद्वेषमूलक है। क्योंकि श्रीकरपात्री जी का यही अभिप्राय है कि सर्वपदार्थ ज्ञान और ब्रह्मज्ञान भी बिना भगवदनुग्रह के नहीं होता इस उचित कथन का प्रत्याख्यान करना श्रीत्रिदण्डी जी का बाल्य है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि "ज्ञान को ज्ञेय मानने पर ज्ञान के अनित्यत्व तथा जड़त्व की आपत्ति समझना भ्रममात्र है।"

यह कथन भी असंगत है क्योंकि 'ज्ञानमनित्यम्, ज्ञेयत्वाद्, घटादिवत्' 'ज्ञानं जडं ज्ञेयत्वाद् घटादिवत्' यह अनुमान प्रयोग हो सकता है। अद्वैतवाद में प्रथम अनुमान में परमाण्वाकाशादि में व्यभिचार नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अद्वैतवाद में परमाण्वाकाशादि अनित्यत्वेन अभिप्रेत हैं। और द्वितीय अनुमान में आत्मा में व्यभिचार नहीं होगा क्योंकि अद्वैतवाद में स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञेयत्व हेतु नहीं है।

"ज्ञाता स्वस्मै स्वयं प्रकाशमान है, ज्ञानस्वाश्रय को वर्तमानावस्था में स्वयं प्रकाशता है, ज्ञात्रन्तर को ज्ञात्रन्तर ज्ञान से प्रकाशते हैं, ज्ञान वर्तमानेतर अवस्थाओं में स्वाश्रय को भी ज्ञानान्तर से प्रकाशता है, स्वाश्रयेतर को सभी अवस्थाओं में ज्ञानान्तर से ही ज्ञान प्रकाशता है।"

यह सब श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी का कथन प्रमाण और तर्क से रहित तथा सर्वपरीक्षकासम्मत तथा प्रतिज्ञामात्र है। अपरिच्छिन्न ब्रह्मानन्द विशुद्धमनोवृत्ति का विषय है और वृत्तिस्थ फल का विषय नहीं है। अतः ब्रह्म को विशुद्ध मनोगोचर तथा अविशुद्ध मन का अगोचर दोनों प्रकार से श्रुतियाँ बताती हैं। इस प्रकार विवर्तवादियों की प्रक्रिया प्रामाणिक है, तथा उपादेय है।

२०५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है—'भावस्वभाववैचित्र्य प्रमाणसिद्ध है।' भावस्वभाववैचित्र्य व्यावहारिक तथा प्रमाणसिद्ध है यह अद्वैतवादियों को मान्य है। वस्तुतः सभी भाव ब्रह्म-विवर्त होने से ब्रह्मरूप हैं अतः उनका स्वभाववैचित्र्य परमार्थ नहीं है। रूपादिकों का तथा चक्षुरादिकों का ज्ञेयत्वेन सादृश्य तथा ज्ञानकरण भाववत्त्वेन तथा ज्ञानकरणत्वेन विसदृशता अद्वैतवादियों को मान्य है। विशुद्ध मन की तथा उपनिषद् वाक्यों की ब्रह्म

प्रमाजनकता भी अद्वैतियों को मान्य है। कृत्स्न वेदवाक्यों को स्वप्रतिपाद्य अप्राह्यांश में समानतया प्रामाण्य शास्त्रतात्पर्यविद् जैमिन्यादि मीमांसक प्रवरों से उद्घोषित है। यह बात भी अद्वैतियों को इष्ट है। 'आहवनीये जुहोति' 'अश्वस्य पदे जुहोति' 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि वाक्यों का उत्सर्गापवादन्याय से विषयव्यवस्थया समानभावेन प्रामाण्य सुरक्षित है यह भी अद्वैतियों को इष्ट है। संसारिजनों का प्रसिद्ध मलिन मन ब्रह्मसाक्षात्कारप्रमा का कारण नहीं है, यह 'यं मनसा मनुते' इत्यादि श्रुतियों का प्रतिपाद्य है। उपासकों का विशुद्धमन ब्रह्मसाक्षात्कारप्रमा का करण है, यह "मनसा तु विशुद्धेन' 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया'' इत्यादि श्रुतियों का प्रतिपाद्य है। यह भी अद्वैतियों को इष्ट है। क्योंकि अद्वैतियों का यह सिद्धान्त है—

'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥'

'नैतन्मनो विशति' इत्यादि श्रीमद्भागवत पद्य से भी मनोवागाद्यगोचरता और इतरबोधकनिषेधमुखेन अब्रह्म निषेधमुखेन च ब्रह्म में उपनिषद् वाक्य वेद्यता तथा ब्रह्म में सर्वनिषेधसाक्षिता प्रतिपादित होती है। ब्रह्म निर्गुण निर्धर्मिक असंग है अतः वह विधिमुखेन उपनिषद् वाक्य प्रतिपाद्य नहीं है। यह—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति भी असत्य व्यावृत्त और जडव्यावृत्त में लक्षणा करके निषेधमुखेनैव ब्रह्म का प्रतिपादन करती है। अन्यथाभावमुखेन तथा अभावमुखेन उभयथा ब्रह्मबोधकता प्रकृतवाक्य में मानने पर वाक्यभेद दुष्परिहर है। लक्षणा पददोष है, और वाक्यभेद वाक्य दोष है। अतः लक्षणाऽपेक्षया गर्हित है। इस प्रकार उपनिषद् वाक्य जन्य मनोवृत्ति विशेष गोचरता ब्रह्म में अद्वैती मानते हैं। तादृश वृत्तिस्थ चिदाभास रूप फलविषयता स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म में नहीं मानते।

विवर्तवादी उपाध्युपहित अशुद्ध ब्रह्म को वाग्गोचर तथा मनोगोचर मानते हैं, अनुपहित तथा शुद्ध ब्रह्म को वाङ्मनसागोचर कहते हैं। यह अद्वैतियों का कथन अत्यन्त उपादेय है। क्योंकि 'अजायमानो बहुधा विजायते' इत्यादि श्रुति से

अनुपहित ब्रह्म का अजायमानत्व तथा उपाध्युत्पत्ति द्वारा उपहित ब्रह्म का बहुधा विजायमानत्व सिद्ध होता है।

२०८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी प्रतिज्ञा करते हैं कि—"ब्रह्म सदा सर्वत्र अखिल हेय प्रत्यनीकत्व तथा कल्याणैकतानत्व रूप उभयलिङ्ग विशिष्ट ही है।" किन्तु इसमें कोई प्रमाण या हेतु नहीं देते हैं अतः यह वचन उपेक्ष्य है।

'ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ॥'

इस भागवत वाक्य में ब्रह्म को निर्गुण (सत्त्वादिगुण रहित) होने से अनिर्देश्य (शब्दाप्रतिपाद्य) कहा है। और श्रुतियों को गुणवृत्ति (सत्त्वादि गुण तथा तत्कार्याभिधानप्रवृत्तिशील) कहा है।

'सदसतः परे' का अर्थ है--पृथिवी जल तेज रूप सत् अर्थात् व्यक्त तथा वायु आकाश रूप असत् अव्यक्त से ब्रह्म पर है। 'सच्चत्यच्चाभवत्' इस श्रुति में 'सत्' का अर्थ प्रत्यक्ष पृथिवी जलतेज है और 'त्यत्' का अर्थ परोक्ष वायु आकाश है। 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियाँ लक्षणा वृत्ति से निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ अभिधावृत्ति से ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं यह शब्द लभ्य नहीं है केवल इन श्रुतियों से ब्रह्म की यया कयापि वृत्या वेदवेद्यता ही सिद्ध होती है।

यदि गुणवृत्ति शब्द का अर्थ गुणप्रवृत्तिनिमित्तक शब्द किया जाय तो क्रियादि प्रवृत्तिनिमित्तक शब्दों का संग्रह नहीं होगा। सत् का चेतन और असत् का अचेतन अर्थ शब्दमर्यादा लभ्य नहीं है। और ब्रह्म चेतन जीव से परे नहीं है वह तो 'अहं ब्रह्माऽस्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति ब्रह्म से जीव स्वरूप से अभिन्न ही है। निर्गुण शब्द निष्क्रियत्वादि का उपलक्षण है इसमें कोई प्रमाण नहा है।

'ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ॥'

इस भागवत पद्य में शङ्का की गयी है कि ब्रह्म तो निर्गुण (निधर्मक निर्विशेषण) अथवा सत्त्वादिगुण रहित है उसमें गुणवृत्ति अर्थात् सत्त्वादिगुण-

कार्य वस्तु में प्रवृत्त होने वाली अथवा यत् किञ्चद् धर्मरूपविशेषण प्रवृत्तिनिमित्तक श्रुतियाँ कैसे साक्षात् अर्थात् अभिधा द्वारा प्रवृत्त होती है।

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्, न ताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" वाक्यों से उपहित तथा अनुपहित ब्रह्म यथा क्रम विधि तथा निषेध द्वारा यथा सम्भव अभिधा अथवा लक्षणा वृत्ति से कहा गया है: अचेतनवाची घटादि शब्द स्वोपहित ब्रह्म का अभिधावृत्ति से प्रमापक है और चेतनवाची आत्मब्रह्मादि शब्द लक्षणावृत्ति से अनुपहित ब्रह्म का प्रमापक है चेतनवाची आत्मादि शब्द भी अभिधावृत्ति से उपहित ब्रह्म का ही प्रमापक हैं।

क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को वाङ्मनस गोचर कहती है। सर्व शब्द सभी वृत्तियों से पूर्वोक्त प्रकार से उपहित तथा अनुपहित ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं यह कहना सर्वथा उचित है।

'सदसतः परे' इस भागवत वाक्य में सच्छब्द चेतन परक नहीं है। क्योंकि ब्रह्म चेतन से परे नहीं हैं, किन्तु चेतन है। अतः सच्छब्द का अर्थ पृथिवी जल तेज है जो कि सत्त्वेन ग्राह्य हैं। और असच्छब्द का अर्थ अव्यक्त वायु आकाश है। ब्रह्म को चिद् विलक्षण कहना 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों के विरुद्ध है। 'अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियाँ लक्षणा से निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ बाधा में सामानाधिकरण्य का प्रतिपादन करती हैं। जैसे—'योऽयं स्थाणुः पुमानेषः' यहाँ पर बाधा में सामानाधिकरण्य है।

अचेतन गत धर्म प्रवृत्तिनिमित्तक शब्दों का अचेतन विलक्षण ब्रह्म में मुख्यवृत्ति कैसे हो सकती है यह 'ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये' इत्यादि पद्य का अर्थ है।

अतः "चेतनाचेतन गत जातिप्रवृत्तिनिमित्तक शब्दों का चेतनाचेतनविलक्षण ब्रह्म में मुख्य वृत्ति कैसे हो सकती है।"

यह श्रीत्रिदण्डी जी का कहना असङ्गत है।

'बुद्धीन्द्रियमनःप्राणाञ्जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मने कल्पनाय च॥'

इस भागवत पद्य का अर्थ है कि प्रभु ने मनुष्यों के बुद्धि इन्द्रिय मन प्राण की सृष्टि की। 'मात्रार्थम्'=मीयन्ते प्रमीयन्ते इति मात्रा विषयास्तदर्थम् विषयग्रहणार्थम्। शब्दस्पर्शादि विषयों के ग्रहण के लिए। और भवार्थम्—संसार की उत्पत्ति के लिए। क्योंकि बुद्धिन्द्रियादि रूप सूक्ष्म शरीरोपहित चित् को ही ब्रह्मा कहते हैं। "आत्मने"—उपहितस्य अनुपहितस्य च स्वस्वरूपस्य ग्रहणाय। दृश्यते त्वग्रया बुद्धया, मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से यह अर्थ स्वीकार्य है। "कल्पनाय च"—जगत् की भोग्यत्वाकारेण कल्पना के लिए। क्योंकि बुद्धीन्द्रियादि के विना जगत् में भोग्यत्वाकार की कल्पना नहीं हो सकती।

इस अर्थ के विपरीत जो श्रीत्रिदण्डी जी ने अर्थ किया है वह असंगत है यह पाठक समझ लें, इसलिए उनके अर्थ का हम यहाँ पर अक्षरशः उल्लेख करते हैं -

"जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्तक भी शब्द चेतनाचेतन द्वारा अपर्यवसान वृत्या परमेश्वर के ही वाचक हैं। इस अभिप्राय से पूर्वोक्त शंका का परिहार करते हैं।

कृत्स्न जगत् के अध्यक्ष देहोत्पत्ति के लिए, अभ्युदय के लिए, आत्मज्ञान के लिए, जगद्व्यापाररूप क्रीडा के लिए बुद्धिन्द्रियमनः प्राणों का सर्जन किया।

तात्पर्य यह हुआ—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोसृजत"। कारण ब्रह्म ने ईक्षण किया मैं बहुत नामरूप वाला होऊँ, बहुत नाम वाला होने के लिए प्रकर्षेण उत्पन्न होऊँ ऐसा संकल्प करके उस कारण ब्रह्म ने तेज की सृष्टि की।

"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" "सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्" वह कारण सद्ब्रह्म देवता ईक्षण क्रिया में इन तेज जल पृथिवी रूप तीन देवताओं में इस जीवस्वरूप में अनुप्रवेश करके नामरूपों का व्याकरण करूँ। वह कारण सद्ब्रह्म रूप देवता इन तीनों तेजोऽवन्नरूप देवताओं में इस जीव स्वरूप से अनुप्रवेश कर के नाम रूपों का व्याकरण किया।

यहाँ मैं बहुत नाम रूप वाला होऊँ? बहुत नाम रूप वाला होने के लिए मैं प्रकर्षेण उत्पन्न होऊँ, ऐसा ईक्षण करके तेजोऽवन्नों की सृष्टि करके 'तेजोऽवन्नों में जीव स्वरूप से अनुप्रवेश करके नामरूपों का व्याकरण परब्रह्म ने किया' इस पुरोवादि कारणवाक्य रूप श्रुति कथन से जात्यादि प्रवृत्तिनिमित्तक कृत्स्न नाम

तथा संपूर्णरूप चेतनाचेतन द्वारा चेतनाचेतन शरीरिक ब्रह्म के ही हैं यह सुसिद्धि है, अतः भगवान् शुक ने—'बुद्धीन्द्रियमनः प्राणाञ्जनानामसृजत् प्रभुः।' इस वाक्य से पुरोवादि कारण वाक्यरूप श्रुतिसिद्ध सृष्टि का अनुवाद करके श्रुतियों में उपलभ्यमान कृत्स्न नाम रूप अद्वारक तथा चेतनाचेतनद्वारक ब्रह्म के ही हैं। अतः कृत्स्न श्रुतियाँ अद्वार तथा चेतनाचेतन द्वारक साक्षाद् ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं इस अर्थ को तो तात्पर्यतः संक्षेपेण कथन करके इस अध्यास में अति गम्भीरोक्ति से संपूर्ण वेदार्थ का संकलन किया। अतः विवर्तवादियों की असंगतोक्तियों का यहाँ लेशतोऽपि अवकाश नहीं है।"

"जात्यादि प्रवृत्तिनिमित्तक भी शब्द चेतना-चेतन द्वारा अपर्यवसान वृत्या परमेश्वर के ही वाचक हैं इस अभिप्राय से पूर्वोक्त शङ्का का परिहार करते हैं।"

श्रीत्रिदण्डी जी के इस कथन में क्या प्रमाण है? शुकदेव जी के इस अभिप्राय को श्रीत्रिदण्डी जी किस द्योतक पद या वाक्य बल पर समझ रहे हैं।

"कृत्स्न जगत् के अध्यक्ष देहोत्पत्ति के लिए, अभ्युदय के लिए, आत्मज्ञान के लिए, जगत् व्यापाररूप क्रीडा के लिए, बुद्धीन्द्रिय मनः प्राणों का सर्जन किया।"

श्रीत्रिदण्डी जी का यह कथन असंगत है। क्योंकि मात्रा शब्द का देह अर्थ, भव शब्द का अभ्युदय अर्थ और आपके पाठानुसार अकल्पन शब्द का जगद्व्यापार रूप क्रीडा अर्थ नहीं हो सकता।

"ऐसा संकल्प करके उस कारण ब्रह्म ने तेज की सृष्टि किया।"

श्रीत्रिदण्डी जी के इस वाक्य में आकाश, वायु की सृष्टि करके तेज की सृष्टि की ऐसा लिखना उचित है। क्योंकि श्रुत्यन्तरानुसार तेजः सृष्टि के पहले आकाश वायु की सृष्टि हुई यह प्रतीत होता है।

"सेयं देवतेक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" "सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्"

इस पुरोवादि कारण वाक्य रूप श्रुति कथन से जात्यादि प्रवृत्तिनिमित्तक नाम तथा संपूर्ण रूप चेतना-चेतन द्वारा चेतना-चेतन शरीरक ब्रह्म के ही हैं यह सुसिद्ध हैं।"

यह श्रीत्रिदण्डी जी का कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि इस पुरोवादि कारण वाक्य रूप श्रुति कथन से अभिप्रेत प्रकृत अर्थ दुःख से भी नहीं सिद्ध होता।

"बुद्धीन्द्रिय मनः प्राणाञ्जनानामसृजत्प्रभुः" इस वाक्य से पुरोवादि कारण वाक्य रूप श्रुतिसिद्ध सृष्टि का अनुवाद करके" इत्यादि कथन भी अत्यन्त असंगत है क्योंकि पूर्वोक्त पुरोवादि कारण वाक्य समस्त जीवों के नाम रूप व्याक्रिया में तत्पर है और प्रकृत शुकवाक्य बुद्धीन्द्रियादि सृष्टि में तत्पर है अतः पूर्वोक्त श्रुति-स्मृतिवाक्यों का परस्पर अनुवाद्यानुवादकभाव समानार्थकत्वाभाव से नहीं बनता।

२११ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी का निम्नलिखित कथन असंगत है—

(१) अन्तःकरण बाह्य चक्षुरादि करणों के समान ही ज्ञानोत्पत्ति में साधकतम है विवर्तवादियों का अन्तःकरण वृत्ति के सविषयकत्व का कथन निरर्थक है। करणों से उत्पाद्य ज्ञान के सविषयक होने से करणों के सविषयकत्व का कथन औपचारिक है।

(२) श्रुति ने 'तदैक्षत' इसका अभिनय 'बहुस्याम्' किया। इससे सिद्ध है कि स्वयं-प्रकाश ईक्षणाभिन्न ही इच्छा है अतः इच्छा के अन्तःकरणवृत्तित्व तथा अस्वयंप्रकाशत्व का कथन भ्रान्ति कृत है।

(३) यद्यपि स्वयंप्रकाश सविषयक ही है ऐसी व्याप्ति नहीं है तथापि सविषयक स्वयंप्रकाश ही है ऐसी व्याप्ति व्यभिचार रहित है।

(४) स्वयंप्रकाश जीव तथा ब्रह्मस्वरूप के स्वासाधारणाकारातिरिक्त विषयक न होने पर भी दोनों का धर्मभूत ज्ञान सविषयक है, अविनाशि द्रष्टा की अग्नि की उष्णता के समान अनौपाधिकी विपरिलोप रहिता दृष्टि श्रुति सिद्ध है।

इन चारों आक्षेपों का उत्तर क्रमशः निम्नलिखित है—

(१) चिदाभासवती अन्तःकरण वृत्ति को ज्ञान कहते हैं। केवल वृत्ति तो जड़ है। केवल वृत्ति में अन्तःकरण उपादान कारण है और उसमें जो चिदाभास है उसमें अन्तःकरण करण है, चिद्रूपबिम्ब निमित्तकारण है, इस प्रकार से अन्तःकरण बाह्य चक्षुरादि करणों के समान ही ज्ञानोत्पत्ति में साधकतम है। और विवर्तवादियों का अन्तःकरण वृत्ति का सविपयकत्व का कथन भी सार्थक है। क्योंकि चिदाभासं को सविषयक होने से चिदाभासवती वृत्ति भी सविषयक है।

(२) इच्छा सविषयक पदार्थ है यह लोकानुभवसिद्ध है और व्याकरण से भी सिद्ध होता है क्योंकि 'मोक्षे इच्छाऽस्ति' यहाँ पर मोक्षरूप विषय को वैषयिक आधार मानकर मोक्ष शब्द से सप्तमी की गई है। इच्छा स्वयं प्रकाश नहीं है क्योंकि गौतम ने भी इच्छा को ज्ञेय ही माना है "सर्वं वस्तु ज्ञेयम्" यह गौतम का सिद्धान्त है। ज्ञान स्वयं प्रकाश हो सकता है किन्तु इच्छा तो ज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ है। 'कामः संकल्प' इत्यादि श्रुति में इच्छा का धीरूपज्ञान से पृथक् उल्लेख किया गया है। इतर गुणों की तरह इच्छा रूप गुण भी ज्ञान गोचर है।

(३) स्वयंप्रकाश सविषयक ही है यह व्याप्ति नहीं है क्योंकि ज्ञान स्वभाव आत्मा स्वयंप्रकाश होते हुए भी समाध्यादि दशा में निर्विषयक है। सविषयक स्वयंप्रकाश ही है यह व्याप्ति भी नहीं है क्योंकि इच्छा सविषयक होते हुए भी स्वयंप्रकाश नहीं है किन्तु घटादिवद् वेद्य है।

(४) स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप जीव तथा ब्रह्म एक है। यह "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। ज्ञान स्वरूप ब्रह्म सविषयक है यह—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। ज्ञान जीव तथा ब्रह्म का धर्म नहीं है। जैसे औष्ण्य अग्नि का स्वरूप है धर्म नहीं वैसे ही दृष्टि द्रष्टा का स्वरूप है धर्म नहीं। क्योंकि औष्ण्य और प्रकाश के अतिरिक्त वह्नि का स्वरूप हो नहीं सकता जिससे धर्म-धर्मिभाव बने। 'द्रष्टुर्दृष्टेः' श्रुति में समानाधिकरण षष्ठी है। "सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्याय्यम्" यह लोकसिद्ध न्याय है।

ज्ञाननिर्विशेषत्व की समालोचना-समीक्षा

२१२ पृष्ठ में 'ज्ञाननिर्विशेषत्ववाद की समालोचना' प्रकरण में अद्वैतवाद के विरुद्ध जो श्रीत्रिदण्डी जी ने लिखा है उन आक्षेपों के क्रमशः उत्तर यह हैं—

(१) अक्षेप—प्रमाणसिद्ध ज्ञान का सकर्तृकत्व सकर्मकत्व निर्विवाद सिद्ध है।

(१) उत्तर—प्रमाणसिद्ध वृत्तिरूप ज्ञान का सकर्तृकत्व सकर्मकत्व निर्विवादसिद्ध है।

(२) आक्षेप—"क्रिया समभिहारेण कह आये हैं कि व्युत्पन्न विवर्तवादी भी "ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य; ज्ञानत्वात्। तस्य चात्माश्रयत्वादन्तःकरणपरिणामे ज्ञान-

त्वोपचारात्' अन्तःकरणपरिणामविशेषश्चैतन्यस्य विषयावच्छेदोपाधिः करणव्युत्पत्त्या ज्ञानम्, भावव्युत्पत्त्या तु संवेदनमेवार्थप्रकाशो ज्ञप्तिर्ज्ञानमित्युच्यते" । इत्यादि वाक्यों से प्रसिद्ध सकर्तृक सकर्मक ज्ञाधात्वर्थ को वृत्ति से विलक्षण मानते हैं" ।

(२) उत्तर—क्रियासमभिहारेण कह आये हैं कि व्युत्पन्न विवर्तवादी—ज्ञातुः (अन्तः करणोपहितचैतन्यस्य) वृत्तिरूपस्य अर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात् । तस्य च अन्तःकरणोपहितचैतन्यरूपात्माश्रयत्वात् अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात् । चैतन्यस्य यो विषयावच्छेदस्तदुपाधिको योऽन्तःकरणपरिणामविशेषो वृत्तिविशेषः स करणव्युत्पत्त्या ज्ञानम् । भावव्युत्पत्त्या तु चैतन्यरूपं यत्संवेदनं तदेव अर्थप्रकाशो ज्ञप्तिर्ज्ञानमित्युच्यते, इत्यादि वाक्यों से प्रसिद्ध सकर्तृक सकर्मक ज्ञाधात्वर्थ को वृत्तिरूप ज्ञान ही मानते हैं ।

(३) आक्षेप—आत्मा के सारभूत गुणविशेष के साथ ज्ञान पद का सम्बन्ध औत्पत्तिक है ।

(३) उत्तर—मन के सारभूत गुणविशेष के साथ ज्ञान पद का सम्बन्ध औत्पत्तिक है ।

(४) आक्षेप—ज्ञानाश्रय ही आत्मा है इस अर्थ के निर्विवाद होने से ही देहात्मवादी चार्वाक देह के ही चैतन्य का समर्थन करता है ।

(४) उत्तर—वृत्तिरूप ज्ञानाश्रय ही अध्यस्तात्मभाव मन है इस अर्थ के निर्विवाद होने से ही देहात्मवादी चार्वाक देह के ही चैतन्य का समर्थन करता है ।

(५) आक्षेप—आस्तिक गण भी चैतन्याश्रय के आत्मत्व विवादशून्य होकर देह के ज्ञानाश्रयत्व का निराकरण करके देहेन्द्रियादिकों से विलक्षण ज्ञानाश्रय आत्मा को सिद्ध करते हैं ।

(५) उत्तर—आस्तिक गण भी 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति के आधार पर चैतन्य के आत्मत्व में विवादशून्य होकर देह के ज्ञानाश्रयत्व का निराकरण करके देहेन्द्रियादिकों से विलक्षण ज्ञानरूप आत्मा को सिद्ध करते हैं ।

(६) आक्षेप—अतः सकर्तृक सकर्मक ज्ञा धात्वर्थ वृत्ति में कथञ्चिदपि सिद्ध नहीं हो सकता । अतः वृत्यतिरिक्त ही स्वयंप्रकाश ज्ञान पदार्थ ज्ञा धात्वर्थ है । उसके अहमर्थाश्रितत्व सविषयकत्वरूप धर्मद्वयपुरस्कारेण प्रकाश का अपलाप स्वानुभव का अपह्नव है ।

(६) उत्तर—यतः सकर्तृक सकर्मक ज्ञाधात्वर्थत्ववृत्ति में सर्वथा सिद्ध हो सकता है, अतः वृत्त्यतिरिक्त भी स्वयं प्रकाश ज्ञानपदार्थ ज्ञाधात्वर्थ है, स्वप्रकाश चैतन्यरूप ज्ञान के अहमर्थाश्रितत्व सविषयकत्वरूप धर्मद्वयपुरस्कारेण प्रकाश का अभाव स्वानुभवसिद्ध है।

(७) आक्षेप—परीक्षकसभा में समाधिकालिकानुभव का कथन परिहासास्पद है।

(७) उत्तर—परीक्षकसभा में समाधिकालिकानुभव तथा मोक्षकालिकानुभव का कथन परिहासास्पद नहीं है क्योंकि परीक्षक विद्वान होता है लौकिक पुरुषों की सभा में तथाविध कथन परिहासास्पद अवश्य है।

(८) आक्षेप—कैवल्याव्यवहित प्राक्कालिक समाधि में योगी की सर्वज्ञता को 'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याद् ज्ञेयमल्पम्' यह सूत्र सिद्धकर रहा है।

(८) उत्तर—कैवल्याव्यहितप्राक्कालिकसमाधि असंप्रज्ञात–समाधि है उसमें 'सर्वज्ञता' इस सूत्र से नहीं सिद्ध होती। सर्वज्ञता तो संप्रज्ञातसमाधि में उपपन्न हो सकती है।

(९) आक्षेप—वैदिक निदिध्यासनाख्य समाधि श्रुतार्थ विषयक है।

(९) उत्तर—वैदिक निदिध्यासनाख्यसमाधि उपहित ब्रह्मरूप श्रुतार्थ विषयक है। अनुपहित स्वप्रकाश ज्ञानरूप ब्रह्म तो शब्दगोचर होने से श्रुतार्थ नहीं है।

(१०) आक्षेप—अतः शास्त्र संप्रज्ञातसमाधि काल में वृत्तिरूपज्ञान के अहमर्थाश्रितत्व तथा सविषयकत्व रूप धर्मद्वयपुरस्कारेणैव अनुभव को सिद्ध कर रहा है।

(१०) उत्तर—अतः शास्त्र संप्रज्ञातसमाधि काल में वृत्तिरूप ज्ञान के अहमर्थाश्रितत्व तथा सविषयकत्व रूप धर्मद्वयपुरस्कारेणैव अनुभव को सिद्ध कर रहा है।

(११) आक्षेप—एवं मोक्षकाल में भी एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य इमाँल्लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन् एतत्साम गायन्नास्ते न पश्यो मृत्युं पश्यति

न रोगं नोतदुःखताम् । सर्वं ह्यं पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इत्यादिक श्रुतियाँ अहमर्थाश्रितत्व तथा सर्वविषयकत्वरूपद्वयपुरस्कारेणैव ज्ञानप्रकाश का प्रतिपादन करती है, अतः समाधि आदि में निर्विषय ही ज्ञान भासता है यह कथन निःसार है।

(११) उत्तर—पूर्वोदाहृतश्रुतियाँ अहमर्थाश्रितत्व तथा सर्वविषयकत्व रूप धर्मद्वय पुरस्कारेणैव वृत्तिरूप ज्ञान के प्रकाश का प्रतिपादन करती हैं।

२१३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—"कैवल्याव्यवहित-प्राक्कालिकसमाधि में योगी की सर्वज्ञता को "तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याद् ज्ञेयमल्पम्' यह सूत्र सिद्ध कर रहा है।"

इसका उत्तर यह है कि कैवल्याव्यवहितप्राक्कालिकसमाधि निर्विशेष चैतन्य मात्र विषयक है अतः वह समाधि एक चैतन्य मात्र विषयक है इसीलिए सूत्र में लिखा है—'ज्ञेयमल्पम्'। तब कैवल्याव्यवहितप्राक्कालिकसमाधि में योगी की सर्वज्ञता सूत्र से कैसे सिद्ध हो रही है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"एवं मोक्षकाल में भी—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य' इत्यादि 'न पश्यो मृत्युं पश्यति' इत्यादिक श्रुतियाँ अहमर्थाश्रितत्व तथा सर्वविषयकत्वरूप धर्मद्वयपुरस्कारेणैव ज्ञानप्रकाश का प्रतिपादन करती हैं।"

इसका उत्तर यह है कि आद्य श्रुति में 'एतत्सामगायन्नास्ते' यह लिखा है। और मोक्षकाल में करणविगम से सामगान अनुपपन्न है। और मोक्षकाल में करणविगमपूर्वक केवलात्मरूपेण स्थिति होती है। अतः उस काल में सर्वद्रष्टृता अनुपपन्न है। अतः समाधि आदि में निर्विषय ही ज्ञान भासता है यह श्रीकरपात्री जी का कथन अत्यन्त सारभूत है।

२१४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते; अविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्मि ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्' इस श्रुति वाक्य का उल्लेख करके आगे लिखा है कि 'कतम आत्मा' इस प्रश्न का सप्तमी कण्डिका में उत्तर दिया—'योऽयं विज्ञानमयः' जो ज्ञानाश्रय है वही आत्मा है।"

इसका उत्तर यह है कि—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' ऐसा श्रुतिवाक्य है। इसका अर्थ है 'प्राणेषु मुख्यप्राणेषु—इन्द्रियेषु वा उपाधिषु सत्सु योऽयं विज्ञानमयः—वृत्तिरूप ज्ञानप्राचुर्यवान् अन्तःकरणोहितश्चिदात्मा।'

इससे चिद्रूप आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व नहीं सिद्ध होता, किन्तु अन्तःकरण रूप उपाधि में विज्ञान प्राचुर्य सिद्ध होता है।

'न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्' इस श्रुति में ब्रह्म से द्वितीय और विभक्त के निषेध करने से अद्वैतवाद की ही सिद्धि होती है। 'यद्वै तन्न पश्यति' इत्यादि श्रुति का अर्थ है—यत्तदानीं सुषुप्तिदशायां तद् ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म न पश्यति विषयान्नावभासयति वै एव। पश्यन् वै दृष्टिरूपमेव तद् ब्रह्म तदानीं न पश्यति विषयान्नावभासयति, सुषुप्तिकाले सकले विलीने।' श्रुतिबलात् तदानीं विषयाणामभावात्। द्रष्टृरूपाया दृष्टेस्तदानीमपि अविनाशित्वेन विपरिलोपाभावात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुरोध से 'पश्यन्' यहाँ पर प्रत्ययार्थ अविवक्षित है। प्रकृत्यर्थमात्र विवक्षित है। यहाँ पर द्रष्टृ रूप दृष्टि का अविनाशित्व उसके सुषुप्तिकालिक विपरिलोपाभाव में हेतुतया उपन्यस्त है।

अतः श्रीत्रिदण्डी जी का यह कथन असंगत है कि 'यहाँ द्रष्टा को अविनाशित्व को दृष्टि के विपरिलोपाभाव में हेतुत्व कथन से द्रष्टा और दृष्टि के स्वाभाविक भेद का मोषण कोई भी कुतर्की तस्कर नहीं कर सकते।"

२१४ और २१५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने ज्ञान के अभिव्यक्ति को प्रसर शब्द से और बाह्याभ्यन्तर करणों में उसकी अनभिव्यक्ति को अव्यय शब्द से लिखा है यह असंगत है क्योंकि मूर्त का प्रसार और संकोच देखा गया है अमूर्त का नहीं। अतः ज्ञान का प्रसार और संकोच विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त मात्र में कल्पित है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

२१५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी ने लिखा है कि—"पूर्व-पूर्व कार्यों में विशेषता उत्तरोत्तर कारणों में अपेक्षा कृत विशेषता क्रम से परम कारण की निर्विशेषता जो कही गई यह युक्ति प्रमाण नहीं है।" इत्यादि।

इसका उत्तर यह है कि—यह अनुमान प्रमाण है। परम कारणं निर्वि-

शेषम्; अकार्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा कार्यं सत्कारणं कपालादिकम्। परम-कारण में परमत्वकार्यत्वाभाव सामानाधिकरण्य रूप है।

आगे चलकर इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि 'सर्वोपादानत्व सर्वशक्तित्व के विना अनुपपन्न है, सर्वनिमित्तत्व सार्वज्ञ सत्यसंकल्पत्वादि धर्मों के विना अनुपपन्न है अतः परमकारण के सर्वोपादानकारणत्व सर्वनिमित्तकारणत्व रूप विशेष परमत के अनुसार अर्थापत्तिप्रमाण से सिद्धान्त के अनुसार अनुमान प्रमाण से सर्वशक्तित्व सर्वज्ञत्व सत्यसंकल्पत्वादि अनन्त अन्यविशेषों के साधक हैं अतः परमकारण को निर्विशेष कहना अत्यन्त परिहासास्पद है।"

इसका उत्तर है कि मायाविशिष्ट ब्रह्म परमकारण है केवल ब्रह्म सर्वोपादान नहीं है। वह तो निर्विशेष है माया के सम्बन्ध से ब्रह्म में मायिक सर्वोपादानत्व सर्वशक्तित्वादि अनन्त विशेष हैं स्वतः नहीं। अतः परमकारण को वस्तुतः निर्विशेष कहना परिहासास्पद नहीं है। परम कारण ब्रह्म का माया वृत्ति रूप ईक्षण है इससे 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इस सूत्र की उपपत्ति हो जायेगी। इस सूत्र से प्रकृति कारणतावाद रूप सांख्यसिद्धान्त का निरास किया गया है।

सुषुप्ति एवं आत्मा की समालोचना-समीक्षा

●

इस प्रकारण के आरम्भ में २१९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "ज्ञा धातु प्रतिपाद्य ज्ञानविषयाश्रय सापेक्ष ही होता है—यह कथन भी नहीं; क्योंकि 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' इस कारणव्युत्पत्ति से निष्पन्न ज्ञान का उक्त स्वभाव होने पर भी 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इस भावव्युत्पत्ति से निष्पन्न ज्ञान सर्वनिरपेक्ष नित्य ब्रह्म ही है"।

यह कथन अत्यन्त अनवबोधकृत है। करणव्युत्पत्ति तथा भावव्युत्पत्ति से ज्ञान निष्पन्न नहीं है। किन्तु ज्ञान पद निष्पन्न है। करणव्युत्पत्ति निष्पन्न ज्ञानपद के वाच्य ज्ञानकरणचक्षुरादिक हैं भावव्युत्पत्तिनिष्पन्न ज्ञानपद के वाच्य चक्षुरादिजन्यचाक्षुषादिक हैं, कौन सचेता ज्ञानकरण का विषयाश्रय सापेक्षत्व और सकर्मक ज्ञाधात्वर्थ का विषयाश्रय निरपेक्षत्व कहेगा"।

इसका उत्तर है कि 'निष्पन्नज्ञान' इस पदद्वय में षष्ठी समास है वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है। और निष्पन्न शब्द की निष्पन्नपदवाच्य में लक्षणा भी कही जा सकती है। प्रयोक्ता ने उच्चारण लाघवार्थं लाक्षणिक पद का प्रयोग किया। करणव्युत्पत्ति-निष्पन्न-ज्ञानपद के वाच्य ज्ञानकरण-चक्षुरादिक भी हैं और तज्जन्य मनोवृत्ति विशेष भी हैं क्योंकि वृत्तिविशेष भी स्वप्रतिफलित चिदाभास द्वारा घटादिमान का साधन है। और भावव्युत्पत्तिनिष्पन्न ज्ञानपद के वाच्य चक्षुरादिजन्य चाक्षुषादिकमनोवृत्ति विशेष में प्रतिफलित चिदाभास है और भावव्युत्पत्ति निष्पन्न ज्ञानपद का लक्ष्य नित्यनिर्विशेष चैतन्य है। क्योंकि बहुल-प्रयोग शक्ति का साधक होता है। और अल्पप्रयोग लक्षणा का साधक होता है।

अतः विवर्तवादी सचेता मनोवृत्ति-विशेष-रूपज्ञानकरण का विषयाश्रय सापेक्षत्व कहता है और ज्ञाधातु लक्ष्यार्थं नित्य ज्ञानरूप चैतन्य को विषया-श्रय निरपेक्ष कहता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में ज्ञान पद की अन्तोदात्तता तैत्तरीयप्रातिशाख्य से तथा घृतादि पाठ से भी सिद्ध हो सकती है। 'अर्शआद्यच्' कल्पना में ज्ञानपद में वृत्तिद्वय कल्पनरूप गौरव होता है। अतः प्रकृतश्रुति में ज्ञानपद का ज्ञानवत् अर्थ नहीं है। 'तदैक्षत' 'यः सर्वज्ञः' इत्यादिक श्रुतियाँ मायाविशिष्टब्रह्म में मायावृत्तिरूपज्ञान का प्रतिपादन करती हैं। केवल ब्रह्म तो नित्यज्ञान-स्वरूप है। अतः केवल ब्रह्म में ज्ञानवत्ता श्रुति सिद्ध नहीं है। विशेषण-वृत्तिज्ञान से विशिष्ट में ज्ञानवत्ता व्यवहार हो रहा है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में ज्ञानपद की नित्य-निर्विशेष-चैतन्य-रूप-ज्ञान में लक्षणा अद्वैतवादी कहता है और ज्ञानवत् में लक्षणा विशिष्टाद्वैतवादी कहता है।

अतः विशिष्टाद्वैतवादी को विशिष्ट में लक्षणा कल्पन-रूप गौरव है। 'यद्वै तन्न पश्यति' इत्यादि श्रुति का अर्थं हम पहले कर आये हैं इससे बद्धावस्था में प्रसराख्य ज्ञानाभिव्यक्ति नहीं सिद्ध होती। प्रत्युत अमूर्त का प्रसार अदृष्ट तथा अनुपपन्न है।

२१८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—"ब्रह्म के अनन्त विशेषों का ब्रह्म-विचार से अवधारण कर ब्रह्म को प्राप्त आविर्भूत गुणाष्टक होकर

कल्याणगुणों का अनुभव करता हुआ इस मानव आवर्त में आवर्तन नहीं करता है"।

यह सब बातें ब्रह्मोपासना से ब्रह्मलोक को प्राप्त मुमुक्षु के लिए लिखी गई हैं, मुक्तपुरुष के लिए नहीं। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार होने पर उत्क्रान्ति नहीं होती।"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

ब्रह्मलोक को प्राप्त मुमुक्षु भी ब्रह्मा के साथ कल्पान्त में मुक्त होता है। यह भी लिखा गया है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रति सञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति।

अनन्त विशेष मायोपहित ब्रह्म में हैं केवल ब्रह्म में नहीं, यह बात हम पूर्व में बराबर कह आये हैं। मुक्तपुरुष में गुणाष्टक का आविर्भाव होता है यह बात अप्रामाणिक है। ब्रह्मवेत्ता तो 'ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मरूप हो जाता है। ब्रह्म का स्वरूप सर्वप्रपञ्चोपशम बताया गया है। इससे उसकी निर्विशेषता सिद्ध होती है।

२१८ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—" 'क्या निर्विशेष सत्ता मानकर उसका निषेध किया जाता है या उसका असत्त्व मानकर निषेध है' इत्यादि कथन निःसार है, जब ब्रह्म को पक्ष कर वस्तुत्वहेतु से सविशेषत्व साधा जा रहा है, तब निर्विशेषसत्त्वासत्त्व का प्रसङ्ग ही क्या है।"

इसका उत्तर यह है कि—यदि विशिष्टाद्वैतवादी वस्तुत्वहेतु से ब्रह्म में केवल सविशेषत्व को सिद्ध ही करना चाहता है तब उसका यह प्रयास व्यर्थ है क्योंकि अद्वैतवादी उपहितब्रह्म में सविशेषत्व मानता ही है।

यदि विशिष्टाद्वैतवादी केवल ब्रह्म में वस्तुत्वहेतु से निर्विशेषत्वाभाव को सिद्ध करना चाहता है तब निर्विशेष ब्रह्म के सत्त्वासत्त्व का प्रसङ्ग अवश्य आ जाता है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"जैसे माध्यमिकाभिमत शून्य को अप्रामाणिक होने से भ्रान्ति सिद्ध मान कर उसका प्रत्याख्यान अद्वैतो

करता है इसीप्रकार ब्रह्म का निर्विशेषत्व अप्रमाणिक है अतः उसका भ्रान्ति-सिद्ध मानकर उसका प्रत्याख्यान विशिष्टाद्वैती करता है।"

इसका उत्तर है कि ब्रह्म का निर्विशेषत्व अप्रामाणिक नहीं है। अतः उसको भ्रान्ति सिद्ध मानकर उसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता क्योंकि--

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
शिवं प्रपञ्चोपशमं तुरीयमद्वैतं मन्यन्ते ।।

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म के निर्विशेषत्व का प्रतिपादन करती हैं। 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म के मायोपहित-सृष्टिकालिक-सविशेषरूप का प्रतिपादन करती हैं। अतः ब्रह्म का सविशेषरूप परमार्थ नहीं है। क्योंकि उपक्रमोपसंहार से ज्ञात होता है कि ब्रह्म में विशेष का अध्यारोप करके आगे चलकर उसका निषेध किया गया है। इसीलिए अद्वैती कहते हैं कि --"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चः प्रपञ्च्यते।"

२२० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि--"यदि दुर्युक्तियों से प्रमाण-सिद्ध अर्थ का अपहार हो जाय तब आपसे अधिक दुर्युक्तिवादी माध्यमिक के दुर्युक्तियों से विवर्तवादियों के अभीष्ट निर्विशेष चैतन्य का भी अपहार हो जायगा, शून्यवादी ही विजयी होगा।"

इसका उत्तर है कि --विवर्तवादी आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत मानता है, निर्विशेषब्रह्म अद्वैतवाद में सबका आत्मा है स्वानुभवसिद्ध आत्मसत्ता का कोई प्रत्याख्यान नहीं कर सकता, अतः शून्यवादी विजयी नहीं होगा।

२१९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि--"यद्यपि सविशेषब्रह्म में निर्विशेषत्व व्याहत है तथापि निर्विशेषब्रह्म में निर्विशेषत्व की स्थिति में कोई बाधा नहीं है।"

यह आपका कथन असंगत है क्योंकि सविशेषनिर्विशेष रूप द्विविध ब्रह्माभ्युपगम प्रामाणिक नहीं है किन्तु स्वप्रक्रियाभ्यासप्रयुक्त व्यामोह-जनित है ब्रह्म प्रमाणशास्त्र तो एक सदद्वितीय ब्रह्म को 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि वाक्य जातों से अनन्त विशेषों से विशिष्ट ही सिद्ध कर रहा है निर्विशेषब्रह्म तो वेदोत्तीर्ण हो सकता है।"

इसका उत्तर हम बार-बार दे चुके हैं कि—ब्रह्म में विशेषों का अध्यारोप है और ब्रह्म का निर्विशेषरूप परमार्थ है। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।' 'विशेष सविशेष में होते हैं या निर्विशेष में' इत्यादि श्रीकरपात्री जी के विकल्पों का उत्तर देते हुए—२२१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विशिष्ट होकर सविशेष विशेष का आधार नहीं होता है। किन्तु युगपद् आधाराधेय-भाव होता है।"

इसका उत्तर यह है कि—यदि विशिष्ट होकर सविशेष विशेष का आधार नहीं होता है तब वह सविशेष नहीं है किन्तु निर्विशेष (विशेष रहित) है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिसिद्ध सत्यत्वादि विशेषों का कुतर्कों के बल से 'अतः सविशेषत्व भ्रान्ति सिद्ध है' इत्यादि कथन से न्यक्करण नास्तिकत्व कृत है।"

इसका उत्तर यह है कि—इस श्रुति में सत्य पद सत्यत्वविशिष्ट को और ज्ञान पद ज्ञानत्वविशिष्ट को नहीं कहता किन्तु सत्य पद असत्यव्यावृत्ति को और ज्ञान पद जड़व्यावृत्ति को कहता है। अन्यथा ब्रह्म की श्रुति सिद्ध अवाङ्मनस-गोचरता भग्न हो जायेगी। इसीलिए पुष्पदन्त ने कहा है—'अतद् व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।'

२२२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—'नाभाव उपलब्धेः' इस सूत्र के भाष्य 'भामती' में और 'शतदूषणी' और 'वेदान्तवादावली' आदि ग्रन्थों में एवंविध कुतर्कों का सुनिरास है।"

इस आक्षेप के उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उक्त ग्रन्थों के विरोधी वाक्यों का उद्धरण यहाँ पर नहीं दिया गया है।

२२२ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी—" 'यत्र यत्र वस्तुत्वं तत्र-तत्र धर्मधर्मिभवान्यतरत्, यत्र-यत्र प्रमात्वं तत्र-तत्र धर्मधर्मिभावापन्नवस्तुविषयकत्वम्' इन व्याप्तियों के बल से ब्रह्म के निर्विशेषत्व का खण्डन करते हैं।

इसका उत्तर है कि इन व्याप्तियों से अनुगृहीत अनुमानों में अन्यतरासिद्धि दूषण है, आद्य व्याप्ति के आधार पर यह अनुमान होगा।

'ब्रह्म—धर्मधर्मिभावान्यतरवद् वस्तुत्वाद् घटादिवत्।' इस अनुमान में

ब्रह्म में वस्तुत्व अद्वैतवादी को संप्रतिपन्न नहीं है पक्ष में हेतु की उभयमत में संप्रतिपत्ति अनिवार्य है।

दूसरी—व्याप्ति से यह अनुमान बनता है। ब्रह्मप्रमा—धर्मधर्मिभावापन्नवस्तुविषयिका प्रमात्वात्—घटादिप्रमावत्। इस अनुमान में भी अद्वैतवाद में स्वरूपासिद्धि है। क्योंकि ब्रह्म–अद्वैवताद में धर्मधर्मिभावापन्न वस्तु नहीं है।

२२३ पृष्ठ में ब्रह्म निर्विशेषत्ववाद के खण्डन का उपसंहार करते हुए श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अतः किसी को निर्विशेषवस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है"।

इसका उत्तर यह है कि निर्विशेषब्रह्म स्वप्रकाश तथा प्रत्यक्षरूप है, अतः उसके प्रत्यक्ष के लिए चक्षुरादि करणों की अपेक्षा नहीं है। 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः, यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

२२३ पृष्ठ में—

'स वै समाशेषविशेषमाया निषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः॥'

इस भागवत पद्य का उल्लेख करके श्रीत्रिदण्डी जी इसकी व्याख्या करते हैं कि—'अध्यात्मशास्त्रों में भूतों की सूक्ष्मावस्थारूप तन्मात्राओं को अविशेष कहते हैं और स्थूलावस्थारूप पृथिव्यादिकों को विशेष कहते हैं, यह 'तन्मात्राण्यविशेषाः' 'महदाद्याविशेषान्ताः' इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध है। अशेष पृथिव्यादि लक्षण विशेष वाली माया के निवृत्ति से दुःखासंभिन्न जो मोक्ष-सुख उसमें जिसकी अनुभूति है जो "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय, हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनैवात्मनाऽनुप्रविश्यनामरूपे व्याकरोत्" इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से जो सर्वनाम वाला तथा सर्वरूप वाला है। जो—

'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'।

इत्यादि श्रुतिप्रतिपन्न अपरिमित शक्ति वाला है। वह पूर्व श्लोकों में प्रतिपादित विशेषणों से विशिष्ट भगवान् मुझपर प्रसन्न होवें। यह श्लोकार्थ हुआ।

इस श्लोक को भी जो निर्विशेष में प्रमाण समझता है वह किसको क्या नहीं समझ सकता है"।

अब मैं इस श्लोक की व्याख्या करता हूँ। जिससे इस पद्य की निर्विशेष ब्रह्म परता सुस्पष्ट हो जायेगी—

सर्वकार्यानुगततया सब कार्यों के प्रति सामान्य रूप होने से कारण को अविशेष (सामान्य) कहते हैं। तन्मात्र भी स्थूल पृथिव्यादि के कारण होने से ही अविशेष कहे जाते हैं। परस्पर व्यावृत्त होने से कार्य को विशेष कहते हैं। अब अर्थ सुनिये—

वह भगवान् मुझ पर प्रसन्न होवें। जो अशेष (संपूर्ण) विशेष (कार्य) तथा उनके कारणीभूत माया दोनों के निषेधरूप तथा निर्वाण सुख (मुक्ति सुख) तथा अनुभूतिरूप हैं। यह अर्थ 'कर्मधारयसमास' मानने पर होता है। और श्रीत्रिदण्डी जी के अर्थ में 'बहुव्रीहिसमास' भूल है। कर्मधारय में वर्ति पदार्थों की प्रधानता होती है और बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थों की प्रधानता होती है, अतः कर्मधारय के संभव रहते बहुव्रीहि मानना अनुचित है। अशेष विशेष माया निषेध रूप होते हुए भी वह सर्वनाम और विश्वरूप कैसे है इसके समाधान के लिए लिखा है—'अनिरुक्तात्मशक्तिः' जिस ब्रह्म की आत्मशक्ति अनिरुक्त (अनिर्वाच्य) है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म का अशेष विशेष माया निषेध रूप पारमार्थिक है और उसका सर्वनामत्व विश्वरूपत्व आत्मशक्तिरूप मायाकृत है।

२२४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—" 'सत्तामात्रं निर्विशेषम्' यह देवकी स्तुति भूत श्लोक सर्वकारण वाक्य प्रतिपाद्य सर्वकारणत्व-सिद्ध अनन्त कल्याण गुणसागर विष्णुरूप श्रीकृष्ण परब्रह्म का प्रतिपादक है। इसकी व्याख्या पूर्व कर आये हैं। इसको भी विवर्तवाद्यभिमतनिर्विशेष में प्रमाण देना अत्यन्त असङ्गत है"।

इसका उत्तर यह है कि—इस वाक्य में निर्विशेष पद ब्रह्म विशेषणतया साक्षात् श्रुत है तब इस वाक्य को निर्विशेष ब्रह्म में अप्रमाण देना कैसे अत्यन्त असंगत है।

२२४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—" 'नेति नेति' यह श्रुति पूर्व वर्णित विशेषवत्त्वरूप प्रकृतैतावत्त्व का निषेध कर वाङ्मनसा परिच्छेद्य अनन्त कल्याणगुणैकतान ब्रह्म की प्रतिपादिका है' इस अर्थ का निर्धारण स्वयं ब्रह्म-मीमांसा 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' इस सूत्र से करती है।"

इसका उत्तर यह है कि—'नेति नेति' यह श्रुति ब्रह्म में सर्वभावों के निषेध की प्रतिपादिका है क्योंकि यहाँ प्रतियोगिविशेष का उपादान नहीं है 'ज्यायान् दिवः ज्यायान् पृथिव्याः' इत्यादि प्रकरण की निषेध-श्रुति प्रकृतैतावत्त्व (दहरादिपरिमाणवत्व) का प्रतिषेध करके 'ततो भूयस्त्व' का प्रतिपादन करती है। 'नेति नेति' श्रुति यदि श्रीत्रिदण्डी जी के मतानुसार प्रकृतैतावत्व का निषेध और अनन्त-कल्याण-गुणैकतान-ब्रह्म का प्रतिपादन करती है तो उभय विधानमें वाक्य भेद दोष सुदृढ़ है।

२२५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"पूर्वमीमांसा की तरह उत्तर-मीमांसा में भी सगुण निर्गुण वाक्यों का उत्सर्गापवादन्याय से विषयव्यवस्था करके प्रामाण्य-संरक्षण उचित है, सगुणवाक्य अपवाद हैं और निर्गुणवाक्य उत्सर्ग हैं, निर्गुणवाक्य हेय गुणों के निषेध का प्रतिपादन करते हैं। विवर्तवादियों के सगुणवाक्यों को अप्रमाण कहना और निर्गुणवाक्यों को प्रमाण कहना उचित नहीं है"।

इसका उत्तर यह है कि—विधि उत्सर्ग होता है और निषेध अपवाद होता है यह नियम है, अत एव 'निषेधाश्च बलीयांसः' यह परिभाषा पढ़ी गई है। अतः सगुणवाक्य अपवाद नहीं हो सकते और निर्गुणवाक्य उत्सर्ग नहीं हो सकते। विवर्तवादी सगुण निर्गुण वाक्यों की अध्यारोपापवादन्याय से व्यवस्था करते हैं, उत्सर्गापवादन्याय से नहीं। विवर्तवादी सगुण वाक्यों को सर्वथा अप्रमाण नहीं कहते उनका भी व्यावहारिकप्रामाण्य स्वीकार करते हैं। अतः 'उक्त निषेधों से सर्वनिषेधावधि निर्विशेषब्रह्म ही विवक्षित है' इत्यादि श्रीकरपात्री जी का कथन सर्ववेद वाक्य प्रामाण्य संरक्षण प्रकाराभिज्ञान कृत है।

'स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान्न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्निषेध शेषो जयतादशेषः॥

२२६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी इस पद्य का इस प्रकार अर्थ किये हैं—

"सभी शिष्टवर्ग श्रुतिस्मृत्यादिवाक्यार्थवर्णन में मीमांसक-संमत-सरणि का समादर पूर्वक अनुसरण करते हैं। इस प्रकरण के 'स वै न' इस वाक्य के पूर्व "तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्त शक्तये। अरूपायोरुरूपाय नम आश्चयकर्मणे॥" इत्यादि वाक्यों में अनन्त कल्याणविशेषों का आश्रय भगवान् को कहा है। अग्रिम वाक्यों में भी अनन्तकल्याण-विशेषों का आस्पद ही भगवान् को कहा है पूर्वापर को वीक्षण करने पर इस वाक्य का यह अर्थ हुआ—स वे पूर्वापर वाक्योक्त निखिल विशेषणविशिष्टतया संपूर्ण वेदों में प्रसिद्ध वह भगवान् देवत्वादि-जातियों से रहित हैं, स्त्रीत्वादि लिङ्गों, प्राणित्वादि धर्मों से रहित हैं, चेतना-चेतनधर्मभूत गुणकर्म नहीं हैं कूटस्थ नित्य होने से सर्वदा अस्ति शब्द वाच्य सत् जीव स्वरूप नहीं हैं। सतत परिणामशील होने से पूर्व-पूर्व अवस्थाओं की अपेक्षा से सर्वदा नास्ति शब्द-वाच्य असत् जडस्वरूप नहीं हैं, इन अखिल हेयों के निषेध करने पर—

'ओं नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिवीजाय परेशायाभिधीमहि॥'

इत्यादि पूर्वापरवाक्य प्रतिपाद्य अनन्त-कल्याण-गुणाश्रय तथा अवशिष्यमाण जीव द्वारा तेजोऽवन्नप्रभृति जड्वर्गों में अनुप्रवेश करके नाम रूपों का व्याकरण करने से अशेष-कृत्स्न नामरूपों से विशिष्ट 'जयतात्' सर्वोत्कृष्टत्व को प्राप्त होवें।

यदि 'जि' अभिभवे इस धातु से 'जयतात्' इस पद की सिद्धि मानी जाय तब हमारे स्वप्राप्ति विरोधिवर्गों का निरसन करें, यह अर्थ हुआ। अतः परब्रह्म के अखिल-हेय-प्रत्यनीकत्व तथा अखिल कल्याणैकतानत्व रूप उभयलिङ्गकत्व का प्रतिपादक प्रकृत श्लोक को विवर्तवादियों का स्वाभिमत निर्विशेष प्रतिपादक समझना भ्रम है"।

श्रीत्रिदण्डी जी की इस व्याख्या की आलोचना के पहले इस श्लोक की विवर्तवादिसंमत-व्याख्या हम करते हैं।

इस श्लोक के दो पादों का अर्थ स्पष्ट है। तीसरे पाद में सत् का अर्थ मूर्तत्वेन प्रत्यक्ष पृथिवी, जल, तेज है तथा असत् का अर्थ अमूर्त-अप्रत्यक्ष वायु, आकाश है। चौथे पाद में 'निषेधशेषः' का अर्थ है 'सर्वनिषेधे सति शिष्यमाणः'।

'अशेष:' का अर्थ है 'स्वस्य निषेधाभावादवशिष्यमाणवस्त्वन्तररहित:। यद्वा सर्वस्य विवर्तोपादानतया अशेषात्मक: सर्वात्मक:।' इस प्रकार इस श्लोक से सर्वविशेषों के निषेध होने पर निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि होती है।

अब श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि " 'तस्मै नमः परेशाय' इत्यादि वाक्यों में अनन्त कल्याण विशेषों का आश्रय भगवान् को कहा है"। किन्तु श्रीत्रिदण्डी जी यह नहीं लिखते हैं कि इसी श्लोक में भगवान् को अरूप (निर्विशेष) भी कहा है।

श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अग्रिम वाक्यों में भी अनन्त-कल्याण-विशेषों का आस्पद ही भगवान् को कहा है"।

किन्तु उन अग्रिम वाक्यों का उल्लेख नहीं करते।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"स वै पूर्वापर वाक्योक्त निखिल-विशेषण-विशिष्टतया संपूर्ण वेदों में प्रसिद्ध"। निखिलविशेषणों में हेय और उपादेय दोनों विशेषण आ जाते हैं अत: यह अर्थ विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के विरुद्ध है। सत् जीवस्वरूप नहीं है, असत् जड़स्वरूप नहीं है। यह व्याख्या भी श्रुतिविरुद्ध है। " 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ऐत-दात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतिविरोध से 'अवशिष्यमाण जीव द्वारा तेजोबन्न प्रभृति जडवर्गों में अनुप्रवेश करके' यह अर्थ भी असंगत है क्योंकि—'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य' इस श्रुति में द्वारपद नहीं है। अशेष पद का कृत्स्न नाम रूपों से विशिष्ट यह अर्थ वृत्तित्रय सामर्थ्य बहिर्भूत है। अत: प्रकृत श्लोक पर-ब्रह्म के अखिल हेय प्रत्यनीकत्व तथा अखिल कल्याणैकतानत्वरूप उभयलिङ्गकत्व का प्रतिपादक नहीं है। अत: प्रकृत श्लोक को विवर्तवादियों का स्वाभिमत निर्विशेष प्रतिपादक समझना भ्रम नहीं है किन्तु प्रमा है।

२२७ और २२८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"श्रुति ब्रह्म के मूर्तात्मकरूपों का वर्णन करके मूर्तामूर्त मात्र रूपत्वेन ब्रह्म के परिच्छिन्नत्व की शङ्का का निवारण करती हुई 'नेति-नेति' कहती है। 'इति' शब्द प्रकारवाची है। 'इति न, इति न' उक्त प्रकार मात्र परक नहीं है, उक्त प्रकार मात्र प्रकारक नहीं है द्विरुक्ति इयत्ता के आत्यन्तिकाभाव द्योतन के लिये है।"

इसका उत्तर यह है कि—श्रुति में 'नेति-नेति' पढ़ा गया है आप उसको 'इति

न, इति न' कह करके अर्थ करते हैं, यहाँ पर यथाश्रुत पाठ और यथाश्रुत का अर्थ परित्याग में क्या प्रमाण है। 'इति' शब्द यहाँ पर अनुकरणार्थक नहीं है किन्तु प्रकारार्थक है इसमें उपपत्ति और प्रमाण क्या है। 'उक्त प्रकार मात्र परक नहीं है, उक्त प्रकार मात्र प्रकारक नहीं है, यह अर्थ 'नेति-नेति' शब्द के वृत्तित्रय मर्यादा लभ्य नहीं है। और यहाँ पर उस वाक्य का आपने उल्लेख नहीं किया है जो उक्त प्रकार मात्र परक नहीं है, और उस ज्ञान का भी आपने उल्लेख नहीं किया है जो ज्ञान उक्त प्रकार मात्र प्रकारक नहीं है। आपके कथन से प्रतीत होता है कि 'नेति-नेति' इयत्ता का निषेध है, किन्तु आपने यह नहीं बताया कि प्रकृतस्थल में अथवा इसके पूर्व में इयत्ता का प्रतिपादक कौन वाक्य है।

इसके बाद २२८ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जो लिखते हैं कि—"ब्रह्म के मूर्तामूर्त शरीरकत्व प्रयुक्त इयत्ता का निवारण करके और विशेषों का वर्णन करती है।

"न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति।
अथ तस्य नामधेयं सत्त्यस्य सत्यमिति ॥"

"प्राणा वै सत्त्यम्—तेषामेष सत्त्यम्" इति 'न इत्येतस्मात् अन्यत्परं न ह्यस्ति' इस प्रकार पदों का अन्वय है, इति न, इयत्ता रहित जो ब्रह्म प्रतिपादित हुआ एतस्मात्—इससे अन्यत्परं न ह्यस्ति, अन्य वस्तु उत्कृष्ट नहीं है, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट यही है। सर्वोत्कृष्टत्व का उपपादन करती है।

'अथ तस्य नामधेयम्। सत्यस्य सत्त्यमिति। सत्त्यस्य सत्त्यम्' यह ब्रह्म का नाम है, नाम का निर्वचन करती है—'प्राणा वै सत्त्यम्—तेषामेष सत्त्यम्।' प्राण शब्द वाच्य जीवों का प्रकृति समानस्वरूप विकार न होने से 'सत्त्यम्' यह नाम है। जीवों के स्वरूप को निर्विकार होने पर भी उनके धर्मभूत ज्ञान के संकोच विकासरूप विकार होते हैं, परमात्मा के ज्ञानादिकों का संकोच लक्षण विकार न होने से स्वरूपतः तथा स्वरूपनिरूपकधर्मतः भी निर्विकार होने से परमात्मा सत्त्य पद वाच्य जीवों से भी सत्त्य है। अतः कृत्स्नचेतनाचेतनों से उत्कृष्ट परमात्मा ही है, परमात्मा से उत्कृष्ट अन्य कोई नहीं है, यह अन्यत्र श्रुतिस्मृतियों में भी निर्दिष्ट है—

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः ॥'

यह 'नेति नेति' श्रुत्यर्थं ब्रह्ममीमांसा के—'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' इस सूत्र से प्रतिष्ठापित है। अतः नेति श्रुति से विवर्तवादियों का स्वाभिमत निर्विशेष के साधन का प्रयास आकाश-वेष्टन के प्रयास के समान विफल है।'

इसका उत्तर है कि—'नेति नेति' का अर्थ 'इति न' इयत्ता रहित नहीं है यह हम पहले अभी कह चुके हैं, 'प्राणा वै सत्यम्' यहाँ पर प्राण का अर्थ मुख्य प्राण अथवा इन्द्रिय है जीव में एक वचनान्त प्राणशब्द का प्रयोग होता है बहुवचनान्त का नहीं। यहाँ पर ब्रह्म में निर्विकारस्वरूप सत्यत्व विवक्षित है अबाध्यस्वरूप नहीं इसमें क्या प्रमाण है। विना शक्यार्थबाध के लक्षणा कैसे होगी। 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' इस सूत्र से 'नेति-नेति' श्रुत्यर्थं प्रतिष्ठापित नहीं है यह हम अनुपद ही कह आये हैं। अतः 'नेति-नेति' श्रुति से विवर्तवादियों का स्वाभिमत निर्विशेष के साधन का प्रयास रोपित सिक्त रक्षित प्रवृद्ध वृक्ष के समान सफल है।

२२९ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"पुनः पुनः चतुर्मुखानन्द-शतगुणितोत्तरमानुषानन्दकल्पना क्रमेण यावत्कालत्वम्' प्रयास से भी जिस ब्रह्म के आनन्द का अवधि दुरधिगम है ऐसे निरवधिकातिशयशाली ब्रह्मानन्द को जानकर संसारभय से मुक्त हो जाता है इस अर्थ का प्रतिपादन करती हुई—'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि का श्रुति स्थालीपुलाकन्याय से ब्रह्म केवलैश्वर्यादि प्रत्येक गुणों के निरवधिकातिशयत्व को सिद्ध करती हुई निरवधिकातिशयानन्त-गुणसागर ब्रह्म का बोधन कर रही है, अतः स्वाभिमत निर्विशेष साधन में प्रवृत्तों को 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि का श्रुति भी प्रतिकूल ही है।

ब्रह्म के प्रमाणान्तरानवसित निरवधिकातिशत अनन्त-कल्याणगुण-श्रुति से ही विहित हैं, स्मृतिवचन सहस्रों से उपबृंहित हैं श्रुतिविहित का श्रुति-स्मृतियों से बाध हो नहीं सकता, अतः जहाँ कहीं श्रुति-स्मृतियों में गुण-निषेधक सरीखे वचन दिखाई पड़ें वहाँ हेयगुण निषेध गुणावधि निषेध अन्यतर जानना चाहिए।"

इसका उत्तर यह है कि—" 'यतो वाचो निवर्तन्ते' यह श्रुति ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्द को वाङ्मनसा गोचर बताती है आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है इसमें 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' यह श्रुति प्रमाण है। ब्रह्म का स्वरूपभूत आनन्द। वाङ्मनसा गोचर होने से निर्विशेष है सविशेष नहीं। वह शक्त्या आनन्द पद प्रतिपाद्य भी नहीं है, किन्तु लक्षणया आनन्द पद यहां पर दुःख व्यावृत्ति परक है। 'साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि सामान्यतः प्रवृत्त गुण निषेधक वचन हेयगुण निषेधपरक अथवा गुणावधि निषेध परक नहीं हो सकते। अत:—'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि का श्रुति विवर्तवादियों के अनुकूल ही है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' यह श्रुति निरवधिकातिशयानन्तगुण-सागर-ब्रह्म का बोध नहीं कर रही है।

२२९, तथा २३० पृष्ठों में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—" 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, सर्वंखल्विदं ब्रह्म, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इत्यादि श्रुतिस्मृतियों से वस्तुत्व व्यापक ब्रह्मात्मकत्व प्रतिपन्न है, प्रत्यक्ष और अनुमान से ब्रह्मात्मकत्व वैकल्येन प्रतीत जगत् के पूर्व प्रदर्शित श्रुतिस्मृतियों से सिद्ध ब्रह्मात्मकत्व को दृढकरती हुई ब्रह्मात्मकत्वेन जगद्दर्शन के अमृतत्वहेतुता का और ब्रह्मात्मकत्व वैकल्येन जगद्दर्शन के जन्ममरणादि-परम्परा का अविच्छेद रूप संसार हेतुता का 'नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः समृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति' इत्यादि श्रुतियां प्रतिपादन करती हैं, पूर्व प्रदर्शित श्रुतिविहित ब्रह्मात्मक जगन्नानात्व का निषेध नहीं करती हैं, प्रत्युत ब्रह्मात्मकत्वेन जगन्नानात्वानुसंधान की शान्ति हेतुता का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्यादिना प्रतिपादन करती हैं, अतः 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों को भेद सामान्यनिषेध परत्व समझना भ्रम है।"

इसका उत्तर यह है कि वस्तुत्व व्यापक ब्रह्मात्मकत्व विवर्तवादियों को भी संप्रतिपन्न है किन्तु ब्रह्म में जगत् की विवर्तोपादानता मानकर जैसे विभ्रमस्थल में सर्पधारादि में रज्ज्वात्मकत्व है। जगत् की परिणाम्युपादानता ब्रह्म में नहीं बन सकती, क्योंकि ब्रह्म अपरिणामी है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह श्रुति ब्रह्म में परस्पर भिन्न जगत् का निषेध करती है, क्योंकि ब्रह्म में जगत् कल्पित है अत एव श्रुति में 'नानेव पश्यति' यहाँ पर 'इव' शब्द का उपादान है जिससे

नाना वस्तु की अवास्तविकता प्रतीत होती है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति भिन्न का निषेध करती है भेद सामान्य का नहीं। नाना पदार्थ भिन्न है भेद नहीं। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' यह श्रुति ब्रह्मात्मकत्वेन जगद्दर्शन के अमृतत्व हेतुता का प्रतिपादन नहीं करती। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस श्रुति का अर्थ है कि सर्वजगत् में तज्जत्व तल्लत्व तदन्त्व है अतः सर्वजगत् ब्रह्मात्मक है अतः यह श्रुति ब्रह्मात्मकत्वेन जगन्नानात्वानुसंधान की शान्ति हेतुता का प्रतिपादन नहीं करती, यह स्पष्ट है।

२३० और २३१ पृष्ठों में श्रीत्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—"जीवात्मा के शास्त्रैकसमधिगम्य काल सहित पञ्चविंशक जडवर्ग व्यावृत्त, अणु, स्वयं ज्योति, अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक विशिष्ट भगवच्छेषतैकरसस्वरूप को शास्त्रों से जानकर एवं जडतत्त्व तथा ईश्वरतत्त्व को शास्त्रों से याथात्म्येन जानकर ज्ञानियों का परस्पर में तादृश ज्ञानानुगुणव्यवहारपारमार्थिक व्यवहार है, तादृश विलक्षण व्यवहारे तत्र व्यवहार प्राकृत व्यवहार है, ये द्विविध व्यवहार शास्त्रों में व्यावहारिकवर्णन पारमार्थिकवर्णन शब्द से व्यवहृत हैं। विवर्तवादियों का तद्विलक्षण व्यावहारिक पारमार्थिक विभेद कल्पन भ्रान्तिकृत होने से प्रामाणिकों को उपेक्षणीय है।"

इसका उत्तर है कि—"विशिष्टाद्वैतवादियों के ये द्विविध व्यवहार किस उभय संप्रतिपन्न शास्त्र में किया गया है उल्लेख करना उचित है, अन्यथा ऐसा लिखना असंगत है। विवर्तवादियों का त्रिकालाबाध्यत्व या प्रमाणाबाध्यत्व रूप पारमार्थिकत्व आप को भी संमत है। 'प्रातिभासीकत्वासमानाधिरण-मिथ्यात्व-रूप-व्यावहारिकत्व प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वाद् जडत्वात् परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवत्' इत्यादि अनुमान शत से अद्वैत सिद्धि में साधित है।

२३१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"सुषुप्तिदशा में अहमर्थ जीवात्मा का ज्ञान अनभिव्यक्त होने से नहीं प्रकाशता है, धर्मिभूत स्वयं ज्योति अहमर्थ प्रत्यगात्मा प्रत्यक्त्व एकत्व अनुकुलत्व प्रकारेण स्वस्मै स्वयं प्रकाशता रहता है।"

इसका उत्तर है कि—सुषुप्ति में जीव के ज्ञान की अनभिव्यक्ति का कारण

क्या है ? यदि सुषुप्ति अनभिव्यक्ति कारण है तब अविद्या-परिणाम-सुषुप्ति को आवरक मानना होगा। तब अद्वैतमत प्रवेश अनिवार्य है। और-प्रत्यक्त्व, एकत्व, अनुकूलत्व प्रकारेण स्वस्मे स्वयं प्रकाशना प्रत्यगात्मा का सुषुप्ति में अनुपपन्न है क्योंकि 'प्रत्यगहम्, एकोऽहम् अनुकूलोऽहम्' यह ज्ञान सुषुप्ति में नहीं होता।

२३१ तथा २३२ पृष्ठों में श्रीत्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—जैसे बुद्ध का अभिप्राय शून्यवाद में ही है वैसे ही वेदावलम्बी विवर्तवादियों का अभिप्रेत दृष्टि-सृष्टिवाद ही है 'सिद्धान्तविन्दु' की टीका में श्रीनारायण तीर्थ 'दृष्टिरेव जगतः सृष्टिः' लिखते हैं।

इस अर्थ में योगाचार का सम्यक्-सौहार्द प्रदर्शित हो जाता है क्योंकि योगाचार भी दृष्टि-व्यतिरिक्त सृष्टि नहीं मानता।

२३३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यदि दृष्टिसृष्टिवाद में दृष्टि पद को चैतन्य मात्र परक माना जाय तब तो घटादिप्रपञ्च के सदातनत्व की आपत्ति होगी और मिथ्यात्व के विपरीत द्वैतप्रपञ्च का नित्यत्व सिद्ध हो जायेगा।

यदि कहा जाय कि 'वृत्ति ही दृष्टि है' इस पक्ष में घटादिप्रपञ्च का जैसे दृष्टि सृष्टित्व है वैसे वृत्ति का भी दृष्टि सृष्टित्व मानना होगा। इस प्रकार वृत्ति विषयक वृत्यन्तर कल्पना से अनवस्था दोष आवेगा।

यदि वृत्युपहितचैतन्य को दृष्टि मानें तो भी पूर्वोक्त अनवस्थादोष सुस्थ ही है। किञ्च दृष्टिसृष्टिवादी प्रत्यक्षादि प्रमाणों को, वेदों को, वेदप्रतिपाद्य ईश्वर को, ईश्वर-कर्तृकवेद प्रतिपादित सृष्ट्यादि को, दृष्टिसृष्टिवाद मानते हैं। अतः श्रुति-स्मृतियों के अवमन्ता दृष्टिसृष्टिवादी—

'योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥'

इस मनूक्ति के गोचर है।"

इसका उत्तर यह है कि—"योगाचार और विवर्तवादी के दृष्टिसृष्टिवाद में बहुत बड़ा अन्तर है। क्योंकि योगाचार विज्ञान और विज्ञानाकार जगत् दोनों को परमार्थ मानता है और विवर्तवादी विज्ञान को परमार्थ और सर्वप्रपञ्च को उसमें कल्पित परमार्थ मानता है।

दृष्टिसृष्टिवाद में दृष्टिपदार्थं वृत्तिरूप या वृत्त्युपहित चैतन्यरूप नहीं है किन्तु ब्रह्मचैतन्यरूप है। दृश्य विश्व उसमें कल्पित है 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। इस प्रकार दृष्टिसृष्टिवाद में प्रपञ्च का नित्यत्व और सत्त्यत्व नहीं आपन्न होगा। दृष्टिसृष्टिवादी श्रुतिस्मृति का तथा ईश्वर का अवमन्ता नहीं है क्योंकि व्यवहारदशा में उनको सब कुछ आपके तरह मान्य है। अत एव वैतण्डिक शिरोमणि श्रीहर्षमिश्र खण्डन में लिखते हैं—

'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतभावना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥'

इसीलिये उन्होंने खण्डन ग्रन्थ के आदि में उमासहित ईश्वर की वन्दना की है। ज्ञानोत्तर अद्वैतदशा में तो अवमान का संभव ही नहीं है।

"परन्तु यह सब कथन निराधार ही है क्योंकि सविशेष वस्तु के तुल्य ही निर्विशेष वस्तु में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणसङ्गत होते हैं। सुषुप्तिकाल का प्रत्यक्ष भी निर्विशेषतत्त्व का ही बोधक है सुषुप्ति काल में 'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' सुषुप्ति में मैं कुछ नहीं जानता था इत्याकारक सुप्तोत्थ स्मरण से सौषुप्त प्रत्यक्षानुभूति का परिज्ञान होता है, क्योंकि अनुभव के विना स्मरण सिद्ध नहीं होता" इत्यादि श्रीकरपात्री जी की उक्ति है।

इसके खण्डन के लिए श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"सुषुप्तिकालिक ज्ञानसामान्याभाव साधक 'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' इस प्रत्यय को कौन सचेता सौषुप्तप्रत्यक्षानुभूति साधक कहेगा।"

इसका उत्तर है कि 'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' इस प्रत्यय को श्रीकरपात्री जी स्मरण कहते हैं अतः यह प्रत्यय सौषुप्त प्रत्यक्षानुभूति का साधक अवश्य होगा। क्योंकि विना प्रत्यक्ष के स्मरण नहीं होता और यह प्रत्यय सौषुप्त ज्ञानसामान्याभाव का साधक नहीं है किन्तु सौषुप्त अज्ञानरूप भाव पदार्थं का साधक है। अज्ञानरूप भावपदार्थं का साधक अनुमानप्रमाण है—

'देवदत्त प्रमातत्स्थप्रमाऽभावातिरेकिणः।
अनादेर्ध्वंसिनीमात्वादविगीतप्रमा यथा ॥'

यह चित्सुखी का अनुमान अज्ञान साधक है। सुषुप्तिकाल में अविद्यावृत्तिरूप

सुख और अज्ञान तथा उसका कार्यरूप सुषुप्ति सच्चिदानन्दस्वरूप साक्षी से भास्य हैं। अविद्यावृत्ति-विशेषजनित-संस्कार से सुप्तोत्थित को उक्त त्रितयविषयक स्मरण होता है। 'वेदान्तवादावलीकार' का यह कथन असंगत है कि—

"सुखमहमस्वाप्सम् - नाहं किञ्चिदेवदिषम्' यह प्रत्यय अनुमिति और प्रत्यभिज्ञानरूप ज्ञानद्वयात्मक है, ज्ञानसामान्याभावरूप स्वापांश में और सुषुप्ति कालांश में अनुमित्यात्मक है और सुखविशिष्टात्मांश में प्रत्यभिज्ञात्मक है।"

क्योंकि तत्तेदन्तोल्लेखिनी बुद्धि प्रत्यभिज्ञा है और यहाँ पर तत्तेदन्ता का उल्लेख नहीं है। "जागराद्यक्षण: कालपूर्वक: कालत्वात् द्वितीयादिक्षणवत्। तत्कालावच्छिन्नोऽहं ज्ञानाभाववान्, ज्ञानसामान्यसामग्री-विरहवत्त्वात्, तुल्ययोग-क्षेमे आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि तद्वत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्वाद्वा" यह अनुमान भी दुष्ट है। क्योंकि ज्ञानसामग्री विरहवत्त्व से ज्ञानाभाव का साधन, और ज्ञाना-भाव से ज्ञानसामग्रीविरह के साधन में अन्योन्याश्रयदोष है। 'तुल्ययोगक्षेमे आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि तद्वत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्वाद्वा' यह हेतु सत्प्रतिपक्ष है। इसके साध्याभाव का साधक हेतु—आत्मस्मृति हेतु संस्कार हेत्वात्मप्रत्यक्षज्ञान-वत्त्व है। इस प्रकार 'नाहं किञ्चदवेदिषम्' इस स्मरण प्रत्यय को सौषुप्तप्रत्यक्षा-नुमिति का ज्ञापक कहना प्रबल प्रमा कृत है।

२३६ पृष्ठ में श्रोत्रिदण्डी जो लिखते हैं कि—"यहाँ पर यह प्रयोग अभिमत है—"ब्रह्म निर्विशेषं सुषुप्तिप्रभृतिकालावच्छेदेन ब्रह्माधिकरणक-विशेषविषयकानु-भवकूटाभावात्, यन्निर्विशेषं न, तत्तदधिकरणविशेषाभावविषयकदर्शनं न, यथा—'घट:'।

अहो, कैसी अनुमान चातुरी है, निर्विशेषत्व साध्य है, सुषुप्त्यादिकाला-वच्छिन्नब्रह्माधिकरणकनिर्विशेषविषयकानुभवकूटाभाव हेतु है। निर्विशेषत्वाभाव साध्याभाव है। ब्रह्माधिकरणकविशेष-विषयकानुभव-कूटाभावाभाव हेत्वभाव है। विशेषाभावविषयक-दर्शनाभावनिरूपिता निर्विशेषत्वाभावनिष्ठा व्यतिरेकव्याप्ति दर्शायी जा रही है। जिनको स्वप्रयुक्त-साध्याभाव-हेत्वभाव का ज्ञान नहीं ऐसे चतुरपरीक्षकत्वाभिमानी हों यह कलिकाल का माहात्म्य है जिसके व्यतिरेक व्याप्ति की ऐसी दशा है उस अनुमान के और दूषण क्या कहा जाय।"

इसका उत्तर यह है समनियत पदार्थ एक माने जाते हैं। जैसे—घट और घटाभावाभाव—तथा घटत्व और घटभेदाभाव इत्यादि। अतः ब्रह्माधिकरणक विशेष विषयकानुभवकूटाभावाभाव और विशेषाभावविषयक दर्शनाभाव यह दोनों समनियत होने से एक हैं। अतः विशेषाभावविषयक दर्शनाभावनिरूपिता निर्विशेषत्वाभावनिष्ठा व्यतिरेकव्याप्ति दर्शायी जा सकती है।

२३७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—जब पद ही प्रवृत्ति निमित्त-विशिष्टस्वार्थं का तथा क्वचित् प्रकृत्यर्थं विशिष्ट प्रत्ययार्थं का, क्वचित् प्रत्ययार्थं विशिष्ट प्रकृत्यर्थं का बोधक होता हैं। तब आकांक्षादिमत् पद समुदायात्मक शब्द प्रमाण विवर्तवाद्यभिमतनिर्विशेष बोधक कैसे हो सकता है।"

इसका उत्तर है कि कोई-कोई पद भी निर्विशेष व्यक्तिमात्र का बोधक होता है। जैसे नाम पद देवदत्तादि यदृच्छा शब्द डित्थ डवित्थादि। और कोई-कोई वाक्य भी निर्विशेष व्यक्ति मात्र का बोधक होता है। जैसे—'सोऽयं देवदत्तः। तत्त्वमसि। कश्चन्द्रः' इति प्रश्ने 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द' इति। प्रत्यभिज्ञावाक्य में तत्ताविशिष्ट इदन्ताविशिष्ट का मान नहीं होता क्योंकि उनका अभेद बाधित है वाक्य की व्यक्ति विशेष में लक्षणा है। 'तत्त्वमसि' में भी पदद्वयार्थं विशिष्टों का अभेद बाधित है अतः निर्विशेष ब्रह्म लक्ष्य है। 'कश्चन्द्रः' इस प्रश्न के बाद 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इस वाक्य की चन्द्रमात्र में लक्षणा है क्योंकि चन्द्र में प्रकृष्ट-प्रकाश का संसर्ग अबुभुत्सित है।

२३७ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—'सुषुप्ति में भी सविशेष ही ब्रह्म रहता है, वहाँ मन आदि करण न होने से विशेषों का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिसका सद्भाव गृहीत नहीं, उस विशेष के होने में कोई प्रमाण नहीं, यदि अगृहीत होने पर भी विशेष मान्य हो तब तो शशशृङ्ग का भी सद्भाव मानना चाहिए।"

सौषुप्तिक अग्रह मात्र वस्तु के असत्त्व का यदि साधक हो तब तो विवर्त-वाद्यभिमत निर्विशेष ब्रह्म का भी असद्भाव सिद्ध हो जायगा। क्योंकि विवर्त-वादियों को छोड़कर और कोई सुषुप्ति काल में निर्विशेष ब्रह्म का ग्रहण नहीं मानता है"।

इसका उत्तर है कि विवर्तवादी सौषुप्तिक अग्रह मात्र को वस्तु के असत्त्व का साधक नहीं कहता किन्तु इसमें 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' यह श्रुति भी साधक है। विवर्तवादी सुषुप्ति काल में निर्विशेष ब्रह्म का ग्रहण इसलिए मानता है कि वह स्वप्रकाश है। 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' यह श्रुति इसमें प्रमाण है।

२३७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"जागर को भ्रम कहना प्रमत्त प्रलाप है।

इसका उत्तर है कि—जब 'त्रय आवसथाः, त्रयः स्वप्नाः' यह श्रुति जागर को स्वप्नसदृश सद्वस्तु शून्य होने से स्वप्न कहती है तब जागर प्रत्यय भ्रम कैसे नहीं है। व्यवहार दशा में भ्रम प्रमा विभाग अद्वैती इस प्रकार करते हैं। व्यावहारिक वस्तु विषयक ज्ञान प्रमा है। प्रातिभासिक वस्तु विषयक ज्ञान भ्रम है। अद्वैतवादी कहते हैं—

'देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥'

तत्त्वमस्यादि वाक्य जन्य अखण्ड ब्रह्म साक्षात्कार भी वृत्त्युपहितब्रह्म-विषयक होने से वस्तु गत्या भ्रम है। और लौकिक प्रमात्व तो उसके अबाधितार्थ विषयक होने से है ही। विवर्तवादियों के सिद्धान्त और माध्यमिकों के सिद्धान्त में महान् भेद है जिसको हमने 'वादत्रय विमर्श' नामक निबन्ध में सप्रमाण सिद्ध किया है।

२३८ और २३९ पृष्ठों में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं—"सत्य अधिष्ठान में सत्यद्रष्टा सत्यदोष सत्यदोषाश्रयत्वों के रहने पर ही भ्रम होता है अन्यथा नहीं। तब द्रष्टा-दोष-दोषाश्रयत्वों को मिथ्या मान कर निर्विशेष चिन्मात्रा-धिष्ठानक भ्रम नहीं कह सकते हैं"।

इसका उत्तर यह है कि—विवर्तवादी द्रष्टा-दोष-दोषाश्रयत्वों को व्याव-हारिक सत्य घटादि प्रपञ्च के तरह मानता ही है। अतः शुक्तिरूप्यादि विभ्रम स्थल में अथवा घटादिप्रपञ्चविभ्रम स्थल में द्रष्टा-दोष आदि का सत्यत्व उपपन्न है।

२३९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—" 'योगवासिष्ठ' प्राचीन ही ग्रन्थ है किन्तु अन्वेषकों के कथनानुसार वह अनेकवार रूपान्तरों में परिणत किया गया है, वर्तमानरूप उसका अत्यन्त आधुनिक है। अतः अधुना उपलभ्य-मान 'योगवासिष्ठ' वस्तुस्थिति का निश्चायक नहीं हो सकता"।

इसका उत्तर यह है कि –अन्वेषकों के कथनानुसार श्रीत्रिदण्डी जी बतावें कि योगवासिष्ठ का कौन रूप प्रामाणिक है उससे हम विवर्तवादियों के मत को सिद्ध करें।

औपाधिक ज्ञान भेद की समीक्षा

२३९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ज्ञाता को विषयों का जो प्रकाश होता है उसी में ज्ञानपद रूढ है इस तथ्य में किसी परीक्षक का विवाद नहीं है।"

इसका उत्तर यह है कि—ज्ञानाश्रय को ज्ञाता कहते हैं, साभासवृत्तिरूप ज्ञान भी विषयों का प्रकाशक है। अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यरूप-आत्मा ज्ञानाश्रय इसलिये है कि उसमें विशेषण अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञान का आश्रय है। 'पञ्च-पादिका' कार का चित्स्वभाव एवात्मा यह वचन आत्मा में ज्ञानाश्रय नहीं सिद्ध करता। किन्तु चित्स्वभावत्व (ज्ञान स्वभावत्व) सिद्ध करता है। आत्मा नित्य है अतः सुषुप्ति में भी वह ज्ञानस्वभाव ही है। 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात् तस्य चात्माश्रयत्वात्'। इस विवरण वचन की व्याख्या हम पूर्व में कर आये हैं। ज्ञाता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है साभासवृत्तिरूप ज्ञान अर्थ प्रकाश है उसका आश्रय उक्त चैतन्य रूप आत्मा है।

२४० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"आत्म शब्द और ज्ञातृ शब्द तुल्यार्थ में लोकतः गृहीत शक्तिक है"।

इसका उत्तर यह है कि—आत्म शब्द और ज्ञातृ शब्द तुल्यार्थक नहीं हैं। 'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति यह है—

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यश्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते॥"

ज्ञातृ शब्द का अर्थ ज्ञानाश्रय है। 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्रणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इस श्रुति को आत्मा की ज्ञातृरूपता के साधन के लिये श्रीत्रिदण्डो जी ने उल्लेख किया है किन्तु इस श्रुति में 'विज्ञानमय' शब्द तथा 'ज्योतिः' शब्द से पुरुष पद वाच्य आत्मा की ज्ञानरूपता ही सिद्ध होती है। क्योंकि यहाँ पर 'विज्ञानमय' पद में स्वार्थ में 'मयट्' है और 'ज्योतिः' पद ज्ञानरूप प्रकाश को कहता है।

'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' इस श्रुति में अन्तःकरण वृत्याश्रय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञाता आत्मा प्रतिपादित हैं—'ज्ञोऽत एव' इस सूत्र की भी यही दशा है। यह आत्मा सविशेष है निर्विशेष आत्मा तो ज्ञान-स्वरूप ही है।

२४१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ज्ञान को सकर्मक ज्ञाधात्वर्थ होने से इतर सकर्मक धात्वर्थों के समान अहमर्थ आत्मा रूप ज्ञात्राश्रितत्व तत्तद् विषयकत्व कर्ता और कर्म के भेद से भिन्नत्व स्वरस सिद्ध है"।

इसका उत्तर है कि—आत्मास्वरूप ज्ञान सिद्ध स्वभाव होने से ज्ञाधात्वर्थ नहीं है, अन्तःकरण वृत्तिस्वरूप ज्ञान साध्यस्वभाव होने से ज्ञाधात्वर्थ है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रत्येक अहमर्थ आत्मा को तत्तद् विषयों के प्रकाशन के साथ विषयाश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न ही अनु-भूतियाँ होती है"।

इसका उत्तर यह है कि—प्रत्येक अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्य रूप अहं पद वाच्यार्थ आत्मा को विषय के प्रकाशन के साथ-साथ विषयाश्रय भेद से भिन्न भिन्न उक्त विवरणानुसार प्रमेय भेद भिन्न अनुभूतियाँ होती हैं। "तद्-विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इत्यादिक श्रौत विधान श्रुतार्थापत्ति से ज्ञान भेद को सिद्ध करती हैं"।

इस आक्षेप का उत्तर है कि—यहाँ पर प्रमेयभेद प्रयुक्त ज्ञान भेद की उपपत्तिरूप अन्यथाऽप्युपपत्ति श्रुतार्थापत्ति का बाधक है।

२४२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रपूर्वक 'काशृ' धातु अकर्मक है, तदर्थ प्रकाश को स्वसत्तासिद्ध्यर्थ प्रकाश्य की सत्ता की कुछ भी आवश्यकता नहीं है"।

इसका उत्तर है कि—ज्ञानरूप प्रकाश दो हैं। एक चैतन्यरूप, दूसरा अन्तः-करणपरिणाम वृत्तिरूप। आद्य स्वप्रकाश तथा सिद्धस्वभाव है। अतः उसको स्वसत्तासिद्धि के लिये प्राकाश्यसत्ता की अपेक्षा नहीं है और वह प्रपूर्वक 'काश्यृ' धात्वर्थ नहीं है।

दूसरा जड़ तथा साध्यस्वभाव है अतः उसको स्वसत्तासिद्धि के लिये प्रकाश्यसत्ता को अपेक्षा है, तथा वह प्रपूर्वक काश्यृधात्वर्थ है। प्रपूर्वक काश्यृ धातु के अकर्मक होने पर भी प्रकाश घटादि का प्रकाशक है। अतः घटादि उसके प्रकाश्य अवश्य हैं। प्रपूर्वक काश्यृ धातु यद्यपि अकर्मक है, किन्तु ण्यन्त धातु प्रकाशि सदा सकर्मक है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डो जी लिखते हैं कि—"प्रकाश्य-भेद से औपाधिक प्रकाश-भेद मान्य है यह कथन सर्वलोकानुभवविरुद्ध है"।

इसका उत्तर यह है कि—'प्रकाश्य भेद से औपाधिक प्रकाशभेद मान्य है' इस करपात्री जी के वचन का अर्थ यह है कि ज्ञेयभेद से ज्ञानभेद मान्य है। इसका भाव यह है कि यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिबल से ज्ञानरूप ब्रह्म एक है तथापि विषयरूप उपाधि के भेद से उसका भेद लोकानुभवसिद्ध होने से मान्य है। लोक में 'घटज्ञानात् पटज्ञानं भिद्यते' इत्यादि अनुभव सुप्रसिद्ध है।

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"एक आदित्य का प्रकाश अखिल जगत् को भासित करता है यही सर्वलोकानुभव है।"

इसका उत्तर है कि—श्रीत्रिदण्डी जी के इस कथन से ब्रह्म रूप ज्ञान का एकत्व सिद्ध होता है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" यह श्रुति कहती है।"

आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—'प्रकाश्य घट पट प्रभृति प्रकाश के विना गगनाभोग में अखिल द्रष्टृलोक को आदित्यादि प्रकाश प्रकाशता है।"

इस कथन से विवर्तवादी की कोई हानि नहीं है क्योंकि विवर्तवादी जाग्रत में प्रकाश्य और प्रकाश (ज्ञेय और ज्ञान) की अव्यभिचारितसत्ता मानता है और सुषुप्ति तथा समाधि में ज्ञेय के बिना ज्ञान की सत्ता मानता है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"एकैक आदित्यादि प्रकाश से अनेकानेक द्रष्टाओं को रूप रूप्यादि प्रकाशते हैं।"

इसका उत्तर है कि—एकैकवृत्तिरूप ज्ञान अनेकानेक जीवों को रूप रूप्यादि प्रकाशते हैं।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ज्ञान तो स्वाश्रयों को ही विषय प्रकाशन करते हुए ही स्वसत्ता से ही अपरोक्षतया प्रकाशते हैं।"

इसका उत्तर है कि प्रभाकरमत में ज्ञान जड़ स्वाश्रय को स्वसत्ता से प्रकाशित करता है यह उचित है, विशिष्टाद्वैतवाद में ज्ञान और उसका आश्रय ज्ञाता दोनों ही स्वप्रकाश हैं, अतः ज्ञान के आश्रयको ज्ञान प्राकाश्य कहना अत्यन्त असंगत है।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"समाधिकालिक तथा मुक्तिकालिक अनुभवशून्य परीक्षकसंसद में समाधिकालिक तथा मुक्तिकालिक अनुभव का प्रमाणतया उपन्यसन परिहासास्पद है।"

इसका उत्तर है कि—श्रुतिशास्त्रसिद्ध समाधि-कालिक तथा मुक्तिकालिक विद्वदनुभव का तादृश अनुभवशून्य परीक्षकसंसद् में उपन्यास उपहासास्पद नहीं है। अहं पद वाच्यार्थ आत्मा नहीं है यह पूर्व में उपपादन कर आये हैं।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति का प्रतिपाद्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है यह भी कह आये हैं।

आत्मा अहमर्थ ज्ञाता नहीं है वह प्रत्यक्त्व-प्रकारक तथा एकत्व-प्रकारक ज्ञान का विषय नहीं है। यह भी पूर्व में कह आये हैं।

आत्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप है उसका आश्रय नहीं है यह भी कह आये हैं।

'त्रितयं तत्र यो वेद' इस भागवत पद्य की विवर्तवादानुसारिणी व्याख्या कर आये हैं।

अनुभव का भ्रम और प्रमारूप से द्वैविध्य भ्रमात्मक, अनुभव का दोषजन्यत्व, प्रमात्मक अनुभव का व्यावहारिकप्रमाण जन्यत्व विवर्तवादी को मान्य है।

उत्पन्न ज्ञान का स्वाश्रय-सम्बन्ध, तथा वर्तमानावस्था में ज्ञान से स्वाश्रय प्रकाश इसको विवर्तवादी अनुपपन्न होने से नहीं मानता। उत्पन्न वृत्तिरूपज्ञान

का स्वश्रयसंवन्ध हो सकता है। चिद्रूपज्ञान उत्पन्न नहीं होता और इसका कोई आश्रय भी नहीं है।

२४३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"घटादि ज्ञान भी वस्तुतः बाधित ही होते हैं" यह कथन निःसार है "क्योंकि प्रतिपन्नोपाधि में ज्ञान का या ज्ञानविषय का स्वारसिक वाध किसी को भी नहीं है।"

इसका उत्तर है कि—"गौरोऽहम्, ब्राह्मणोऽहम्" इत्यादि ज्ञान या ज्ञान के विषय का स्वारसिकवाध किसी को नहीं है, किन्तु शास्त्रतः तथा परीक्षातः इसका वाध है इसलिए यह ज्ञान वस्तुतः वाधित ही है। इसी प्रकार घटादि ज्ञान के विषय का "नेह नानास्ति किञ्चन, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों तथा मिथ्यात्वसाध्यक दृश्यत्वहेतुक अनुमान से बाध है। अतः घटादि ज्ञान भी वस्तुतः बाधित ही होते हैं। तदुक्तम् —

"देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥"

२४३ पृष्ठ में ही श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "वस्तुतः जैसे मृत्तिका के रहने पर ही घटादि का उपलम्भ होता है वैसे ही प्रतीति होने पर ही विषयोपलम्भ होता है। अतः प्रतीति मात्र ही विषय है। फिर विषयाधीन प्रतीति की सत्ता कैसे कही जा सकती है। यह कथन अपने कूटस्थ के 'नाभाव उपलब्धेः' इस सूत्र के भाष्य पर हड़ताल फेरना है।"

इसका उत्तर है कि—दृष्टि-सृष्टिवाद या विवर्तवाद में प्रतीति पदार्थ दो हैं। एक चिद्रूप प्रतीति, दूसरी अन्तःकरणपरिणामभूत-वृत्तिरूप प्रतीति। अनावृत-चिद्रूप प्रतीति के सत्त्वदशा में ही विषयोपलम्भ होता है। अतः प्रतीति मात्र ही विषय है क्योंकि स्वावच्छिन्नचिद्रूपप्रतीति में विषय अध्यस्त है विषयावच्छिन्न-चैतन्य के आवरण की निवृत्ति वृत्तिरूप प्रतीति से होती है। अतः आवरणाभिभवार्था वृत्तिः यह विवर्तवादियों का सिद्धान्त है। "नाभाव उपलब्धेः" इस सूत्र तथा इसके भाष्य से विषय के अभाव अर्थात् असत्त्व का निषेध होता है। सदसद्विलक्षणस्वरूप-मिथ्यात्त्व का निषेध उससे नहीं सिद्ध होता इस तरह जब

चिद्रूपप्रतीति मात्र विषय सिद्ध हुआ तब विषयाधीन प्रतीति की सत्ता नहीं कही जा सकती ।

२४४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"आरम्भवाद के विरोधी अविद्या का परिणामभूत जगत् मानने वाले विवर्तवादियों का अनुयायी होकर परिणामवाद की अपेक्षा से आरम्भवाद का श्लाघात्मक "वस्तुत: प्रतिवादी भी धर्मभूतज्ञान को एक मानता हुआ स्मृतित्वादि अवस्थाभेद से ही उसका भेद मानता है, यदि भेद मानता हो तो नैयायिकों के समान रूपादिज्ञानों का स्वत: सिद्ध ही भेद मानना चाहिए" यह कथन खण्डनाभिनिवेशात्मकभूतावेशकृत है । यदि वैदिक-सत्कार्यवाद से भी वैनाशिक अर्धवैनाशिक संमत आरम्भवाद ही प्रिय है तब तो सर्वप्रमाण प्रत्यनीकविवर्तवाद का परित्याग कर आरम्भवाद को अपनाना चाहिए ।"

इसका उत्तर है कि-विवर्तवादियों को वैदिक सत्कार्यवाद तथा परिणामवाद की अपेक्षा से आरम्भवाद प्रिय नहीं है । अत एव यहाँ पर आपके भेदवाद का खण्डन करते हुए श्रीकरपात्री जी ने 'यदि' शब्द का प्रयोग किया है । "कण्टकेनैव कण्टकम्" इस न्याय को यहां पर श्रीकरपात्री जी ने अपनाया है ।

इसके बाद इसी पृष्ठ में श्रीत्रिण्डो जी लिखते हैं कि—"ज्ञान का नित्यत्व तथा दृष्टि घ्रात्यादि रूपेण परिणामित्व 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुति स्वारस्य सिद्ध है । श्रौतसत्कार्यवादावलम्बी श्रुतिस्वारस्यसिद्ध ज्ञान की परिणामिनित्यता को मानने वाले अवैदिक आरम्भवादावलम्बनेन वैदिकों से कैसे उपालम्भनीय हो सकते हैं ।"

इसका उत्तर है कि 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेः' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान का नित्यत्व अवश्य सिद्ध होता है, किन्तु इन श्रुतियों से अथवा एतदन्य श्रुतियों से ज्ञान का दृष्टिघ्रात्यादिरूपेण परिणामित्व कदाऽपि नहीं सिद्ध होता । यदि सिद्ध होता है तो पूर्ण श्रुतिस्वरूप का उल्लेख करके सिद्ध कीजिये ।

इसके आगे इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रकृति का आदि अन्त शून्यत्वरूप नित्यत्व तथा परिणामित्व "अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णाम्" "गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी" "विकारजननीमज्ञाम्" इत्यादि अनेक

श्रुत्यवधारित है। एवं सति 'नित्य में अवस्था भेद बन नहीं सकता' "यदि तदस्य हरति प्रज्ञाम्, तेनास्य क्षरति प्रज्ञा, प्रज्ञा प्रसूता पुराणी" इत्यादि प्रमाणों के अनुसार ज्ञान का विकास संकोच या उत्पत्ति विनाश माना जाय तो ज्ञान की नित्यता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती" इत्यादि विकत्थन प्रमाण विरुद्ध हैं। वृत्ति में ज्ञानत्व का कल्पन कल्पकाभाव से निरस्त है।"

इसका उत्तर है कि–नित्य दो प्रकार का होता है—एक कूटस्थ नित्य, और दूसरा परिणामी नित्य। कूटस्थ नित्य अविकारी होता है जैसे—आत्मा। और परिणामी नित्य विकारी होता है जैसे—प्रकृति। कूटस्थनित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा में अवस्था भेद बन नहीं सकता, यह भी करपात्री जी का अभिप्राय है। 'तदस्य हरति प्रज्ञाम्' इत्यादि पूर्वोदाहृतप्रमाण वृत्तिरूपज्ञान की अनित्यता को बताते हैं। वृत्ति में ज्ञानत्व का कल्पक "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" यह श्रुति रूप प्रमाण है।

२४५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सर्व प्रमाण-विरुद्ध सर्व प्रमाणग्रासी चिन्मात्राधिष्ठानक सर्वार्थाध्यास को सर्व प्रमाणों से सिद्ध कहना विकत्थन मात्र है।"

इसका उत्तर है कि—चिन्मात्राधिष्ठानक सर्वार्थाध्यास "तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा" इस भागवत के प्रथम पद्य से स्पष्ट सिद्ध हो रहा है। और—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

इस पद्य से भी इसकी सिद्धि हो रही है। इस पद्य का अर्थ है कि—एक निर्गुण ब्रह्म स्वरूपज्ञान बाह्य विषय ग्राहक इन्द्रियों से शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध धर्मवत् वियदादि पञ्चभूतात्मक अर्थरूप से भ्रान्ति से भासता है, जैसे—रज्जु सर्वरूप से शुक्तिरजतरूप से भासती है। इससे विवर्तवाद की सिद्धि स्पष्ट हो रही है।

श्रीत्रिदण्डी जी इसका अर्थ करते हैं कि—"एक निर्गुण ज्ञानस्वरूप ब्रह्म (जीव) अनात्मभूतविषयप्रकाशक इन्द्रियों से शब्दादिधर्मक पाञ्च-भौतिक देवादि देहरूप से भ्रान्ति से भासता है।"

किन्तु यह अर्थ उचित नहीं है क्योंकि अर्थरूपेण इसका पाञ्चभौतिक देवादि देहरूपेण यह संकुचित अर्थ करना निष्प्रमाण है। इस पद्य में 'अर्थ' शब्द ज्ञान-पदोपादान-सामर्थ्य से ज्ञानविषयीभूत अर्थ परक है। सामान्य परक अर्थ शब्द का अर्थ विशेष पाञ्चभौतिक देवादिदेह रूप अर्थ विशेष में संकोच करना विना प्रमाण के अनुचित है, यहां पर जीव को ज्ञानस्वरूप कहना विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के प्रतिकूल है तथा यहां पर ब्रह्मशब्द को जीव परक बताना अप्रामाणिक है। इस प्रकार इस श्लोक में विवर्तवाद की अति स्फुट चर्चा है।

अहंकार की अभिव्यञ्जकता की समालोचना

२४६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डो जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादी सजातीयविजातीय-स्वगतभेदशून्य असङ्ग निर्विकार प्रकाशमात्र वपु चैतन्य है ऐसा कहते हुए भी अहंकार को चैतन्याभिव्यञ्जक कहते हैं। अभिव्यञ्जक शब्द का अर्थ है अभि-व्यक्ति करने वाला। अभिव्यक्ति शब्द के अनेक अर्थ हैं 'अभिव्यनक् जगदिदम्' यहाँ पर उत्पत्ति अर्थ है : 'खननेन जलमभिव्यनक्ति' यहाँ पर ज्ञानाद्ययोग्य वस्तु की ज्ञानादियोग्यता प्राप्ति अभिव्यक्ति शब्दार्थ है। उक्त तथा उक्तप्रकार की कोई भी विवर्तवादिसंमत चिति की अभिव्यक्ति यहाँ नहीं हो सकती, जिसका जनक अहंकार हो सके। क्योंकि विवर्तवादी चिति का असङ्ग नित्य अमेय अनन्त प्रकाशमात्र वपु मानते हैं, अतः अहंकार को उसका उत्पादक ज्ञापकादि कह नहीं सकते।"

इसका उत्तर यह है कि—विवर्तवादिसंमत चिति का स्वरूप जो ऊपर आपने बताया यह सही है किन्तु जोव चैतन्य अविद्या से तथा ईश चैतन्य माया से आवृत है, यह विवर्तवादियों का शास्त्रसंमत सिद्धान्त है। "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते, नायं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः" इत्यादि श्रुति स्मृति इसमें प्रमाण हैं। आवरणभङ्ग पूर्वक वस्तु प्रकाश को आविर्भाव या अभि-व्यक्ति कहते हैं अहमाकार अन्तःकरण वृत्ति को अहंकार कहते हैं। 'आवरणाभिभ-वार्थाः वृत्तिः' यह विवर्तवादियों का सिद्धान्त है, अतः चैतन्य के आवरण का भञ्जक होने से अहंकार को विवर्तवादी चैतन्य का अभिव्यञ्जक कहते हैं। आत्मा का उत्पादक या ज्ञापक अहंकार को विवर्तवादी नहीं कहते।

२४७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि —

(१) 'प्रजापति शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए—'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुसः पुरुषः दर्शनाय चक्षुः' इत्यादि वाक्यों से आत्मा के स्वाभाविक ज्ञातृत्व का प्रतिपादन कर चक्षुरादि इन्द्रियों के कारणत्व का तथा रूपादिकों के ज्ञेयत्व का प्रतिपादन करके शरीरेन्द्रियों से आत्मभेद को सिद्ध करते हैं।"

(२) "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' इत्यादि का श्रुति द्रष्टा के अविनाशित्व से दृष्टि के अविनाश को कहती हुई अग्नि के औष्ण्य के समान दृष्टि को द्रष्टा के स्वाभाविक धर्मत्व को सिद्ध करती है।

(३) भगवान् वादरायण भी—'ज्ञोऽत एव, एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः' इत्यादि सूत्रों से आत्मा के स्वाभाविक ज्ञातृत्व को सिद्ध कर रहे हैं।

(४) स्मृतियाँ भी—'एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः" इत्यादि वाक्यों से आत्मा के ज्ञातृत्व को ही सिद्ध करती हैं।

(५) श्रुति-स्मृति-सूत्रादिकों से स्वविषय में प्रतिष्ठित वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' इत्यादि प्रत्यक्ष भी आत्मा के स्वाभाविक ज्ञातृत्व का ही साधक है।

(६) विवर्तवादियों के पक्ष में चिति तन्मात्ररूपतया संमत आत्मा कथञ्चिदपि ज्ञानवान् हो नहीं सकता। अतः विवर्तवादियों का पक्ष श्रुति-स्मृति-सूत्र-विरुद्ध है यह विज्ञजन सुज्ञेय है।

(७) परस्पर में तलातली करने वाले अप्रतिष्ठित कुतर्कावलम्बी विवर्तवादी अपने कुतर्कों का अवलम्बन करके श्रुति-स्मृति-सूत्रों का न्यक्कारपूर्वक 'अहं जानामि' इस प्रतीति का अहंकार की अभिव्यञ्जकता से उपपादन करने का प्रयास करते हैं। किन्तु, जब तक वास्तविक ज्ञेय ज्ञाता ज्ञान के भेद को स्वीकार नहीं करेंगे तब तक 'इदमहं जानामि' इस विवेकेन ज्ञेयं ज्ञाता ज्ञान की उल्लेखिनी प्रतीति का उपपादन कथञ्चिदपि नहीं कर सकते, क्योंकि कोई भी अभिव्यञ्जक किसी ज्ञेय की किसी ज्ञाता के प्रति ही अभिव्यक्ति कर सकता है स्वप्रक्रिया रटन मात्र असार है।"

इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि--"अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषः दर्शनाय चक्षुः" इत्यादि वाक्य निर्विशेष आत्मा के स्वाभाविक ज्ञातृत्व का प्रतिपादन नहीं कर रहे है। यह वाक्य तथा इसके सदृश अन्य वाक्य सविशेष आत्मा अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूप के कादाचित्क ज्ञातृता का प्रतिपादन करता है क्योंकि इस वाक्य में चक्षुर्विषयसंयोगोत्तरकालिक ज्ञातृता का प्रतिपादन है। और चक्षुरादि इन्द्रियों करणत्व रूपादिकों का ज्ञेयत्व शरीरेन्द्रियों से आत्मभेद यह सब व्यावहारिक सत्य हैं और व्यवहारदशा में विवर्तवादो को मान्य हैं, वास्तव में मिथ्या हैं। क्योंकि 'त्रय आवसथाः त्रयः स्वप्नाः' यह श्रुति जाग्रत् कालिक सर्वपदार्थों को स्वप्नसदृश कहती है। निर्विशेष आत्मा की ज्ञातृता 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति से विरुद्ध है।

द्वितीय आक्षेप का उत्तर है कि —"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तत्त्वमसि" इन श्रुतियों के तथा "संभवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्याय्यम्" इस न्याय के अनुरोध से 'द्रष्टुर्दृष्टेः' यह षष्ठीद्वय समानाधिकरण है। अतः यह श्रुति द्रष्टा के अविनाशित्व से दृष्टि के अविनाश को नहीं कहती है। और न अग्नि के औष्ण्य के समान दृष्टि को द्रष्टा के स्वाभाविकधर्मत्व को भी सिद्ध नहीं करती है।

तृतीय आक्षेप का उत्तर है कि—पूर्वोदाहृत सूत्रद्वय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप सविशेष आत्मा के वृत्तिज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व का प्रतिपादन करता है निर्विशेष आत्मा तो पूर्वोक्त श्रुत्यनुरोध से ज्ञानस्वरूप है।

तृतीय आक्षेप का जो उत्तर है वही चतुर्थ आक्षेप का उत्तर है।

पञ्चम आक्षेप का भी वही उत्तर है।

षष्ठ आक्षेप का उत्तर है कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से निर्विशेष आत्मा चितिमात्र स्वरूप ही है, वह कथञ्चिदपि ज्ञानवान् नहीं है ज्ञातृता तो पूर्वोक्त रीति से सविशेष आत्मा में है। अतः विवर्तवादियों का पक्ष श्रुति-स्मृति-सूत्रविरुद्ध नहीं है।

सप्तम प्रश्न का उत्तर है—कि विवर्तवाद में प्रक्रियाभेद रुचि-भेद और अधिकारीभेद से उपेय प्रतिपत्यर्थं कल्पित है। उसको परस्पर की तलातली नहीं कह सकते। क्योंकि श्रीशङ्करभगवत्पाद ने उपनिषद्भाष्य में लिखा है—

विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भवकारणम् ।
तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित् ॥

विवर्तवादियों का तर्क भी अप्रतिष्ठित नहीं है वह श्रुतिमूलक होने से प्रतिष्ठित है । 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठः' इस श्रुति को विवर्तवादी मानते हैं । विवर्तवादी श्रुति-स्मृति-सूत्रों का न्यक्कार नहीं करते । विवर्तवादी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद को व्यावहारिक सत्य मानते हैं पारमार्थिक सत्य नहीं मानते । क्योंकि ऐसा मानने पर 'त्रय आवसथाः त्रयः स्वप्नाः' इस श्रुति का विरोध होगा । विवर्तवादियों का स्वप्रक्रियारटन असार नहीं है क्योंकि यह प्रक्रिया व्यास परम्परा प्राप्त है । क्योंकि व्यास के पुत्र तथा शिष्य शुकदेव उनके शिष्य गौडपाद उनके शिष्य गोविन्दपाद तथा उनके शिष्य श्रीशङ्करभगवत्पाद हैं ।

गौडपादीय कारिकाओं में विवर्तवादियों की प्रक्रिया का अति स्पष्ट समर्थन है । "उत्पत्ति ही अभिव्यक्ति मानें तो भी कोई दोष नहीं । यद्यपि संवित् स्वतः सिद्ध है तथापि वृत्यवच्छिन्नरूप से उसकी उत्पत्ति मान्य है" इस श्रीकरपात्री जी की उक्ति के खण्डन के लिए श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि––

"यह सब साररहित यत् किंचित् प्रलापमात्र है सविशेषण में विधिनिषेध विशेष्य में बाध होने पर विशेषण मात्र पर्यवसायी होते हैं, वृत्यवच्छिन्न चैतन्य की उत्पत्ति कथन का तात्पर्य हुआ आवृत्त्युत्पत्ति । वृत्ति की उत्पत्ति से असङ्ग चिति की उत्पत्तिरूपा-अभिव्यक्ति कैसे हुई ।"

इसका उत्तर है कि—श्रीकरपात्रीजी महाराज––"वृत्यवच्छिन्नरूप से उसकी उत्पत्ति मान्य है यह लिख रहे हैं उसकी उत्पत्ति है यह नहीं लिखते हैं । उत्पत्ति की मान्यता व्यवहारतः उपपन्न हो सकती है वस्तुतः नहीं ।

२४९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रकाशन भी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है, सामान्याकारेण भासमान संविद् अहंकार के सम्बन्ध से विशेषाकारेण भासमान होती है अहंकार के सम्बन्ध से साभास अहंकाररूप से संविद् भासने लगती है" यह कथन निस्सार है । स्वगतभेदशून्यप्रकाशमात्र संविद् के सामान्याकार और विशेषाकार गगन के अरविन्द के तुल्य है । संविद् का विशेषाकारेण भासना गगन के अरविन्दवत्त्वेन भासने के समान है । अहंकार

में संविद् के प्रति विम्व का निरसन विवर्तवादियों के भाष्यकार ने ही—"'अम्बुवद-ग्रहणात् तु' 'वृद्धिह्रासभाक्त्वम्'' इन सूत्रों के भाष्यों में सुसम्यक् किया है, अतः साभास अहंकाररूपसे यह कथन सर्वथा अर्थहीन है।"

इसका उत्तर है कि—स्वगतभेदशून्य प्रकाशमात्र संविद् के सामान्यकार और विशेषाकार दोनों अज्ञानकल्पित होने से अनिर्वाच्य हैं, गगनारविन्दतुल्य अत्यन्तासत् नहीं है। अत एव संविद् का विशेषाकारेण भासना गगन के अरविन्दवत्त्वेन भासने के समान नहीं है। तदुक्तम्—

अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥

विवर्तवादियों के मत में अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद दोनों प्रसिद्ध हैं, अतः प्रतिविम्ववादावलम्बन से श्रीकरपात्रीजी की साभास अहंकाररूप से यह उक्ति सार्थक है अर्थहीन नहीं।

२४६ तथा २५० पृष्ठों में श्रीत्रिदण्डीजी लिखते हैं कि—"आत्मदर्शनसाधन चित्त की एकाग्रता सम्पादन द्वारा साभास अहंकार रूप प्रमाता अनुभव साधन का अनुग्राहक होता है"। इत्यादि भी प्रलापमात्र हैं।

(१) चिति तन्मात्रवादी विवर्तवादी के मत में आत्मा दर्शन का कर्म नहीं हो सकता।

(२) कोई आत्मप्राप्तिकाम मुमुक्षुद्रष्टा नहीं बन सकता।

(३) अत एव इतर दर्शन साधन भी नहीं बन सकते।

(४) अत एव दर्शन साधनानुग्राहकतारूपा अभिव्यक्ति केनापि प्रकारेण नहीं बन सकती।

(५) वास्तव में विवर्तवादियों के मुख्य पक्ष में अनादिकाल से अद्यावधि कोई भी ब्रह्मविद् ही नहीं हुआ। मुक्त कहाँ से होगा।

(६) ज्ञानी अज्ञानी बद्ध मुक्त के प्रतिपादक श्रुतियाँ झूठी हैं इस अर्थ को इष्टसिद्धिकार विवरणकार प्रतिवन्दि उत्तर से सुदृढ़ कैसे करते हैं, यह पूर्व में कह आये हैं।

(७) आगे भी जब तक संसार रहेगा तब तक कोई मुक्त नहीं होगा। अतः ज्ञानकरणानुग्राहकत्वरूपाभिव्यञ्जकत्व का कथन केवल ऋजु मुमुक्षुओं के आवर्जनार्थ है।

(८) विवर्तवादियों के असङ्ग चिति तन्मात्ररूप आत्मा में अज्ञानादि किसी प्रकार का भी विकार त्रिकाल में असंगत है। वृत्तिविशेषरूप भ्रम भी तादृग् आत्मा में असंभव है, अतः मिथ्या प्रक्रियाजाल से अहंकार में चिदभिव्यञ्जकत्व का उपपादन कथञ्चिदपि नहीं किया जा सकता।"

इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर यह है कि—चितितन्मात्रवादी विवर्तवादी के मत में निर्विशेषआत्मादर्शन का कर्म नहीं हो सकता, सविशेषआत्मा तो दर्शका कर्म हो सकता है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—कोई भी आत्मप्राप्तिकाममुमुक्षु अन्तःकरण-वृत्तिरूप दृष्टि से द्रष्टा बन सकता है, क्योंकि विवर्तवाद में अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्य जीव है और वही मुमुक्षु है क्योंकि मुमुक्षा अन्तःकरण में ही बन सकती है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—जब पूर्वोक्तरीति से आत्मप्राप्तिकाममुमुक्षु वृत्तिरूपदृष्टि से द्रष्टा बन सकता है तब इतर दर्शन साधन भी बन सकते हैं।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि—अत एव दर्शनसाधनानुग्राहकतारूपा अभिव्यक्ति भी बन सकती है।

पाँचवें आक्षेप का उत्तर है कि—विवर्तवादियों के मुख्य पक्ष एकजीववाद में अनादिकाल से अद्यावधि बहुत से ब्रह्मविद् हुए उनकी ईश्वर भावापत्तिरूप मुक्ति 'सिद्धान्तलेश' में लिखी है।

छठें आक्षेप का उत्तर है कि—ज्ञानी अज्ञानी बद्ध मुक्त के प्रतिपादक श्रुतियों का व्यावहारिक प्रामाण्य है, वस्तुतः ज्ञानी अज्ञानी बद्ध मुक्त इत्यादि भेद परमार्थ नहीं हैं।

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

यह श्रुति इसमें प्रमाण है। आत्मा वस्तुतः नित्यमुक्त है।

सातवें आक्षेप का उत्तर है कि—आगे भी जब तक संसार रहेगा तब तक बहुतों की ईश्वरभावापत्तिरूप मुक्ति एकजीववाद में होती रहेगी। अतः ज्ञान करणानुग्राहकत्वरूपाभिव्यञ्जकत्व का कथन तथ्य है।

आठवें आक्षेप का उत्तर है कि—माया-अविद्या-अव्यक्त-प्रकृत्यादपदवाच्य अज्ञान आत्मा की शक्ति है वह आत्मा से भिन्नत्वेन अभिन्नत्वेन भिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्याम् अनिर्वाच्य है। और वह आत्मा में अध्यास (भ्रम), और अध्यस्यमान विश्व की कल्पिका है। "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं। अज्ञान आत्मा का विकार नहीं है। अतः विवर्तवादियों की प्रक्रिया से अहंकार में चिदभिव्यञ्जकत्व का उपपादन किया जा सकता है।

२५० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अतीन्द्रिय होने पर भी आत्मा मनो वेद्य है" यह कथन रामसमात्र है।

(१) आत्मा मनोवेद्य यदि है तो विवर्तवाद में वेत्ता कौन है ?

(२) स्वोक्त कर्म और कर्ता की एकता में दूषण को भूलना नहीं चाहिए।

(३) वेदनकर्तृत्वादि विकृतिशून्य आत्मा वेत्ता कैसे हो सकता है।

(४) करणत्वेन कथ्यमान मन को भी वेत्ता नहीं कह सकता।

(५) 'एकाग्रचित्त आत्मदर्शन का साधन है' इत्यादि कथन प्रलापमात्र है।

ये कथन वक्ता को "नन्वेवं तुरगारूढो तुरगं विस्मृतो भवान्" इस लोकोक्ति का निदर्शन बनाते हैं।"

इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि—विवर्तवाद में अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूप आत्मा वेत्ता है और वृत्युपहित चैतन्यरूप आत्मा मनोवेद्य है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—पूर्वोक्त रीति से वेद्य और वेदिता का ऐक्य नहीं है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—वेदनकर्तृत्वादि विकृति शून्य आत्मा वेत्ता नहीं है किन्तु अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप आत्मा वेत्ता है।

चौथा आक्षेप अङ्गीकृत है।

पाँचवे आक्षेप का समाधान है कि—"दृश्यते त्वग्रयया वुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं।

२५१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—

(१) "विवर्तवादियों के मत में 'अहं जानामि' यह सर्वलोकवेदसाक्षिक प्रतीति अनुपपन्न है, वादियों के इस आक्षेप के समाधानार्थ विवर्तवादियों ने

अहंकार के अभिव्यञ्जकत्व की कल्पना से उक्ताक्षेप के समाधान की आशा की। प्रकृत अभिव्यञ्जकत्व उक्ताक्षेप के समाधान से कोई संबन्ध नहीं रखता।

(२) घट में जल लाकर भगवान् की पूजा की जाती है, पीताम्बर आदि वस्त्र, नूपुरादिभूषण, पायसादि नैवेद्य भगवदर्पणद्वारा दुरितक्षय के हेतु होकर आत्मदर्शन के साधन हैं। अतः अहंकार की अभिव्यञ्जकता में और घटपटादि की अभिव्यञ्जकता में कोई भेद सिद्ध नहीं होता। तब घटपटादि को छोड़कर अहंकार को अभिव्यञ्जक कहना तथा अहंकार की अभिव्यञ्जकता से 'अहं जानामि' इस प्रतीति का उपपादन करना स्वमतव्यामोहापस्मारमात्र कृत है।''

इन आक्षेपों में प्रथम आक्षेप का समाधान है कि— 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से यह मानना होगा कि जोवचैतन्य तथा जीवसाक्षिचैतन्य अविद्या से आवृत है। और विषयावच्छिन्नचैतन्य भी अविद्या से आवृत है। अतः विषय का सदा भान नहीं होता वृत्तिरूप ज्ञान अज्ञान (अविद्या) का विरोधी है। 'अयं घटः' यह ज्ञान वृत्तिरूप है और 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान स्वप्रकाश साक्षिरूप हैं। यह मानने से अनवस्थादि दोष नहीं होता। घटाकारवृत्ति से घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरक अविद्या की निवृत्ति होती है तब अनावृत घटावच्छिन्नचैतन्य से घट का भान होता है। अहमाकारवृत्तिरूप अहंकार से अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप जोव साक्षी के आवरक अविद्या की निवृत्ति होती है। अतः अनावृतजीव साक्षिचैतन्य से अन्तःकरण तथा तद्धर्मघटाद्याकारवृत्ति तथा अहमाकारवृत्ति सबका भान होता है। 'अहं जानामि' इस प्रतीति से अहमाकारवृत्तिमदन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञाता में अहमाकारवृत्याश्रयत्व तथा घटाद्याकारवृत्ति रूप ज्ञानाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व सिद्ध होता है। यह प्रतीति साक्षिचैतन्यरूप है और इसकी अभिव्यञ्जिका अहमाकारावृत्ति है जिसके आश्रय अन्तःकरण को अहंकार कहते हैं। यहां पर साक्षिचेतन्य के आवरक अविद्या की निवृति ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार प्रकृत अभिव्यञ्जकत्व उक्ताक्षेप के समाधान से अत्यन्त संबन्ध रखता है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—घटपटादि भगवदर्पण परम्परा से चित्तशुद्धि द्वारा आत्मविषयक मनोवृत्ति विशेषरूप आत्मदर्शन का साधन है, किन्तु आत्म-

चैतन्यावरक अविद्या की निवृत्तिरूप अभिव्यक्ति के प्रति तो साक्षात् साधन अहमाकारवृत्ति ही है, यही घटपटादि तथा अहंकार की अभिव्यञ्जकता में भेद है।

२५१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ज्ञाता रूप अहंकार के द्वारा वृत्तिज्ञान उत्पन्न किया जाता है" इत्यादि उक्तियां अनर्गल हैं।

(१) अचिद्विशेष अहंकार यदि ज्ञातृत्वेन इष्ट है तब चार्वाकमत विशेष इष्ट है। अचेतन में ज्ञातृत्व की असंभावना को सिद्ध करते हुए ही संपूर्ण आस्तिक चार्वाक निरसन करते हैं। अहंकार को ज्ञाता मान लेने पर चार्वाकमत ही सिद्ध हो जाता है।

(२) यदि ज्ञातारूप अहंकार के द्वारा वृत्तिज्ञान उत्पन्न किया जाता है तो वृत्तिज्ञान का द्वारी कर्ता कौन है?

(३) प्रधान को जगत्कारण मानने वाले सांख्य का 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों से अचेतन में ज्ञानकर्तृत्व की असंभावना है। अतः ज्ञानकर्तृत्व समर्थ ब्रह्म ही जगत्कारण है, जडप्रधान नहीं इत्यादि युक्तियों से निरसन करते हुए भगवान् ब्रह्मसूत्रकार विवर्तवादियों के मत का सुतरां निरसन करते हैं।"

इनमें प्रथम आक्षेप का समाधान है कि—चार्वाक देह को आत्मा तथा ज्ञानगुण का आश्रय मानता है। विवर्तवादी चिदाभासवदहंकार को वृत्तिरूप ज्ञानाश्रय होने से ज्ञाता मानता है आत्मा नहीं: आत्मा तो निर्विशेषचैतन्यरूप है। अहंकार चिदाभासवत् होने से चेतनसदृश है, जड नहीं। अतः चेतनाविसदृश अचेतन में ज्ञातृत्व की असंभावना उचित ही है।

दूसरे आक्षेप का समाधान है कि—अहमाकारवृत्तिमदन्तःकरणोपहितचैतन्यजीव साक्षी है, उसमें अनावृत संनिधानमात्र से घटाद्याकारवृत्तिज्ञानकर्तृता आरोपित है, क्योंकि जीव साक्षी निर्धर्मक निर्विशेष है। संनिधानमात्र से आकर्षण कर्तृता अयस्कान्त में प्रसिद्ध है। अहमाकारवृत्तिमदन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य में घटाद्याकारवृत्ति ज्ञानकर्तृता है, अतः अहमाकारवृत्तिमदन्तःकरणरूप प्रकृत अहंकार विशेषणतया ज्ञाता है। अतः उसके द्वारा घटाद्याकार वृत्तिज्ञान साक्षी-चेतन्य से उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार जीव साक्षी प्रकृत में द्वारी कर्ता अभिप्रेत है।

तीसरे आक्षेप का समाधान है कि—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों से अचेतन में ज्ञानकर्तृत्व की असंभावना सत्य है, किन्तु मायावच्छिन्नचैतन्यरूप-ईश्वर विवर्तवाद में जगत्कारण है वह अचेतन नहीं है। "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इत्यादि वाक्य इस मत में प्रमाण हैं।

२५२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"वृत्ति में ज्ञान शब्द का प्रयोग 'ज्ञा' धात्वर्थ-करणत्वाभिप्रायक है, ज्ञाधात्वर्थत्वाभिप्रायक नहीं" "इस व्युत्पन्न विवर्तवादियों के कथन को भूलना नहीं चाहिए।"

इसका समाधान है कि—वृत्तिरूप ज्ञान ज्ञाधात्वर्थरूप अभिव्यक्त-नित्यज्ञान का तथा वृत्तिज्ञानान्तर का करण भी हो सकता है और साध्यस्वभाव होने से ज्ञाधात्वर्थ भी हो सकता है। आत्मरूप नित्यज्ञान सिद्धस्वभाव होने पर भी साध्यस्वभाव अभिव्यक्ति से उपरक्त होकर साध्यस्वभाव क्रियारूप ज्ञाधात्वर्थ हो सकता है। अतः वृत्ति में ज्ञान शब्द का प्रयोग कहीं पर 'ज्ञा' धात्वर्थकरणत्वाभिप्रायेण होता है। और कहीं पर ज्ञाधात्वर्थत्वाभिप्रायेण होता है।

आद्य का उदाहरण है—'धूमज्ञानेन वह्निं जानाति।' दूसरे का उदाहरण है —'चैत्रो घटं जनाति।'

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ये ज्ञान तथा अज्ञान कर्ता अहंकार के आश्रित रहते हैं" यह कथन चार्वाक रञ्जक मात्र है। सांप्रदायिक विवर्तवादियों का तो—

आश्रयत्व-विषयत्व-भागिनी निर्विभाग-चितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

जीवेश्वर विभागरहित अद्वितीय चिति ही अज्ञान का आश्रय और विषय है। जीवेश्वर विभागसत्ता का प्रयोजक अज्ञान है। अज्ञानप्रयोज्य सत्ताक-ब्रह्म विभक्त जीव अज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह कथन है"।

इसका समाधान है कि—जहाँ वृत्तिरूप ज्ञान रहता है वहीं पर उसका विरोधी अज्ञान भी रहता है। उक्त ज्ञान अहंकाररूप जीव में रहता है, अतः अज्ञान भी उसी में रहता है। हम पहले कह चुके हैं कि अद्वितीय ब्रह्म ही एक पदार्थ अद्वैतवादियों को मान्य है। वह प्रत्याख्याता के आत्मभूत होने से अप्रत्या-

ख्येय है। और सभी प्रक्रियायें उसी के प्रतिपत्ति के लिए रुचिभेद तथा अधिकारि-भेद से कल्पित हैं। किसी भी प्रक्रिया की परमार्थसत्यता अद्वैती नहीं मानता है। अतः जीवाश्रित तथा जगद्विषयक अज्ञान है इस वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्तानुसार श्रीकरपात्री जी की प्रकृत उक्ति उचित है।

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्मिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

इस वाक्य के अनुसार जीवेश्वरभेद अनादि है अतः जीव अज्ञान से पश्चिम सिद्ध नहीं है इस प्रकार उक्त संक्षेपशारीरक के पद्य का वाचस्पति मतानुसारी खण्डन कर सकते हैं। खण्डन-युक्तियों को—'सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वम्' लगाने की संमति श्रीहर्षमिश्र खण्डन ग्रन्थ में लिख रहे हैं।

२५२ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते है कि—"संविद् ज्ञानस्वरूप ही है वह ज्ञान का आश्रय नहीं। फिर वह अज्ञान का आश्रय कैसे होगा" "यह उत्तर यहाँ कुछ भी नहीं है केवल अनापसनाप प्रलापमात्र है।"

इस आक्षेप का समाधान भी यही होगा कि—यह अयुक्तिक तथा अप्रमाण आक्षेप यहाँ कुछ भी नहीं है केवल अनाप-सनाप प्रलाप मात्र है।

२५२ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जो लिखते हैं कि—"अहंकाराश्रित ज्ञान से संविदाश्रित अज्ञान की निवृत्ति कैसे हो सकती है। लोक में चैत्राश्रित ज्ञान से मैत्राश्रित अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती।"

इस आक्षेप का भी उत्तर कुछ भी नहीं हुआ है, यहाँ आक्षेप्ता का जन्य अज्ञान के निवृत्यसंभव में तात्पर्य नहीं है, किन्तु निर्विभाग-चितिस्थ-अज्ञान के निवृत्य-संभव में तात्पर्य है, इसका उत्तर कुछ भी नहीं बन सकता, परीक्षक मुख्य आक्षेप का समुचित उत्तर न देकर यत्किंचित् लिखता हुआ परिहासास्पद होता है।"

इसका समाधान यह है कि—अद्वैतवाद में "अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुत्यनुरोधसे अहंकारावच्छिन्नचैतन्य और निर्विभागचैतन्य के अभेद साक्षात्कार रूप अहंकाराश्रितज्ञान अहंकाराश्रित-अहंकारावच्छिन्न चैतन्यविष-यक संस्काररूप तथा भ्रमरूप द्विविध जन्य अज्ञान को निवृत्त करके अहंकारा-वच्छिन्नचैतन्य तथा निर्विभागचैतन्य को अभिन्न होने से तदाश्रित तद्विषयक

अज्ञान को भी निवृत्त करता है। जैसा कि श्रुतियों में लिखा है—"भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः।"

यहाँ पर 'भूयः' पद का अर्थ है पुनः। अर्थात् अहंकरावच्छिन्नचैतन्यविषयक अहंकाराश्रित अज्ञान की निवृत्ति के बाद अन्त में विश्वमाया—विश्वजनिका-निर्विभागचितिस्था माया (अज्ञान) की निवृत्ति होती है। अतः श्रीत्रिदण्डी जी के मुख्य आक्षेप का उत्तर श्रीकरपात्री जी महाराज कर चुके हैं।

२५३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी लिखते हैं कि—

(१) "सूर्य और तम जैसें चित् एवं अज्ञान का विरोध है ही नहीं, क्योंकि चित् से अज्ञान का प्रकाश होता है। सुप्ति में पुरुष अज्ञान का अनुभव करता है। ज्ञान अज्ञान का विरोध होता है इस कथन में ज्ञान का अर्थ वृत्तिरूप ही है" ये सब कथन नितान्त निःसार है।"

(२) "चिति तन्मात्र आत्माको मानने वाले विवर्तवादी 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरि-लोपो विद्यते, सर्वं ह पश्यः पश्यति' इत्यादि श्रुतिसिद्ध आत्मा के ज्ञानादि गुणों के 'अद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से निराकरण का साहस करते हैं। और स्वप्रकाशमात्र आत्मा को कहते हुए आत्मा को अज्ञान-प्रकाशक अज्ञा-नाश्रय कहने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते। जब आगन्तुक किसी भी विशेष का अनाश्रय स्वप्रकाशमात्र आत्मा अभिमत है तब उसमें अज्ञानप्रकाशकत्व अज्ञाना-श्रयत्व कैसे बन सकते हैं।"

(३) "अनेक श्रुति-स्मृति तथा कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् इत्यादि सूत्रसिद्ध आत्मा के कर्तृत्व को मानने में कर्तृत्व का विक्रियात्मकत्व जब विवर्तवादियों को अरुचि को पैदा करता है तब सुप्ति में पुरुष का अज्ञानानुभव कर्तृत्व विवर्तवादियों के लिए कैसे रुचता है"

(४) "विद्या रूप आत्मा अविद्या का आश्रय नहीं बन सकता, इस अर्थ को ब्रह्मसिद्धि भामती प्रभृति गन्थों से भी सीखना चाहिए"।

इन आक्षेपों में प्रथम का उत्तर है कि— "ये सब कथन नितान्त निःसार हैं।"

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—'द्रष्टुर्दृष्टेः' यह समानाधिकरण षष्ठीद्वय है। 'संभवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्याय्यम्' यह न्याय है। 'सर्वं ह पश्यः

पश्यति' यहां पर आत्मा के ज्ञानस्वरूपत्व प्रतिपादक पूर्वोक्त श्रुतियों के अनुरोध से प्रत्ययार्थ अविवक्षित है। प्रत्ययोत्पत्ति पद साधुत्वार्थ है। अतः आत्मा निर्गुण है। 'साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। आत्मा का अज्ञान-प्रकाशकत्व अज्ञानविषयक प्रकाशरूपत्व है। आत्मा में अज्ञानाश्रयत्व अस्मदादि भ्रान्ति कल्पित है, वस्तुभूत नहीं। जैसा कि कहा गया है—

'अक्षमा भवतः केयं साधकत्व-प्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥'

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि — 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' यह सूत्र लोक-सिद्ध तथा उपाधिप्रयुक्त आत्मकर्तृत्व का अनुवादक है। सुषुप्ति में आत्मा का आज्ञानानुभवकर्तृत्व अज्ञानानुभवरूपत्व रूप अभिप्रेत है।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि विद्यारूप आत्मा में अविद्याश्रयत्व जीव भ्रान्ति-कल्पित हो सकता है।

२५४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—

(१) यह अनेक वार कह चुके हैं कि विवर्तवादियों के मतमें भी ज्ञाधात्वर्थ-रूप ज्ञान वृत्ति नहीं है किन्तु ज्ञाधात्वर्थ करणरूप ज्ञान ही वृत्ति पदार्थ है। ज्ञाधात्वर्थ करण चक्षुरादिक अज्ञानविरोधी नहीं है। किन्तु चक्षुरादि करणक ज्ञाधात्वर्थ ही अज्ञान का विरोधी है। अतः ज्ञाधात्वर्थ ज्ञानरूप आत्मा को मानने वालों के मत में आत्मा को अज्ञानप्रकाशक कहना तथा अज्ञानानुभवकर्ता कहना सर्वथा असंगत है।

(२) पूर्व कह आये है कि—विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में धर्मभूत-ज्ञान ही ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान है आत्मपरक ज्ञान पद स्वयंप्रकाशत्व गुणयोगसे निरूढलक्षणया प्रयुक्त होता है। केवल चैतन्य एवं केवल वृत्ति दोनों ही अज्ञानविशेषाधीन नहीं हैं किन्तु वृत्ति प्रतिफलित चैतन्य ही अज्ञानविरोधी होता है, अथवा साभास व वृत्तिज्ञान अज्ञान विरोधी है। यह कैसा अनोखा मत है।

(३) वृत्त्यादि सकलपदार्थ चैतन्य में अध्यस्त हैं। स्वाध्यस्त वृत्त्यादिकों में चैतन्य में प्रतिफलित होता है। प्रतिफलन शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। एक टकराकर वापिस होना, दूसरा प्रतिबिम्बित होना। यहां वक्ता का प्रतिबिम्बित

होना रूप अर्थ विवक्षित प्रतीत होता है। क्योंकि आगे दर्पण विशेष पर प्रतिफलित वही सूर्य तृणादि का दाहक होता है ऐसा लेख दीखता है। अध्यस्त से टक्कर खाकर अधिकतर वापिस हो इसको विवर्तवादी ही कह सकते हैं। प्रतिबिम्ब के विषय में पुराने दो मत पाये जाते हैं। 'दर्पणादिस्वच्छद्रव्यों से प्रतिहत नयन रश्मियों से गृह्यमाण विम्ब ही प्रतिबिम्ब शब्दवाच्य है' यह एक मत है, 'दर्पणादि स्वच्छद्रव्यों में कोई विलक्षण द्रव्य विम्बसादृश्य विशिष्टरूप से परिणत होते हैं वे प्रतिबिम्ब पद वाच्य होते हैं' यह दूसरा मत है। यह दूसरा मत ही आधुनिक यन्त्रों से मान्यतया निर्धारित है। वे प्रतिबिम्ब सत्य हैं। इतर भौतिक-पदार्थों के समान उनके स्वभाव तथा कार्य विलक्षण विलक्षण हैं। सूर्य-कान्तादिकों में उत्पन्न प्रतिबिम्ब दाहक हो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। विवर्तवादियों का अध्यस्त में अधिष्ठान का प्रतिबिम्ब मानना नीरूपमें नीरूपव्यापक का प्रतिबिम्ब मानना ये सब अत्यन्त अनुपपन्न हैं। अतः वृत्तिफलित चैतन्य का या साभास-वृत्तिज्ञान का अज्ञानविरोधित्व वन्ध्यासुत के शत्रुनिवर्हण के समान है"।

इन आक्षेपों में प्रथम का उत्तर है कि—लक्षणया ज्ञाधात्वर्थं ज्ञानवृत्ति है 'वेदान्तपरिभाषा' में लिखा है—"वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्"। ज्ञाधात्वर्थं करण रूप ज्ञान भी वृत्ति है। ज्ञाधात्वर्थं करण चक्षुरादि भी हैं। किन्तु वह अज्ञान के विरोधी नहीं हैं। केवल लक्षणया ज्ञाधात्वर्थवृत्तिरूप ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है। अतः ज्ञाधात्वर्थं ज्ञान रूप आत्मा को मानने वालों के मत में आत्मा को अज्ञानप्रकाशक (अज्ञानविषयक प्रकाशरूप) कहना तथा अज्ञानानुभव कर्ता (अज्ञान विषयक अनुभवरूप) कहना सर्वथा युक्ति संगत है। प्रकाश में प्रकाशकत्वव्यवहार तथा अनुभव में अनुभवकर्तृत्व व्यवहार आरोप मूलक है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—श्रुति में धर्मभूत ज्ञान में ज्ञान पद का शक्या तथा धर्मी आत्मा में स्वयं प्रकाशत्वगुण योग से लक्षणया प्रयोग प्रमाण-रहित होने से अयुक्त है। साभासवृत्तिज्ञान अज्ञान विरोधी अवश्य है। यह मत अत्यन्त प्रामाणिक है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—वृत्त्यादिसकल पदार्थ चैतन्य में अध्यस्त होने पर भी व्यवहारिक सत्य हैं। 'इदं रजतम्, रजतमिदम्' इत्यादि विभ्रम-

स्थल में अध्यस्त में अधिष्ठान का संसर्गाध्यास अथवा संसर्गप्रतियोगित्वोपहित-रूपेण स्वरूपाध्यास प्रसिद्ध है, परस्पर प्रतिबिम्बन का उदाहरण भी—

'तासु श्रिया राजपरम्परासु, प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः।
सहस्रधात्मा व्यरुचद् विभक्तः, पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युतेव॥'

इस इन्दुमती स्वयंवर रघुवंश के पद्य के व्याख्यावसर में श्रीमल्लिनाथ ने दिखाया है। विवर्तवाद में आभास का अर्थ प्रतिबिम्ब है। नीरूप व्यापक आत्मा का प्रतिबिम्ब— "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्" इत्यादि— "एकधा बहुधा वै दृश्यते जलचन्द्रवत्" इत्यादि "ज्यायान् दिवो ज्यायान् पृथिव्या" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से प्रसिद्ध है। विवर्तवाद में प्रतिबिम्ब घटपटादि के तरह व्यावहारिकसत्य पदार्थ है। यह आधुनिक यन्त्र तथा शास्त्रसिद्ध है। इसके लिए मदीय "चित्रनिबन्धावली" के 'प्रतिबिम्वतत्त्वसमीक्षा' निबन्ध को देखिये। नीरूप व्यापक के प्रतिबिम्ब का 'साभ्रनक्षत्रं गगनं प्रतिबिम्बितम्' यह अनुभव भो साधक है। इस प्रकार वृत्ति प्रतिफलित चैतन्य अथवा साभासवृत्ति ज्ञान का अज्ञान विरोधित्व युक्तियुक्त है।

२५५ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "वस्तुतः अज्ञानसंविद् में नहीं है, व्यवहारदृष्टि से जब तक व्यवहार है आत्मा में अज्ञान अनुभवसिद्ध है, जैसे उलूकदृष्टि से सूर्य में अनुभवसिद्ध अन्धकार है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।" आत्मा में अज्ञान किसके अनुभव से सिद्ध है, विवर्तवादियों का संप्रदाय तो निर्विशेष चिति को ही अज्ञान का आश्रय तथा विषय मानता है, अज्ञान का जो आश्रय है वही व्यवहार का भी द्रष्टा है, संपूर्ण अपुरुषार्थ तथा विकार अविद्या के ही विलास हैं, सविलास अविद्या का आश्रय निर्विभागचिति ही हैं, निर्विभागचिति व्यतिरिक्त जो भी कुछ है वह सब अविद्याविलसित ही है। अविद्याकार्य अविद्यात्मक ही है। विवर्तवादियों का अविद्याकार्यों में सत्कार्यवाद इष्ट है। अतः विवर्तवादियों के मत में कृत्स्न अपुरुषार्थों का तथा कृत्स्न विकारों का अन्वय निर्विभागचिति में ही है क्योंकि पूर्व सिद्ध तम का आश्रय पश्चिम हो नहीं सकता।"

(२) "जैसे उलूकदृष्टि से सूर्य में अनुभवसिद्ध अन्धकार है वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये" यह कथन सर्वथा स्वसंप्रदायाज्ञानमूलक है। दृष्टान्त में

भ्रमात्मक अज्ञान का आश्रय उलूक है और अन्धकारनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताख्यविषयताशाली सूर्य है। विवर्तवादियों के मत में तो उनकी निर्विभागचिति ही उलूकस्थानी तथा सूर्यस्थानी है। अतः कृत्स्न अविद्या का आश्रय उनकी चिति है।

(३) विवर्तवादियों के पक्ष में वास्तविक आश्रयाश्रयिभाव गगनकुसुमायमान है। अविद्या का यादृश आश्रय हो सकता है तादृश आश्रय निर्विभागचिति ही है।

(४) विवर्तवादियों के पक्ष में अध्यास अत्यन्त अनुपपन्न है, क्योंकि अध्यास वास्तविक ज्ञाता को ही होता है, उनके मत में वास्तविक ज्ञाता कोई है नहीं। यदि कल्पित ज्ञाता से अध्यास उत्पन्न हो सके, तो कल्पित अधिष्ठान से भी उपपन्न हो जायेगा तो उनकी निर्विभागचिति चितारूढ हो जायगी। शून्यवादी माध्यमिक ही विजयी होगा।"

इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि— निर्विभागचिति रूप आत्मा में माया रूप अज्ञान जीव चैतन्य के भ्रान्तिरूप अनुभव से सिद्ध है। विवर्तवादियों का संप्रदाय निर्विभागचिति को मायारूप अज्ञान का आश्रय तथा विषय मानता है, भ्रान्ति तथा संस्काररूप अज्ञान का आश्रय तथा विषय जीव चैतन्य है तथा निर्विभाग चिति भी विषय है। भ्रान्ति तथा संस्काररूप अज्ञान का जो आश्रय है वही व्यवहार का द्रष्टा है विवर्तवादियों का अविद्याकार्यों में कारणरूपेण सत्कार्यवाद इष्ट है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि— विवर्तवादियों के मत में उलूकस्थानीय जीव चैतन्य है क्योंकि वह भ्रान्तिमान् है। और सूर्यस्थानीय निर्विभागचिति है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि— अविद्या वस्तुभूत नहीं है किन्तु मिथ्या (अनिर्वाच्य) है। अतः उसका आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध भी कल्पित है। भ्रम तथा संस्काररूप अविद्या का आश्रय जीव चैतन्य है और मायारूप अविद्या का आश्रय निर्विभागचिति है।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि— विवर्तवादियों के मत में अध्यास व्यावहारिकसत्त्य ज्ञाता जीवचैतन्य को होता है।

२५७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अज्ञान स्वावच्छिन्न-चैतन्य के आश्रित ही होता है" यह कथन युक्तिहीन तथा पूर्वसिद्ध 'तमसो हि परिचमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः" इस स्वाचार्योक्ति की अवहेलना पूर्वक है।"

इसका उत्तर है कि भ्रम और संस्काररूप अज्ञान स्वावच्छिन्नजीव चैतन्य में आश्रित है और मायारूप--अज्ञान स्वावच्छिन्न ईश चैतन्य के आश्रित है। इस प्रकार यह कथन युक्तियुक्त तथा स्वाचार्योक्ति के अनुरूप है।

इसके आगे इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—विवर्तवादियों का पक्ष विप्रतिषिद्ध है, चिति को असङ्ग निर्विशेष अनाधेयातिशय मानते हैं। पुनः कृत्स्नसंगों को कृत्स्नविशेषों को तथा कृत्स्नअतिशयों को निर्विभाग-चिति में अध्यस्त मानते हैं। ज्ञाता ज्ञेय तदवच्छिन्नज्ञान को निर्विभागचिति में अध्यस्त मानते हैं। अध्यस्तों का आधार अधिष्ठान ही है। अधिकरण, आधार तथा अधिष्ठान ये पर्याय पद हैं। अतः कृत्स्नसंगों का कृत्स्नविशेषों का तथा कृत्स्नअतिशयों का अधार निर्विभागचिति ही हुई तब तादृश चिति को असङ्ग निर्विशेष अनाधेयातिशय कहना विप्रतिषिद्ध नहीं तो क्या है।"

इसका उत्तर है कि—जैसे आकाश नीरूप है और उसमें नीलरूप अध्यस्त है, उसी प्रकार चिति निर्विशेष निःसङ्ग निरतिशय है और कृत्स्नविशेष कृत्स्न-संग तथा कृत्स्न अतिशय उसमें अध्यस्त है। समसत्ताकभावाभाव का विरोध होता है चिति में विशेषाभावादि अधिकरणस्वरूप होने से परमार्थ हैं। और अध्यस्त विशेषादि व्यावहारिक हैं अतः विरोध नहीं है। जैसे—शुक्तिका में रजतत्व तदभाव का विरोध नहीं है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सिद्धान्त में संविद्ज्ञान का आश्रय नहीं होती यही कहा गया है। वृत्तिरूप ज्ञान की विषयता तो संविद्रूप आत्मा में मान्य ही है। अत एव संविद्विषया अखण्डाकारावृत्ति मान्य है। यथा—घटानाश्रित घटविषयक ज्ञान से घटाज्ञान की निवृत्ति है, उसी तरह संविद के अनाश्रित ज्ञान से भी संविद् के अज्ञान निवृत्ति हो सकती है" इत्यादि कथन मुग्धमोहन मात्र है। समानाश्रयविषयक ज्ञान समानाश्रयविषयक अज्ञान का विरोधी होने से उसका निवर्तक होता है, ऐसा ही लोकदृष्ट है। देवदत्ताश्रित-घटविषयकज्ञान से देवदत्ताश्रित घटाज्ञान की निवृत्ति देखी जाती है देवदत्ताश्रित घटज्ञान से देवदत्ताश्रित पटाज्ञान की निवृत्ति नहीं देखी जाती। एवं देवदत्ताश्रित घटज्ञान से यज्ञदत्ताश्रित घटाज्ञान की निवृत्ति नहीं देखी जाती।

'यदि संविद् ज्ञान का आश्रय नहीं होती है तब संविदाश्रित अज्ञान किसी ज्ञान से कभी नहीं निवृत्त होगा' यह कथन सर्वथा ठीक है। ठीक नहीं कहना ही ठीक नहीं है। 'अहमात्मानं जानामि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याद्यनुभव विवर्तवादियों के विरोधी विशिष्टाद्वैतिनन्दन हैं इसको पूर्व उपपादन कर आये हैं।"

इसका उत्तर है कि—समानाश्रयविषयकज्ञान समानाश्रयविषयक अज्ञान का निवर्तक होता है, इस नियम के मानने पर भी जीवाश्रित ज्ञान जीवाश्रितभ्रम संस्काररूपअज्ञान की निवृत्ति को करता हुआ जीवाभिन्नतया साक्षात्कृत ब्रह्म चैतन्यनिष्ठ अज्ञान की भी निवृत्ति करता है इस बात को मैं पूर्व में कह आया हूँ। "अहमात्मानं जानामि, अहं ब्रह्मास्मि" इत्याद्यनुभव अद्वैतियों के नन्दन हैं इसको भी मैंने युक्तिपुरस्सर पूर्व में कहा है।

२५८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जो लिखते हैं कि—'पूर्व कह आये हैं कि—प्रतिबिम्बवाद अवच्छिन्नवादादिकों कों अनुपपत्ति-शतग्रस्त होने से सब ही विवर्तवादियों को अन्ततोगत्वा एक जीववाद का ही आश्रयण करना पड़ता है। इस अर्थ को 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में देखना चाहिए। श्रीमधुसूदन-सरस्वती एक जीववाद पक्ष को ही विवर्तवादियों का मुख्य सिद्धान्त कहते हैं। अतः विवर्तवादियों के मत में अशक्योपपादन-बन्धमोक्ष-व्यवस्था का उपपादन मुग्धमुमुक्षुओं के मोहनार्थ है, इसको भी पूर्व सम्यक् कह आये हैं।'

इसका उत्तर है कि—रुचिभेद तथा अधिकारीभेद से अनेकजीववाद तथा एकजीववाद दोनों ही विवर्तवादियों को मान्य हैं, एक जीववाद में भी कार्य कारण संघातरूप उपाधि के भेद से बन्ध-व्यवस्था तथा ईश्वरभावापत्ति रूप से मोक्ष की व्यवस्था भी हो सकती है इन सभी अर्थों को 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में देखिये।

२५८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यह सर्वलोक सिद्ध है कि अकल्पित प्रमाता को अकल्पित अधिकरण में अकल्पितदोष से किसी प्रसिद्ध प्रमेय की कल्पना (अध्यास) होती है। कहीं भी अध्यस्त प्रमाता को अध्यास नहीं देखा गया। अध्यस्तदोष से भी अध्यास नहीं देखा गया। अध्यस्त अधिकरण में 'प्रकामम्' अध्यास देखा जाता है। जैसे—भामतीकार लिखते हैं—"मरुषु मरीचिचयमुच्चावचम् उच्चलत्तुङ्गतरङ्गभङ्गे यमभ्यर्ण-

मवतीर्णा मन्दाकिनी'' यहाँ अध्यस्त मन्दाकिनीरूप अधिकरण में तरङ्गों का अध्यास तथा अध्यस्त तरङ्गों में उच्चलत्व तुङ्गत्व धर्मों का अध्यास देखा गया। अध्यस्त प्रमाता को अध्यास कहीं नहीं देखा गया। तथा अध्यस्त दोष से अध्यास भी कहीं नहीं देखा गया। विवर्तवादियों की अध्यासाधिकरण-भूताच्चिति प्रमातृत्वादिधर्मशून्य है अतः उसको अध्यास हो ही नहीं सकता। तदतिरिक्त कृत्स्न अध्यास हैं अतः उनको भी अध्यास नहीं हो सकता। अध्यस्त दोष से भी अध्यस्त नहीं हो सकता। अतः विवर्तवादियों का चित्यधिकरणक अध्यास मानना, तथा कल्पितवृत्ति ज्ञान से उक्ताध्यास की निवृत्ति मानना अध्यास ही है :''

इसका उत्तर है कि--विवर्तवादियों के मत में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य-प्रमाता या ज्ञाता है, वस्तुतः प्रमातृत्व या ज्ञातृत्वविशेषणीभूतअन्तःकरण में है। अतः विशिष्ट में प्रमातृत्व या ज्ञातृत्व व्यवहार होता है। अन्तःकरण अध्यस्त होने पर भी मायाकार्य होने से व्यावहारिक-सत्त्य है विशेष्य चैतन्य तो परमार्थ-सत्य है दोष तथा अधिकरण भी इसी तरह व्यावहारिकसत्य हैं।

भामती-प्रदर्शित उदाहरण में व्यावहारिकसत्य मरीचिचय में उच्चलत्तुङ्ग-तरङ्ग-विशिष्टमन्दाकिनी का अध्यास है, अतः विवर्तवादियों का अन्तःकरणा-वच्छिन्न चित्यधिकरणक अध्यास मानना उचित है। वृत्तिरूप ज्ञान भी व्यावहा-रिकसत्य हैं। अतः उससे अध्यास की निवृत्ति मानना उचित है।

२५९ तथा २६० पृष्ठों में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि--''किसी वस्तु की यत्किञ्चिदधिकरणकतया प्रतीति में वस्तुगत तदधिकरणाभिव्यङ्ग्यत्व प्रयोजक नहीं है किन्तु तत्तदधिकरणकतया प्रतीति की नियतसामग्रियाँ हीं प्रयोजक हैं। वैदिकमत में तेजोद्रव्य अग्नि का आरुण्य स्वाभाविक अयुतसिद्धधर्म है। अतः तेजोद्रव्य दीपका 'अरुणो दीपः' इस प्रकार आरुण्यवत्तया प्रत्यय होता है। भ्रम-स्थल में भी पीतिमा के शंखाश्रितत्वेन 'पीतः शंखः' इत्याकारक प्रतीति में पीतिमा का शंखाभिव्यङ्ग्यत्व प्रयोजक नहीं है किन्तु शंख का नायन रश्मिगत पीत पित्त द्रव्य संसृष्टत्व प्रयोजक हैं। अतः अभिव्यञ्जक स्वाश्रयरूप से अभि-व्यङ्ग्य का अभिव्यञ्जक होता है यह कहना ठीक नहीं है।''

इसका उत्तर है कि---श्रीकरपात्री जी का यह कहना है कि "अभिव्यञ्जक स्वाश्रयरूप से अभिव्यङ्ग्य का अभिव्यञ्जक होता है" बहुत ठीक है। 'पीतः शंखः' यहां पर नयनरश्मिगत पित्तद्रव्य के प्रतिमा का अभिव्यञ्जकशङ्ख स्वाश्रय श्वेतरूप से अभिव्यङ्ग्य पीतिमा का अभिव्यञ्जक होता है। क्योंकि नयन रश्मिगतपित्तद्रव्य वृत्ति पीतिमा की अभिव्यक्ति पीत हरिद्रा गन्धक आदि द्रव्य में नहीं होती, श्वेत नील आदि द्रव्य में ही होती है। अतः वह द्रव्य तथा उनके रूप पित्तद्रव्य वर्तिनी पीतता के अभिव्यञ्जक हैं।"

श्रीकरपात्री जी के इस अभिप्राय को न समझ कर श्रीत्रिदण्डी जी का प्रकृत वाक्य खण्डन प्रयास अयुक्त है।

२६० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि---

(१) "विशिष्टाद्वैती आचार्यों का यथार्थख्यातिनिरूपण में संरम्भ है।"

(२) "विवर्तवादियों ने अपने ग्रन्थों में लिखा है कि चाक्षुषतेज दर्पणादिकों में लग्न होकर भी बलवत् सौर तेज से प्रतिस्रोत प्रवृत्त होकर मुखसंयुक्त होकर मुख का ज्ञान कराता है। जैसे भामतीकार ने कहा है---"विज्ञातृपुरुषाभिमुखेषु आदर्शोदकादिषु स्वच्छेषु चाक्षुषं तेजो लग्नमपि बलीयसा सौर्येण तेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्तितं मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयत् दोषवशात् तद्देशतामनभिमुखताञ्च मुखस्याग्राहयत् पूर्वंदृष्टाभिमुखादर्शोदकादिदेशतामाभिमुख्यञ्च मुखस्यारोपयतीति प्रतिबिम्बविभ्रमोऽपि लक्षितो भवति"।

"प्रतिबिम्बस्थल में विवर्तवादियों से कथित प्रक्रिया का अवलम्बन करने पर भी यथार्थख्याति सिद्ध होती है। यही अस्मदाचार्यों का कथन है। दर्पणादिकों में कोई विलक्षण द्रव्यप्रतिबिम्बाकारेण परिणत होते हैं। यह आधुनिक यन्त्रों से सुनिर्धारित हो चुका है। वह दर्पण देश हो में है। अतः दर्पणदेश में दीखता है। यहाँ यथार्थख्याति ही है। ख्यात्यन्तरों का कोई प्रसङ्ग ही नहीं तथा दर्पणाभिव्यङ्ग्यत्वकृतदर्पणदेशस्थतया प्रतीति का कोई प्रसङ्ग नहीं।"

(३) चाक्षुषतेज चक्षु से नहीं गृहीत हो सकता इत्यादिक लालबुझक्कड़ोक्तियाँ उपेक्षणीय हैं।"

(४) "गगन प्रतिबिम्ब का निराकरण सिद्धान्तलेशादि ग्रन्थों से जानना चाहिए।"

इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि—विवर्तवादी आचार्यों का अनिर्वचनीयख्याति निरूपण मे सरम्भ है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—यदि दर्पणादि से प्रतिहत होकर, प्रवृत्त चक्षु से बिम्बमुख का ही ग्रहण माने प्रतिस्रोतः अथवा बिम्ब समसत्ताकप्रतिबिम्ब की उत्पत्ति माने तब भी प्रतिबिम्ब में संनिहित दर्पणादिनिष्ठ आभिमुख्य को अन्यथाख्याति तो माननी ही पड़ेगी। विवर्तवादी भी आरोप्य संनिधानस्थल में अन्यथाख्याति ही मानते हैं बिम्बग्रहणपक्ष में दर्पणदेशस्थत्व विषयकविभ्रमाभ्युपगम भी अनिवार्य ही है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—चक्षुरिन्द्रिय तैजस तथा अतीन्द्रिय है उसका तेज चक्षु से नहीं गृहीत हो सकता। अतः यह कथन लालवुझक्कड़ोक्ति नहीं है।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि—साभ्रनक्षत्र-गगन के प्रतिबिम्ब का समर्थन 'वेदान्तपरिभाषा' तथा उसकी टीका 'शिखामणि' आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए। 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' यह सूत्र तथा "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" इत्यादि श्रुतियाँ चित्प्रतिबिम्बपरक हैं, यह विवर्तवादियों के कूटस्थ के भाष्य से भी निर्धारित कर सकते हैं।

२६१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—

(१) कहा जाता है—भले ही आलोकादि सहकृतदर्पण में ही मुखादि का प्रतिफलन माना जाय तथापि दर्पणमुखादि का व्यञ्जक नहीं हो सकता।"

परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि—जैसे रज्जु सर्प आदि प्रातिभासिक पदार्थों की अज्ञातसत्ता नहीं होती, इसी तरह प्रतिबिम्ब की भी अज्ञातसत्ता नहीं हो सकती, इत्यादि कथन निःसार है।

पूर्व कह आये हैं कि—दर्पणादि स्वच्छद्रव्यों में विलक्षण कोई द्रव्य मुखादि प्रतिबिम्बाकारेण परिणत होते हैं यह आधुनिक यन्त्रों से सुनिर्धारित हो चुका है, अतः प्रतिबिम्ब प्रातिभासिक नहीं है किन्तु सत्य है। उसका घटादिकों के समान चाक्षुषसामग्री से प्रत्यक्ष होता है। बिम्ब के अभिमुख दर्पणादिकों में उत्पन्न प्रतिबिम्ब के अपगम होने पर नष्ट हो जाता है, द्रव्य विशेषों के योग से

स्थिर भी हो जाता है, यह आधुनिक यन्त्रों से सुसिद्ध हो चुका है। अतः प्रतिबिम्ब के प्रातिभासिकत्व निबन्धन कथन प्रलापमात्र है।

(२) अहंकार का चैतन्य प्रतिबिम्बग्राहकत्व कथन जरद्गवादि वाक्य के समान निरर्थक है"।

इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि—प्रतिबिम्ब प्रातिभासिक हो अथवा घटादि के समान व्यावहारिकसत्य हो उभय पक्ष में उसकी अज्ञातसत्ता नहीं हो सकती, यही श्रीकरपात्री जी का अभिप्राय है उन्होंने प्रकृत वाक्य में प्रतिबिम्ब को प्रातिभासिक नहीं लिखा है, अतः आपका यह अनुक्तोपालम्भ है व्यावहारिकसत्यवस्तु भी कोई-कोई अज्ञात सत्ताक नहीं होते जैसे सुख-दुःख इच्छा वृत्ति ज्ञान आदि। दर्पणादि में मुखादिप्रतिबिम्ब की अज्ञातसत्ता युक्ति तथा अनुभव के विरुद्ध है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—अहंकार का चैतन्य प्रतिबिम्बग्राहकत्व-उपमा सूर्यकादिवत्, 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्' इत्यादि श्रुति सूत्र सिद्ध है।

२८२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"कहा जाता है अहंकार ज्ञान एवं तत्साधनज्ञान का अनुग्रहण है इत्यादि प्रलाप उपेक्षणीय है।"

इसका समाधान है कि—यह आक्षेप युक्ति तथा प्रमाण से रहित होने के कारण अश्रद्धेय है।

इसके आगे इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "साभास अहंकार को अनुभूति का अभिव्यञ्जक होता है और अभिव्यङ्ग्य अनुभूति बिम्बभूत हो है" इत्यादि कथन सारहीन है, अध्यस्तरूप हीन अहंकार में अध्यासाधिष्ठान रूपहीन व्यापकसंविद् का प्रतिबिम्ब सर्वथा अनुपपन्न है। अतः संविद् का बिम्बभाव भी अनुपपन्न है। बिम्बभावापन्न संविद् में वेद्यता भी कल्पित होती है" इत्यादि कथन भी निःसार है।"

"पूर्व कह आये हैं कि कल्पना कर्ता अकल्पित हुआ करता है। अकल्पित संविद् में कल्पना कर्तृत्वादि अनिष्ट हैं। संविद् से इतर सब कल्पित हैं अतः विवर्तवादियों के पक्ष में कल्पना अनुपपन्न है।"

इसका समाधान है कि—अहंकार अध्यस्त होने पर भी व्यावहारिक सत्य है अतः उसमें संविद् का प्रतिबिम्ब सर्वथा उपपन्न है। विवर्तवाद में अहंकार अन्तःकरण का परिणाम विशेष है अन्तःकरण पञ्चतन्मात्राओं के सात्विकांशों से उत्पन्न हुआ है अतः रूप हीन नहीं है। रूप हीन जपाकुसुम लौहित्य का प्रतिबिम्ब 'लोहितः स्फटिकः' इत्यादि स्थल में दृष्ट है। अव्यापक जलाशय में व्यापक गगन का प्रतिबिम्ब वेदान्तपरिभाषादि में समर्थित है। आधेय में आधार का प्रतिबिम्ब मूर्धमाण में मूर्धप्रतिबिम्बरूप दृष्टान्त से सिद्ध है। अहंकार में संवित्-प्रतिबिम्ब के उपपन्न होने से संविद् का बिम्बभाव भी उपपन्न है। बिम्बभावापन्न संविद् जैसे कल्पित है उसी तरह उसमें वेद्यता भी कल्पित होती है। विवर्तवाद में कल्पना कर्ता व्यावहारिकसत्य हुआ करता है, विवर्तवाद में अविद्योपहित कल्पित संविद् में कल्पना कर्तृत्व इष्ट है संविद् से इतर ज्ञाता, दोष, अधिष्ठान आदि सब घटादि के समान व्यावहारिक सत्य हैं अतः विवर्तवादियों के पक्ष में कल्पना उपपन्न है।

२६२–२६३–२६४ पृष्ठों में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"बड़े हर्ष की बात है कि विवर्तवादी भी 'शास्त्रैकसमधिगम्य विषय में तर्क का कोई महत्त्व भी नहीं' ऐसा कहें, उनको समझना चाहिए कि शास्त्र परमात्मा को—

"तदैक्षत बहुस्याम्, सोऽकामयत, यतो वा इमानि, यः सर्वज्ञः, पतिं पतीनां परमम्, पराऽस्य शक्तिः" इत्यादि सहस्रों वाक्यों में अखिल-जगज्जन्मादि-कारणत्व तदुपयोगी सार्वज्ञ्यादि गुणों को स्वाभाविक बताते हैं। गुणनिषेधक वाक्य उत्सर्गापवादन्याय से विहित कल्याण गुणेतर हेयगुण निषेधपरत्वेन चरितार्थ हो ही जाते हैं, अतः आस्तिक्य का अवलम्बन कर अखिल हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान ही परमात्मा को मानना चाहिए। जीवात्मा को भी—

"द्वा सुपर्णा, समाने वृक्षे, गुणान्वयोः फलकर्मकर्ता, विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्, स एष संप्रसादः, न पश्यो मृत्युं पश्यति, स स्वराड् भवति" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अनादि कर्मबन्ध से संसारिक-तापत्रय-तातप्यमान रूप से तथा परमेश्वरानुग्रह से निखिलतापनिर्मुक्त होकर अपहतपाप्मत्वादि सत्यकामत्वादि स्वाभाविक रूप से अभिनिष्पन्न होकर आनन्दवल्ली में शतगुणितोत्तरत्वेनाभ्यस्यमानानन्द-

विशिष्ट ब्रह्म के साथ ब्रह्म के संपूर्ण कल्याणगुणों का अनुभव करता है इस रूप से मानना ही शास्त्रनिष्ठत्व का फल है, तत्त्वनिर्णय में भगवच्छंकर-प्रभृति विद्वन्मूर्धन्य समादृत उपनिषदादिकों का ही समाश्रयण समुचित है, उन लोगों से उपेक्षित अध्यात्मरामायणादि का प्रमाणत्वेनोपनयन समुचित नहीं है।''

इसका समाधान यह है कि—'साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि शास्त्र आत्मा को निर्गुण बताते हैं। हेयगुणनिषेधपरत्वरूप श्रुतिसंकोच में कोई प्रमाण नहीं है। लक्षणा जघन्यवृत्ति है। अत: पूर्वोदाहृत शास्त्रबल से अखिलजगज्जन्मादि-कारणत्व तथा तदुपयोगी सर्वज्ञत्वादि गुण भगवान् के स्वाभाविक नहीं हैं किन्तु, अध्यारोपित हैं। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। पूर्वोदाहृत श्रुतियों में भगवान् के पूर्वोक्तगुणों के स्वाभाविकत्व बोधक कोई पद नहीं हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा का ऐक्य—'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि श्रुतिसिद्ध है, तब परमात्मा की तरह जीवात्मा भी वस्तुतः निर्गुण निर्विकार तापत्रयविनिर्मुक्त तथा कर्मबन्धनरहित स्वप्रकाशानन्दस्वरूप है। लिखा भी है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥'

इस रूप से मानना ही शास्त्रनिष्ठत्व का फल है। जीवात्मविषयक पूर्वोक्त सकल वचन जीव में अध्यारोपित व्यावहारिक गुण तथा धर्मपरक हैं। अन्यथा जीवब्रह्मैक्य-प्रतिपादक पूर्वोक्त श्रुतिविरोध होगा। यह सब हमने उपनिषदों के अवलम्बन से लिखा है। अध्यात्मरामायणादि भी श्रुत्यर्थानुकूल होने से उपेक्ष-णीय नहीं हैं।

२६४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "अथवा सर्वव्यापी होने से चित् की अहंकार में स्थिति तो निर्विवाद ही है" इत्यादि कथन स्वसिद्धान्तानालोचन मूलक है। व्याप्यव्यापकभाव-समानसत्ताक दो पदार्थों में ही हुआ करता है जैसे घट पटादिकों में गगनादिकों की व्याप्ति, तिलादिकों में तैलादिक की व्याप्ति, पयः प्रभृतियों में सर्पिः प्रभृति

की व्याप्ति। विवर्तवादियों के पक्ष में चित् में अहंकारादिक अध्यस्त हैं, अध्यस्त और अधिष्ठान की समानसत्ता अभिमत नहीं है, अतः सर्वाध्यासाधिष्ठानत्व के अतिरिक्त चित् सर्वव्यापित्व विवर्तवादियों को दुर्वच है। अतः अहंकारस्था संविद् इत्यादि कथन अर्थ हीन है। विशिष्टाद्वैतियों को देह और जीव दोनों का कालसंबन्धित्व रूप था प्रमाविषयत्वरूप सत्त्व समान भावसे मान्य है।

(२) विवर्तवादियों को विषयविषयियों के अन्योऽन्य में अन्योऽन्यात्मकताऽध्यास का तथा अन्योऽन्यधर्माध्यास का कर्ता दुर्लभ है। अतः अध्यास अनुपपन्न है यह कह आये हैं। अन्योऽन्यात्मकताऽध्यास सहित अन्योऽन्यधर्माध्यास अध्यस्तों के भेद का तिरोधायक होता है, अतः चित् और अहंकारों म अन्योऽन्यात्मकताध्यास सहित अन्योऽन्यधर्माध्यास अन्योऽन्य के भेद का तिरोधायक ही होगा। अतः 'वह अहंकार अपने में अध्यस्त आत्मा की अभिव्यक्ति करता है' यह कथन निरर्थक है।"

इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि—चित् का सर्वव्यापित्व सर्वतादात्म्यवत्त्व रूप सर्वसंबन्धित्व है, चित् और अहंकार का व्याप्यव्यापकभाव यहाँ पर विवक्षित नहीं है। घट पटादिकों में गगनादिकों की व्याप्ति भी संयोगात्मक संबन्ध रूप ही है। ऐसे ही तिल-तैल पयः सर्पिरादि में भी समझना चाहिए। अतः अहंकारस्था संविद् इत्यादि कथन अर्थहीन नहीं हैं। अध्यस्त और अधिष्ठान का संबन्ध समानसत्तासापेक्ष नहीं है। विवर्तवादियों के मत में विषयविषयियों के अन्योऽन्य में अन्योऽन्यात्मकताध्यास का तथा अन्योऽन्यधर्माध्यास का कर्ता व्यावहारिक सत्य जीव है। अतः अध्यास उपपन्न है।

यद्यपि चित् और अहंकार का परस्पराध्यास तथा परस्परधर्माध्यास अन्योऽन्य के भेद का तिरोधायक है तथापि "वह अहंकार अपने में अध्यस्त आत्मा की अभिव्यक्ति करता है" यह कथन परीक्षकदृष्टि से है अतः निरर्थक नहीं है।

२६५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अथवा जैसे सर्वव्यापी गगन घटादि से अवच्छिन्न होता है उसी तरह सर्वव्यापिनी संविद् अन्तःकरण से अवच्छिन्न होती है। स्वच्छ होने से अन्तःकरण में संविद् भासती है, यही अन्तःकरण में संविद् की उपलभ्यमानता है, संविद् की अन्तःकरणव्यङ्ग्यता है"

इत्यादि कथन प्रयुक्तध्वान्त पूर्वकथनालोक से ध्वस्त है। अवच्छेद्यावच्छेदकभाव समानसत्ता वाले विभिन्न वस्तुओं में हुआ करते हैं, अध्यस्त और अधिकरणों में नहीं। स्वच्छ या अस्वच्छ अध्यस्त स्वरूप से अधिष्ठान का तिरोधायक होता है न कि भासक। अत: विवर्तवादियों को अहंकार में संविद् की उपलभ्यमानता का उपपादन तथा अहंकार के ज्ञातृत्व का उपपादन दुरुपपाद्य है, गीर्वाणगुरु को भी इसका उपपादन अशक्य है। अत: चार्वाकादि मुखभञ्जन प्रवृत्त श्रुत्युपपादित, सर्वलोकानुभवसिद्ध, वादिविप्रतिपत्तिनिरसनार्थं मुक्तस्वरूपावधारणप्रवृत्त श्रुति-समर्पित अहमर्थं आत्मा का स्वाभाविक ज्ञातृत्व ही नि:श्रेयसार्थियों से समादरणीय है।"

इन आक्षेपों का समाधान है कि जिस प्रकार अवच्छेद्यावच्छेदकभाव अनित्य घट तथा नित्य गगन का होता है, इसी प्रकार व्यावहारिक सत्य अहंकार और परमार्थ सती संविद् का भी उपपन्न हो सकता है। 'इदं रजतम्, रजतमिदम्' यहाँ पर प्रातिभासिक रजत भी विवर्तवाद में अधिष्ठान चैतन्य का अवच्छेदक अनुभवबलात् माना गया है इसके लिए 'अद्वैतसिद्धि' की 'लघुचन्द्रिका' देखिये। अध्यस्त अहंकार घटादि के समान व्यावहारिक सत्त्य है, अत: अधिकरण का अवच्छेदक अवश्य हो सकता है। स्वच्छ अध्यस्तस्वरूप से अधिष्ठानावरकाविद्या का निवर्तक होता है यही उसकी अधिष्ठान भासकता है। अत: विवर्तवादियों को अहंकार में संविद् की उपलभ्यमानता का उपपादन तथा अहंकार के ज्ञातृत्व का उपपादन सुकर है। अत: अहमर्थ, 'आत्मा का सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुति समर्थित ज्ञानस्वरूपता ही निश्रेयसार्थियों से समादरणीय है।

सुषुप्ति में ज्ञान की सत्ता की समालोचना

२६६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "अहमर्थ ज्ञाता आत्मा अनादि-निधन है।

(२) उसके स्वाभाविक धर्मभूतज्ञान का संसारावस्था में तरतमभाव से संकोच तथा विकास सर्वानुभव सिद्ध है।

(३) मुक्तावस्था में संकोचककर्मों के निवृत्त हो जाने से निरतिशय

विकासप्रयुक्त सार्वज्ञ्य वेदान्तमीमांसा न्यायनिर्धारितार्थ श्रुतिशिरोवाक्यसिद्ध है। यह सब पूर्व सम्यक् कह आये हैं।

(४) विवर्तवादियों को दो ही पदार्थ अभिमत हैं एक चितितन्मात्र, दूसरा अध्यस्त तथा अध्यासहेतु अनिर्वचनीयाज्ञान। इन लोगों के मत में–'बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म' श्रुतिनिर्वाचित ब्रह्म पदार्थ ईश्वर पदार्थादि कल्पित मिथ्या हैं। ईश्वर स्तुतिपर बन्दी स्थानापन्न वेद मिथ्यार्थवादी हैं।

(५) एकजीववाद ही इनका मुख्य पक्ष है।

(६) इनके मत में अद्यावधि कोई मुक्त नहीं हुआ। इस प्रकार की इनकी मत स्थिति को पूर्व कह आये हैं।"

इन आक्षेपों में प्रथम का उत्तर है कि—अहमर्थ ज्ञानस्वरूप आत्मा अनादि निधन है।

दूसरे का समाधान है कि—आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है। ज्ञान अमूर्त तथा अनवयव है अतः उसका संकोच विकास नहीं हो सकता।

तीसरे का समाधान है कि मुक्तावस्था में ज्ञान का निरतिशयविकास और तत्प्रयुक्त सार्वज्ञ्य श्रुतिशिरोवाक्यसिद्ध नहीं है।

चौथे का उत्तर है कि—विवर्तवादियों के मत में ब्रह्म मिथ्या नहीं है ईश्वर की उपाधि माया मिथ्या है। निषेधमुख से ब्रह्म प्रतिपादक वेदभाग मिथ्यार्थवादी नहीं है।

पाँचवें का उत्तर है कि विवर्तवादियों के मत में एकजीववाद तथा अनेकजीववाद रुचिभेद तथा अधिकारिभेद से कल्पित है।

छठे का उत्तर है कि एक जीववाद में ईश्वर-भावापत्ति रूप मुक्ति बहुतों की आज तक हुई है। इस बात को सिद्धान्तलेशसंग्रह में देखना चाहिए।

२६६ पृष्ठ में ही श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "बन्धमोक्षानुयायी अनादिनिधन अहमर्थज्ञाता आत्मा सर्वश्रुति स्वारस्य सिद्ध है। 'येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान् वेत्थ तदेव मे ब्रूहीति' इत्यादि श्रुत्यर्थ का यहाँ अनुसंधान करना चाहिए।

(२) विवर्तवादियों का कर्ता भोक्ता अहमर्थ आत्मा प्रति सुषुप्ति विनाशी घटपटादिकों के समान अनित्य है। इसके समर्थन में अहमर्थकार प्रकृत-प्रकरण में प्रवृत्त हैं उसकी समालोचना की जारही है।

(३) कुछ लोग सुषुप्ति में अज्ञान एवं सुख का अनुभव नहीं मानते। वे कहते हैं कि सुषुप्ति में आत्मा ज्ञानशून्य रहता है, परन्तु अज्ञानावच्छिन्न साक्षी श्रुतिसिद्ध है अतः साक्षी के द्वारा सुख एवं अज्ञान का अनुभव होता है। परन्तु अहंकार का अनुभव नहीं होता। जाग्रत्काल के परामर्श से भी सुख और अज्ञान का स्मरण मानना अनिवार्य है। किन्तु वह स्मरण कालभासित होता है तथा अज्ञान सुख आदि परामर्श काल में अविद्यमान होते हैं अतः उनका परामर्श ही मानना ठीक है।"

पूर्व कह आये हैं कि विवर्तवादी प्राधान्येन तर्कावलम्बी हैं कोई श्रुत्यंश स्वाभिमतानुकूल प्रतीत हुआ तो उसकी सहायता लेकर निखिल श्रुत्यादिक का व्यावहारिकार्थं परत्वापरपर्याय मिथ्यार्थपरत्वोपपादन का साहस करते हैं। प्रामाणिक परीक्षक वर्ग प्रमाण को पुरस्कृत करके तदनुग्राहकतर्कों से वस्तुओं का निरूपण करते हैं।

यद्यपि यह वक्तव्यांश का निरूपण पूर्व सम्यक् कर आये हैं तथापि प्रतिपत्ति सौकर्यार्थं पुनः किञ्चित् कहते हैं। सुषुप्ति काल में अहमर्थ आत्मा के सद्भाव का तथा उसके धर्मभूत ज्ञान के संकोच का श्रुति क्रियासमभिहारेण निरूपण करती है—"यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति, नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्। नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानाति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति" इन श्रुतियों के अर्थ का विवर्तवादियों के कूटस्थ-भाष्य का उपन्यास करके सम्यक् निरूपण कर आये हैं। ग्रन्थ विस्तार भय से पुनः निरूपण नहीं कर रहे हैं। ये श्रुतियाँ अहमर्थ ज्ञाता आत्मा के सद्भाव का तथा उसके धर्मभूत ज्ञान के संकोच का सम्यक् वर्णन कर रही हैं।

(४) "सुखमहमस्वाप्सम्, एतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषम्" ये सुप्तोत्थित के परामर्श सुषुप्ति कालिक अहमर्थ आत्मा के सद्भाव को तथा उसके धर्मभूत ज्ञान के निरतिशय संकोचापरपर्याय अभाव को सुस्पष्टरूप से सिद्ध कर

रहे हैं। आश्चर्य है कि कुतर्काभिनिविष्ट विवर्तवादी इन्ही श्रुतियों को तथा अनुभवों को सुषुप्तिकाल में अहमर्थ के अभाव में तथा ज्ञान के सद्भाव में प्रमाणतया वर्णन करते हैं।"

प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि बन्ध-मोक्षानुयायी अहमर्थ आत्मा ज्ञाता नहीं है यह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतिस्वारस्य सिद्ध है।

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥'

इत्यादि श्रुतियों से आत्मा के बन्धनों का निषेध है। 'येनाहं नामृता स्याम्' इत्यादिश्रुत्यर्थ के अनुसन्धान से आत्मा का अहमर्थत्व और ज्ञातृत्व नहीं सिद्ध होता।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—विवर्तवाद में कर्ता भोक्ता अहमर्थ आत्मा नहीं है किन्तु अहंकार है। आत्मा का सुषुप्ति में विनाश नहीं होता अहंकार का भी सुषुप्ति में स्वकारण अविद्या में संस्कार रूप से विलय होता है प्रति सुषुप्ति विनाश नहीं। जाग्रत् काल में पुनः उसका आविर्भाव होता है उत्पत्ति नहीं।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि 'यद्वै तन्न पश्यति' इत्यादि श्रुतियां सुषुप्ति में आत्मा के सद्भाव का प्रतिपादन करती है किन्तु उसके अहमर्थता का प्रतिपादन नही करती और इन श्रुतियों का अर्थ ज्ञानात्मपरक हम पूर्व मे कह आये हैं और 'विनाशमेवापीतो भवति' इसका अर्थ ज्ञान का संकोच नहीं है। और यहाँ पर विनाश का अर्थ विशेष रूप से अदर्शन है। 'सुखमहमस्वाप्सम् एतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषम्' यह स्मरणरूप ज्ञान अहमर्थ मे प्रत्यक्ष है और सुखांश तथा सुषुप्त्यंश मे स्मरण है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान पर्वतांश म प्रत्यक्ष तथा वह्न्यंश में परोक्ष है। अहंकार का सुषुप्ति में सूक्ष्मरूप से स्वकारण अविद्या में स्थितिरूप विलय का समर्थन हम पहले कर चुके हैं। अतः अहंकार मे सुषुप्ति का स्मरण उपपन्न है।

२६८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी लिखते हैं कि—"अज्ञानावच्छिन्न साक्षी' श्रुतिसिद्ध है यह घरेलू, भाषा विमर्शक गोष्ठी में नहीं शोभती। 'अज्ञानावच्छिन्नसाक्षी' किस श्रुति से सिद्ध है"

इसका उत्तर है कि—साक्षी चैतन्य 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' इस श्रुति से सिद्ध है ।'तम आसीत् तमसा गूढमग्र, अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इत्यादि श्रुति स्मृतियों से अज्ञान सिद्ध है । अवच्छेद्यावच्छेदकभाव घट गगनादि दृष्टान्त से सिद्ध है । इस लिए यह घरेलू भाषा नहीं है ।

इसके आगे श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अज्ञान सुख आदि परामर्श काल में अविद्यमान होते हैं" यह कथन विवर्तवादियों के सिद्धान्त से भी विरुद्ध है । सौषुप्तिक निर्विकल्पक अज्ञानानुभव कारणज्ञान विषयक ही विवर्तवादियों को मान्य है वह चरमवृत्ति विनाश्यतया अभिमत है परामर्शकाल में उसकी अविद्यमानता कैसे हो गई । तथा परामृश्यमान सुख भी साक्ष्यानन्दांशतया ही अभिमत है । उसकी भी परामर्शकाल में अविद्यमानता कैसे अतः ये कथन किंकथन हैं" ।

इसका उत्तर है कि – सुषुप्ति में निर्विशेषाज्ञान तथा निर्विशेषाज्ञानोपहित सुख विद्यमान है वह परामर्शकाल में दोनों अविद्यमान हैं । परामर्शकाल में अज्ञान में निर्विशेषत्व नहीं है इसलिये निर्विशेषाज्ञान की अविद्यमानता उपपन्न है । निर्विशेषाज्ञान जगत्कारण तथा चरमवृत्ति विनाश्य है । उसी अज्ञान को माया कहते हैं वह सुषुप्ति अथवा प्रलय में है जाग्रत् काल में मायारूप अज्ञान जगदाकारेण तथा विभ्रमाकारेण तज्जनित संस्काराकारेण परिणत होता है । इसलिए भी परामर्शकाल में मायारूप अज्ञान की अविद्यमानता उपपन्न है ।

२६८ तथा २६९ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि – "विशद अविशद् किसी प्रकार का अहं सुप्ति में नहीं अनुभूत होता । साक्षी से ही अहंकार का भी भान होता है । फिर अज्ञान सुखादि के तुल्य स्पष्ट ही अहं का भी भान होना चाहिए । यह कथन निःसार है । अनुपपत्तिशतदूषितप्रक्रिया में श्रुति स्वारस्य से तथा अनुभवस्वारस्य से सिद्धान्त के अपलपन को कौन विद्वान बहुमान करेगा । विवर्तवादियों के मत में अनुभविता के दुःसाध्य होने से अनुभूति की सिद्धि वृहस्पति भी नहीं कर सकते"

इसका समाधान है कि—उपपत्तिशतसमर्थित प्रक्रिया से, श्रुति स्वारस्य से तथा अनुभवस्वारस्य से पूर्वोक्तरीत्या सिद्ध विवर्तवाद के अपलपन को कौन विद्वान्

बहुमान करेगा। विवर्तवादियों के मत में अनुभुति स्वप्रकाश होने से स्वतःसिद्ध है अतः उसकी सिद्धि के लिये वृहस्पति की आवश्यकता नहीं है।

२६९ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी स्वामी जी लिखते है कि—"विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अहमर्थ स्वरूपानुबन्धिज्ञातृत्वशाली आत्मा का धर्मभूत ज्ञान संसारावस्था में कर्माघीन संकोच विकासशाली होने से सुषुप्ति अवस्था में सर्वथा संकुचित रहता है। सर्वदा स्वस्मै स्वयं प्रकाश अहमर्थ आत्मा स्वतः अहम् इस एक आकार से प्रकाशता रहता है यहां विवर्तवादितों के अनुपपन्न साक्षी की क्या आवश्यकता है। "यद्वैतन्न पश्यति" इत्यादि का श्रुति स्वाभाविक द्रष्टृत्वशक्तिसंपन्न द्रष्टा अहमर्थ आत्मा की सुप्ति में अवस्थिति की प्रतिपादिका है। यह पूर्व कह आये हैं। अतः यहां विवर्तवादियों की प्रक्रिया का कोई प्रसङ्ग नहीं है"

इसका समाधान है कि—विवर्तवाद में आत्मा अहं पदवाच्यार्थ तथा ज्ञातृत्वशाली नहीं है और उसका धर्मभूत ज्ञान नहीं है किन्तु वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है यह श्रुतिसिद्ध है। ज्ञान अमूर्त तथा अनवयव है उसका संकोच विकास अनुपपन्न है। आत्मा के सर्वदा प्रकाशमानत्व तथा स्वयं प्रकाशत्व को विवर्तवादी भी मानता है किन्तु उसके स्वस्मे प्रकाशमानत्व को अनुपपन्न होने से नहीं मानता। क्यों कि आत्मा असंग होने से अभोक्ता है। 'अहम्' इस प्रकार से आत्मा सुषुप्ति में नहीं प्रकाशता है। क्योंकि यह ज्ञान अहंत्व प्रकारक है और सुषुप्ति में सप्रकारक ज्ञान कोई भी शास्त्रकार नहीं मानता। विवर्तवादियों का साक्षी अनुपपन्न नहीं है क्योंकि—'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' इस श्रुति से सिद्ध है। 'यद्वैतन्न पश्यति' इत्यादि श्रुति आत्मा के अहमर्थत्व की साधिका नहीं है आत्मा की द्रष्टृत्वशक्ति माया रूप होने से अनिर्वाच्य है। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" आत्मा की माया रूपा शक्ति ही केवल नहीं किन्तु विश्व के प्रत्येक पदार्थ की शक्ति स्वाश्रय से भेदाभेद रूप से अनिर्वाच्य है।

२६९ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

"(१) "सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्" यह सर्वलोक साक्षिक परामर्श स्वस्मै स्वयं भासमान अहमर्थ आत्मा के सुषुप्ति वेला में सद्भाव को यथा बाह्यविषयक ज्ञानाभाव को सुस्पष्टतया सिद्ध कर रहा है।

(२) 'अपवाद के विषय का परिहार करके उपसर्ग प्रवृत्त होता है' यह शास्त्र-वेत्तावों की मर्यादा है। अतः 'मामप्यहं न ज्ञातवान्' यह परामर्श स्वस्मै स्वयं ज्योति अहमर्थ आत्मप्रकाश का निषेध नहीं करता है किन्तु जैसे जाग्रत्-काल में ब्राह्मण जातीय संन्यासी एतादृश शरीरक हूँ इत्यादि प्रकार से अपने को जानता हूँ उस प्रकार से अपने को भी सुप्ति में नहीं जानता था। इस अर्थ को श्रुति स्पष्ट कर रही है—

"नाह खल्वयमेवं संप्रत्यस्मानं जानत्ययमहमस्मीति" यहाँ पर श्रुति 'संप्रति अयं आत्मानं न जानाति' ऐसा नहीं कहती है किन्तु 'एवं आत्मानं न जानाति' कह रही है इसी अर्थ को अभिनय करके स्पष्ट कर रही है। यहां 'एवम्' का विवरण 'अयं' से किया 'आत्मानं का विवरण 'अहं' से किया, यह सब विशदतया पूर्व कह आये हैं। अतः विवर्तवादियों का—"अनुभव तथा श्रुति सुप्ति में अहमर्थ का तथा उसके प्रकाश का निषेध कर रहे हैं यह कथन भ्रान्ति पूर्वक है"

इन आक्षेपों में प्रथम का उत्तर यह है कि—"सुखमहमस्वाप्सम्; न किञ्चि-दवेदिषम्" यह उत्थान कालिक ज्ञान अहमंश में प्रत्यक्ष है इतरांश में स्मरण है। 'पर्वतो वह्निमान्' के तरह ज्ञानद्वय है : यह पूर्व में कह आये हैं। अतः इस ज्ञान से सुषुप्ति में अहमर्थ का स्वरूपेण सद्भाव तथा प्रकाश नहीं सिद्ध होता। सुषुप्ति में बाह्यविषयक अज्ञान विवर्तवादी को मान्य है। 'मामप्यहं न ज्ञातवान्' यह सुप्तो-त्थित का परामर्श भी अहमंश में प्रत्यक्ष है, इतरांश में स्मरण है। अतः 'मामपि न ज्ञातवान्' इससे अहंकार के ज्ञान का निषेध स्पष्ट है। अहमर्थ का प्रत्यक्ष तो जाग्रत्काल में हो रहा है। यहां पर उत्सर्गापवादन्यास का कथमपि समन्वय नहीं हो सकता। "उस प्रकार से मैं अपने को भी सुषुप्ति में नहीं जानता था" यह कथन भी असंगत है क्योंकि अनुभव के अभिलाप वाक्य में 'एवं' पद नहीं है।

यद्यपि श्रुति में एवं पद है तथापि उससे आपकी अभीष्ट सिद्धि नहीं होगी क्योंकि 'अयमहमस्मि' 'इत्येवं संप्रति आत्मानं न जानाति' इस प्रकार का यह श्रुति वाक्य योजना है। इसमे 'अयमस्मि ब्राह्मणादि:' तथा 'अहमस्मि' इन दोनों का निषेध है। क्योंकि अहंत्वप्रकारक ज्ञान सुषुप्ति में असंभवि है। "यहां 'एवं' का विवरण 'अयम्' से क्रिया" यह कथन तो अत्यन्त निःसार है क्योंकि एवं अयम्

का समानार्थकत्व नहीं है । अतः विवर्तवादियों का "अनुभव तथा श्रुति सुप्ति में अहमर्थ का तथा उसके प्रकाश का निषेध कर रहे हैं" यह कथन भ्रमापूर्वक है ।

२७० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अयमहमस्मीत्येवं संप्रत्यात्मानं न जानाति' इस प्रकार विशेषरूपसे अहमर्थ ज्ञाता आत्मा के स्वात्मज्ञान का निषेध करती हुई श्रुति अहमित्येकाकारेण अहमर्थ ज्ञाता आत्मा के स्वस्मै स्वस्वरूप प्रकाश का समर्थन कर रही है'

यह कथन पिष्टपेषण है इसका समाधान हम अनुपद कर आये हैं ।

इसके आगे इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के मत में 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' मामप्यहं न ज्ञातवान्' इत्यादिक परामर्श सर्वथा अनुपपन्न हैं क्योंकि उनके मत में सुषुप्ति में कोई अनुभविता नहीं है सौप्तिक अज्ञान प्रकाश तथा सुखप्रकाश उनके मत में निर्विकल्पक साक्षी स्वरूप ही है । यह प्राणभृन्मात्र का आनुभविक अर्थ है कि जो जिस अर्थ का अनुभव करता है वही कालान्तर में उसका स्मरण करता है विवर्तवादियों के मत में जब सुपुप्तिकाल में कोई अनुभविता मान्य नहीं है तब सुषुप्तिकालानुभूतार्थ का जाग्रत्काल में परामर्शा कौन होगा । इसी प्रकार इनकी सारी प्रक्रियायें अनेकानुपपत्तियों से दुःस्थ हैं ।"

इसका समाधान यह है कि —विवर्तवाद में जीव और जीवसाक्षी दो पदार्थ होते हुए भी वस्तुतः एक हैं । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य जीव है और जाग्रत-काल में अन्तःकरणोपहित चैतन्य जीव साक्षी है । सुषुप्ति में अन्तःकरण का स्वकारण अविद्या में लय (तिरोभाव) हो जाता है । अतः सुषुप्ति में अविद्यो-पहित चैतन्य जीव साक्षी है । इसी जीव और जीवसाक्षी रूप स्मर्ता और अनुभविता का वस्तुतः ऐक्य है ।

२७१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"कहा जाता है 'जैसे सुप्तोत्थ के 'मैं कुछ नहीं जानता' इस परामर्श के रहने पर भी अज्ञान और सुख का ज्ञान सुप्ति में मान्य है वैसे ही 'मैंने अपने को भी नहीं जाना' इस परामर्श के रहते हुए भी सामान्य अहमर्थ का अनुभव माना जा सकता है" परन्तु सामान्य अहंकार क्या है—सामान्य अहमर्थ 'अहम्' इत्याकारेण स्वस्मै स्वयं भासमान

प्रत्यक् है। अहंकारविशिष्ट है या तद्रहित इत्यादि विकल्प निःसार है। सौपुप्तिक अहमित्याकारक प्रत्यय 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि परामर्शों से तथा 'यद्वैतन्न पश्यति, नाह खल्वयमेवम्' इत्यादि श्रुतियों के स्वारस्य से सिद्ध है अतः यदि अहंकार है तो उसकी प्रतीति होनी चाहिए। 'इसका उत्तर है कि होती है"।

इसका प्रत्युत्तर है कि 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह परामर्श तथा—'यद्वैतन्न पश्यति, नाह खल्वयमेवम्' इत्यादि श्रुतियों के स्वारस्य से सौपुप्तिक अहं प्रत्यय नहीं सिद्ध होता यह हम अनुपद ही बता चुके हैं। सुषुप्ति में अहंत्वप्रकारक प्रत्यय होता है यह कहना अत्यन्त असंगत है क्योंकि सुषुप्ति में कोई भी सविकल्पक प्रत्यय नहीं होता।

२७१ तथा २७२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) 'बाह्य ज्ञान के न रहने पर भी नित्य संविद् प्रमाणसिद्ध है' यह कथन 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' इस न्याय का अनुसरण करता है

(२) गगनकुसुमायमान निर्विषय निराश्रयज्ञान के सद्भाव में कोइ भी नहीं है।

(३) ज्ञाता का अर्थ प्रकाश ही ज्ञान पद वाच्य है। विवरणकारने भी कहा है—"ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात् तस्य चात्माश्रयत्वात्।"

(४) आत्मविषयक ज्ञानपद का प्रयोग स्वयंप्रकाशत्व साधर्म्य से निरूढ लक्षणया है यह पूर्व कह आये हैं।

(५) प्राणभृन्मात्र प्रसिद्ध अहमर्थ के लिए सामान्य अहमर्थ प्रामाणिक नहीं है। इस कथन में मुख की स्वतन्त्रता ही हेतु है।

(६) 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति' इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि सोते समय जीव 'मैं यह हूँ' ऐसा नहीं जानता यह कथन बिलकुल ठीक है। 'यहाँ श्रुति ने देवत्वादि रहित अहं इस प्रकार भी 'अहं' के प्रकाश का निषेध किया है' यह कथन सर्वथा निःसार है। यदि श्रुति को देवत्वादिरहित अहं इस प्रकार भी अहं के प्रकाश का निषेध इष्ट होता तो 'अयम्' इस पद का प्रयोग नहीं करती। अयं यह पद देवत्वादि तथा तत्तद् देशकालादि विशिष्टतया तदानीं अहमर्थ के प्रकाशाभाव के लिए प्रयुक्त किया गया, सामान्यतः 'अहम्' इत्याकारेण सुषुप्ति में आत्मप्रकाश का साधक है। अतः 'अयम्' इस पद का

प्रयोग कर श्रुति ने देवत्वादि तत्तद् देशकालदिवैशिष्ट्य रहित केवल अहमित्याकारेण अहमर्थ के प्रकाश को सिद्ध कर रही है।"

इन आक्षेपों में प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि---सुषुप्ति में वाह्य ज्ञान के न रहने पर भी नित्यसंविद् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इत्यादि श्रुतिसिद्ध है।

द्वितीय आक्षेप का उत्तर है कि— निर्विषय तथा निराश्रय ज्ञान जीव तथा ब्रह्मस्वरूप है, वह सुषुप्ति तथा प्रलय में निर्विषय तथा निराश्रय है ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सर्व का कारण है अतः सर्व का आश्रय है। अतः उसका कोई आश्रय नहीं है। ब्रह्म तथा जीव की ज्ञानस्वरूपता तथा एकता 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि श्रुतिसिद्ध है।

तृतीय आक्षेप का उत्तर है कि ज्ञाता को तत्तदाकार वृत्तिरूप अर्थ प्रकाश भी ज्ञानपद वाच्य है और साक्षी स्वरूप आत्मा भी ज्ञानपद वाच्य है। अत एव वृत्तिरूप को लेकर पूर्वोक्ति विवरणकारोक्ति संगत है।

चतुर्थ आक्षेप का उत्तर है कि—आत्मा में ज्ञानपद का प्रयोग निरूढलक्षणया है इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

पञ्चम आक्षेप का उत्तर है कि - अहमर्थ अहंत्वप्रकारक प्रत्यय का ही गोचर है वह प्रत्यय सविकल्पक है। यतः सुषुप्ति में उसका अभाव है। अतः सामान्य अहमर्थ सुषुप्ति में नहीं भासता।

छठे आक्षेप का उत्तर है कि—'नाह खल्वयम्' इत्यादि श्रुति 'अयमस्मि, अहमस्मि' इन दोनों प्रत्ययों का निषेध करती है। 'अयमहमस्मि इति न जानाति' इस श्रुतिवाक्य से यही सिद्ध होता है। अतः अहमित्याकारक अहंत्वप्रकारक प्रत्यय सुषुप्ति में कदाऽपि नहीं होता।

२७२ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"पश्यन् वै तन्न पश्यति' 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतियों तथा स्मरण से साक्षिस्वरूप ज्ञान से अतिरिक्त ही ज्ञान का अभाव प्राज्ञेनात्मना इत्यादि श्रुति का अर्थ संगत है।" यह कथन निःसार है, अहमर्थकार यदि 'पश्यन् वै' इत्यादि श्रुतियों को सुप्ति में साक्षी का साधक समझते हैं तब 'इषे त्वा' इत्यादि श्रुतियों को भी सुप्ति में

साक्षी का साधक समझ सकते हैं। 'पश्यन् वै' इत्यादि श्रुति विवर्तवादियों के अभिमत साक्षी से कोई नाता नहीं रखती। साधारण व्युत्पन्न भी श्रुति पदों के स्वारस्य को समझ सकते हैं। श्रुति का यह आकार है "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्" इस श्रुति में सभी प्रसिद्धार्थक पद हैं। यत् पद क्रियाविशेषण है। तत् पद सप्तम्यन्त अव्यय है। 'तत् यद्वै न पश्यति,' सुषुप्तिकाल में जो नहीं देखता है (जो दर्शन का अभाव है) तत् पश्यन् वै न पश्यति।' यह देखता हुआ नहीं देखता है (दर्शन शक्ति संपन्न ही द्रष्टा के दर्शन का अभाव है)।

'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' यतः द्रष्टा अविनाशी है अतः उसके स्वरूपानुबन्धि धर्म दृष्टि का भी विपरिलोप नहीं है, यदि द्रष्टा के स्वरूपानुबन्धि धर्म-दृष्टि का विपरिलोप नहीं है तो सुषुप्ति में वर्तमान द्रष्टा अपनी स्वरूपानुबन्धि दृष्टि से जाग्रत् के समान विषयों को क्यों नहीं देखता इस शङ्का का समाधान श्रुति करती है—"न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्" ब्रह्म में सकरणग्राम जीव का संश्लेषविशेषरूप अप्यय हो जाने से जीव से विभक्त दूसरा वह प्रसराख्य ज्ञानाभिव्यक्ति का हेतुभूत बाह्याभ्यन्तरकरणग्राम नहीं है जिससे देखे। इन्द्रियों से प्रसाराख्य अभिव्यक्ति वाला धर्मभूत ज्ञान अहमर्थाश्रितत्व सविषयकत्व रूप धर्मद्वय पुरस्कारेण प्रकाशता है। संश्लेषविशेष रूप अप्यय होने पर एकत्वाद्वितीयत्वव्यवहार 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से देखा गया है। प्रलय में भी जीव कर्मादिकों का सद्भाव—"न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च।" इस ब्रह्मसूत्र से सिद्ध है।"

इसका क्रमशः उत्तर यह है कि—अहमर्थकार 'पश्यन् वै' इत्यादि श्रुतियों को सुप्ति में साक्षी का साधक समझते हैं। क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से 'पश्यन्' का अर्थ है ज्ञानस्वरूप साक्षीरूप आत्मा। प्रकृत्यर्थ यहाँ पर विवक्षित है और शतृप्रत्ययार्थ अविवक्षित है।

व्याकरण महाभाष्य में 'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः—अस्ति गृहसमुदाये वर्तते' इस 'वर्तते' पद में वृत्तिरूपप्रकृत्यर्थ की विवक्षा और त प्रत्ययार्थ की अविवक्षा

देखी गई है, 'गृहसमुदाये वृत्तिरस्ति' यह इस वाक्य का अर्थ हैं। 'न पश्यति' का 'न विषयी करोति' अर्थ है। 'द्रष्टुर्दृष्टेः' यहाँ पर समानाधिकरण षष्ठी उचित है अतः धर्मधर्मिभाव नहीं है। इस प्रकार विवर्तवादियों के मत में 'पश्यन् वै' इत्यादि श्रुतियों का साक्षिचैतन्य से नाता उचित तथा युक्ति-युक्त है। 'यत्पद क्रियाविशेषण है। तत्पदसम्बन्धान्त अव्यय है' यह कहना अत्यन्त असंगत है क्योंकि यत्पद तथा तत्पद की समानार्थकता सर्वसंमत है, अतः दोनों क्रियाविशेषण अथवा दोनों अव्यय होंगे।

वस्तुतः तत्पद ब्रह्मपदार्थक प्रथमान्त है। अप्यय का संश्लेष विशेषरूप अर्थ अप्रामाणिक है। 'यत्पश्येत्' यहाँ पर यत्पदार्थ कर्म है कारण नहीं, अतः 'जिससे देखे' यह अर्थ करना असंगत है। मुख्य एकत्वाद्वितीयत्व व्यवहार का परित्याग करके अप्ययप्रयुक्त एकत्वाद्वितीयत्व व्यवहार गौण श्रुति में मानना अप्रामाणिक है। ज्ञान का प्रसर (विकास) अनुपपन्न है क्योंकि ज्ञान अमूर्त तथा अनवयव है। प्रलय में जीव कर्मादिकों का सद्भाव स्वकारण तथा विश्वकारण अविद्या में कारणरूप से है स्वरूप से नहीं। अविद्या ब्रह्म से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है अतः द्वैतापत्ति नहीं होगी।

२७४ तथा २७५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—'अयमहमस्मि' यहाँ पर 'अयम्' का ऐसा अर्थ है किन्तु यह कथन व्यवहार-विरुद्ध तथा कोष-विरुद्ध है। कोष में लिखा है—'इदमस्तु संनिकृष्टम् समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्' यहाँ पर रूपपद अर्थ परक है। 'रूप्यते बोध्यते इति रूपमर्थः' यह रूप पद की व्युत्पत्ति है।

'विष्णुमित्र क्वासि' का उत्तर 'अयमहमस्मि' है यह कहना असंगत है। 'अयमहमिहास्मि' यह उत्तर हो सकता है। क्योंकि अधिकरण विषयक प्रश्न है। श्रुति 'एवमात्मानम्' इस पद समभिव्याहार के अर्थ को 'अयमहमस्मि' इस पद-समभिव्याहार से अभिनय करके दिखाती हुई 'अयं' इस पद के सामान्यतः प्रकारबोधक एवं पद से विवक्षित प्रकारविशेषपरता को क्या नहीं सिद्ध कर रही है। यह श्रीत्रिदण्डी जी का कथन भी असार है। क्योंकि 'एवमात्मानम्' का अभिनय 'अयमहमस्मि' नहीं है। क्योंकि दोनों का समानार्थकत्वाभाव स्फुट है। और श्रुति में 'एवं न जानाति' ऐसी योजना है। 'एवं' का आत्मानम् के साथ

सम्बन्ध नहीं है। अतः 'इदं' पद का संनिकृष्ट अर्थ है आकृतिविशेषादिविशिष्ट नहीं।

२७५ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—तथा सुषुप्ति में सामन्यतः अहन्त्वेन अहमर्थं प्रत्यागात्मा के प्रकाश की साधिका तथा पराभिमत साक्षी के अभाव की साधिका श्रुति का वैपरीत्येन कथन व्यर्थंतर है तथा श्रुति के अर्थ को वैपरीत्येन समझ कर तन्मूलक इतर कथन व्यर्थंतम है।"

इसका उत्तर है कि—सुषुप्ति में अहंत्वप्रकारक ज्ञान नहीं होता यही सर्वमान्य सिद्धान्त है क्योंकि सुषुप्ति में कोई भी सविकल्पक प्रत्यय नहीं होता। अतः सुषुप्ति में अहंप्रत्यय का अभाव तथा साक्षी रूप ज्ञान का सद्‌भाव ही प्रकृतश्रुति का विपरीत अर्थ नहीं है।

२७६ पृष्ठ में त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) " 'तमोगुण से आत्मा का धर्मभूतज्ञान अभिभूत हो जाता है' यह कथन भी असंगत है क्योंकि अन्तःकरण का धर्मभूत ज्ञान भले हो तम से अभिभूत हो, परन्तु आत्मधर्मभूतज्ञान कैसे अभिभूत हो सकता" यह कथन निःसार है। क्योंकि भगवान् ब्रह्मसूत्रकार बादरायण जीव के स्वाभाविक ज्ञानै-स्वर्यंशक्तियों का तिरोभाव 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' इस सूत्र में कहते हैं।

(२) अन्तःकरण का धर्मभूतज्ञान विवर्तवादियों को भी अभिमत नहीं है— "ज्ञाधातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात् तस्य चात्माश्रयत्वात्" यह विवरणकार का कथन है, यह क्रियासमभिहारेण कह आये हैं।

(३) अन्तःकरण का धर्मभूतज्ञान मानना चार्वाकमत का अवलम्बन करना है यह भी कह आये हैं।

इसका उत्तर है—

(१) अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है, वृत्तिरूप ज्ञान अन्तःकरण का धर्म है, अणिमाद्यैश्वर्य भी अन्तःकरण का धर्म है अतः विशेषण के धर्म होने से 'विशिष्टधर्मत्वोपचार पराभिध्यानात् तु' इत्यादि पूर्वोक्त बादरायण सूत्र में उपपन्न होगा।

(२) वृत्तिरूप ज्ञान का आश्रय अन्तःकरण ज्ञाता है विशेषण को ज्ञाता होने

से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप जीव में ज्ञातृत्वोपचार है। समासवृत्ति अर्थं प्रकाशक हो सकती है।

(३) अन्तःकरण का धर्मभूत ज्ञान मानना वैदिक सिद्धान्त का अवलम्बन करना है क्योंकि "कामः संकल्पो विचिकित्सा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" ऐसा श्रुति कहता है यहाँ पर धीपद ज्ञान परक है।

२७६ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"इसके अतिरिक्त जैसे रूपादि रहित घट उपलब्ध नहीं होता वैसे ही इच्छादि रहित अहमर्थ उपलब्ध नहीं हो सकता" यह कथन निरर्थक है क्योंकि वस्तु की उपलब्धि उपलब्धि-सामग्री के अधीन है, गन्धादिकों की घ्राणादिकों से आश्रय रहित उपलब्धि होती है। चक्षुरादिकों से स्पर्शादिकों के बिना घटादिकों की उपलब्धि होती है। 'या उपलब्धिः सा प्रमाणजन्या' यह व्याप्ति ज्ञान और आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व ग्राहकमानों से भग्न है। अतः धर्मिग्राहकमान बाधित सामान्यतोदृष्टानुमान अनुमानाभास है। अतः इच्छादिकों के बिना स्वस्मै स्वयंप्रकाशमान अहमर्थं प्रत्यगात्मा के सुषुप्ति में अहन्त्वेन प्रकाश में कोई अनुपपत्ति नहीं है।"

इसका उत्तर है कि—'तदिन्द्रियजतद्धर्मिबोधे तदिन्द्रियजतदिन्द्रियग्रहण योग्यतद्धर्मबोधसामग्री अपि कारणम्' यह कार्यकारण भाव है। एतन्मूलक—'तदिन्द्रियजतद्धर्मिबोधः तदिन्द्रियग्रहणयोग्यतद्धर्मगोचर एव भवति' इस नियम है इसके अनुसार सुषुप्ति में इच्छादिकों के बिना अहमर्थं का प्रकाश नहीं हो सकता। ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व आत्माश्रयादिदोषापत्ति-भय से माना जाता है। अतः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्यनुसार ज्ञानस्वरूप आत्मा के स्वयं-प्रकाशत्व को सुषुप्ति में 'अत्रायं स्वयं ज्योतिः' इत्यादि श्रुति कहती है। ज्ञानाश्रय आत्मा की स्वयंप्रकाशता सर्वथा अनुपपन्न है अतः प्रभाकर नैयायि-कादि ज्ञानाश्रय आत्मा को घटादिवत् जड़ मानते हैं—

'प्रभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम्।
आकाशवद् द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः॥'

आत्मस्वरूपभूता उपलब्धि नित्य है अतः वह प्रमाणजन्य नहीं हो सकती। किन्तु कार्यभूता वृत्तिरूपा उपलब्धि प्रमाणजन्या अवश्य है। अतः 'या या प्रमा-

रूपा उपलब्धिः सा सा प्रमाणजन्या' यह व्याप्ति निर्बाध है। सुषुप्ति में कोई भी सप्रकारक (सविकल्पक) ज्ञान नहीं होता अतः सुषुप्ति में अहंत्वेन अहमर्थ का प्रकाश कहना असंगत है।

२७७ पृष्ठ में धर्मभूतज्ञान के संकोच तथा विकास को श्रीत्रिदण्डी जी कर्माधीन लिखे हैं किन्तु अमूर्त तथा अनवयवज्ञान का संकोच और विकास सर्वथा अनुपपन्न है और ज्ञान के संकोच तथा विकाश में कोई प्रमाण भी नहीं है।

२७७ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों की कल्पित अनुभूति की चर्चा केवल उन्हीं की गोष्ठी में ही हो सकती है, प्रसिद्ध शास्त्रों तथा अनुभवों में नहीं।

इसका उत्तर है कि—विशिष्टाद्वैतवाद की कथा विशिष्टाद्वैतियों की गोष्ठी में ही हो सकती है, प्रसिद्धशास्त्रों तथा अनुभवों में नहीं।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रकाशमात्र रूपा चिति का तिरोधान चितिनाश के अतिरिक्त क्या हो सकता है"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि—तिरोधान प्रच्छन्नता (निलीनता) रूप है नाश रूप नहीं। अविद्यया प्रच्छन्न सर्परूपेण विवृत्त रज्जु का तात्कालिक तिरोभाव है नाश नहीं। तब अविद्यया तिरोहित जगदाकारेण विवृत्तचिति का तिरोधान नाश कैसे होगा।

२७७ तथा २७८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "संविद का भान सदा ही विशद रहता है" यह कथन स्वसिद्धान्तानवधानकृत है।

(२) यदि विवर्तवादी संविद का भान सदा विशद ही मानें तो संविद में जगदध्यास का उपपादन नहीं कर सकते, क्योंकि अधिष्ठान के विशदभान का अध्यास-विरोधित्व सर्व-संमत है।

(३) यदि संविद का भान सदा ही विशद ही रहता है यह विवर्तवादियों को इष्ट हो तो बन्ध मोक्ष के वैलक्षण्य का उपपादन वे लोग नहीं कर सकते।

(४) 'विद्यते एवात्राप्यग्रहणाविद्यात्मको दोषः प्रकाशस्याच्छादकः' इत्यादिक पञ्चपादिका प्रभृति के वाक्य संविद् के अविशद-भान के उपपादक हैं।

(५) विवर्तवादियों के मत में विषयाश्रयशून्य निर्विशेष संविद् का विशदमान दुरुपपाद है, यह मतान्तरस्थों का दुःसमाधेय आक्षेप है यह दूसरी वार्त्ता है।

इन आक्षेपों में प्रथम का उत्तर है कि—संविद् ज्ञानस्वरूप-आत्मा को कहते हैं अविद्याकृत आवरणदशा में संविद् का भान नहीं होता है। स्वाकार अथवा अन्याकार (घटाद्याकार) वृत्ति अविद्या की और तत्कार्य आवरण की विरोधिनी है। वृत्तिदशा में अविद्या की निवृत्ति अथवा संकोच होने से संविद् का भान होता है, वह भान स्वप्रकाशसंविद् स्वरूप होने से जब-जब होता है तब-तब सदा विशद् ही होता है। अविद्याकृतावरण दशा में जब संविद् का भान नहीं होता तब उस समय में भान के वैशद्यावैशद्य का कोई प्रश्न ही नहीं है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—अधिष्ठानस्वरूपा स्वप्रकाश संविद् अविद्या तथा तत्कार्य भ्रान्तिरूप अध्यास की साधिका है विरोधिनी नहीं। अत एव 'अहमज्ञः' इत्यादि अनुभव होता है। अविद्या तत्कार्यविरोधिनी तो संविदात्म-गोचरा अथवा तदन्यगोचरा अन्तःकरणवृत्ति है। अतः स्वप्रकाश अधिष्ठानरूपा संविद् में जगदध्यास उपपन्न है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—संविद् के अविद्याकृतावरण-प्रयुक्त बन्ध है और जीव ब्रह्मैक्य गोचर चरम अपरोक्ष अन्तःकरणवृत्ति प्रयुक्त मोक्ष है।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि—पूर्वोदाहृत पञ्चपादिका-वाक्य संविद् के अविद्या-प्रयुक्त अभान का उपपादक है अविशदमान का नहीं।

पांचवें आक्षेप का उत्तर है कि—विषयाश्रयशून्य निर्विशेषसंविद् स्वप्रकाश है अतः उसका विशदमान उपपन्न है।

२७८ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "अहमर्थ सुषुप्ति में कथमपि नहीं रहता" इत्यादिक रटनों की निःसारता का उपपादन क्रियासमभिहारेण कर आये हैं।

(२) "ज्ञानाभाव जानने के लिए अनुयोगी एवं प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यक होता है, यदि उसका ज्ञान नहीं है तो ज्ञानाभाव का ग्रहण नहीं बन-सकता। यदि ज्ञान है तो ज्ञानाभाव नहीं कहा जा सकता।" यह कथन असार है, क्योंकि केवल अभाव की ही प्रतिपत्ति अनुयोगी तथा प्रतियोगी की प्रतिपत्ति की अपेक्षावाली नहीं होती है, किन्तु अन्यत्व, विरुद्धत्व, गुरुत्व,

शिष्यत्व, पितृत्व, पुत्रत्व, अधिकरणत्व, आधेयत्व प्रभृति जितने सप्रतियोगिक पदार्थ हैं उन सबों की प्रतिपत्ति अनुयोगी की प्रतिपत्ति तथा प्रतियोगी की अपेक्षा करने वाली होती है। देवदत्तपिण्ड की चक्षुरादिकों से स्वरूपतः प्रतिपत्ति इतरप्रतिपत्ति निरपेक्ष होती है। तथापि पितृत्व प्रभृति सप्रतियोगिकधर्म-पुरस्कारेण उसी देवदत्तपिण्ड की प्रतिपत्ति देवदत्तनिष्ठ पितृत्व प्रतियोगिभूत यज्ञदत्त की प्रतिपत्ति की अपेक्षा रखती है। ऐसे ही संपूर्ण सप्रतियोगिक पदार्थों की प्रतिपत्ति को जानना चाहिए।

विवर्तवादियों का अभिमत भावरूप-अज्ञान स्वरूपतः कभी भी प्रतीत नहीं होता है, किन्तु जब कभी प्रतीत होता है तो ज्ञानार्थक पदसमभिव्याहृत नञ् का उल्लेख करता हुआ ही प्रतीत होता है।

नञ् के प्रधान तीन अर्थ हैं—अभाव, अन्यत्व और विरोध। विवर्तवादियों को ज्ञानविरुद्धत्वेन अज्ञान अभिमत है अतः अज्ञानोल्लेखिनी प्रतीति ज्ञानप्रतीति की अपेक्षा करती है और ज्ञान की प्रतीति होने पर तद्विरुद्ध अज्ञान रह नहीं सकता। अतः अभावरूप अज्ञानपक्षमें अज्ञान की प्रतीति में जो अनुपपत्ति है वह भावरूप अज्ञानपक्ष में भी समान ही है परिहार भी समान ही होगा।

'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥'

इस वचन का स्मरण कर तुष्ट हो जाना चाहिए।"

इन आक्षेपों में प्रथम का उत्तर है कि—"अहमर्थ सुप्ति में कथमपि नहीं रहता" इत्यादिक रटनों की ससारता का उपपादन क्रियासमभिहारेण हम भी कर आये हैं।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि विवर्तवादियों के मत में अज्ञान भावस्वरूप अखण्ड (पदार्थद्वयाघटित) पदार्थ है। वह केवल साक्षिभास्य है वृत्तिभास्य नहीं है। साक्षी रूप ज्ञान निर्विकल्पक है अतः उससे स्वरूपतः अज्ञान का भान सुषुप्ति में होता है ज्ञानविरोधित्वप्रकारकज्ञान उसका नहीं होता अज्ञान का ज्ञान विरोधित्व तो अनुमेय है प्रत्यक्ष नहीं। अतः अज्ञान के भान में प्रतियोगिज्ञान और अनुयोगिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि अज्ञान का साक्षी रूप ज्ञान विशिष्ट ज्ञान नहीं है, किन्तु निर्विकल्पकज्ञान है।

२८० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्ड जी लिखते हैं कि—

(१) "विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में स्वस्मै स्वयं भासमान अहमर्थं आत्मा का अहंत्वेन प्रकाश मान्य है, उसके 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि परामर्श तथा अहमर्थं आत्मा के विज्ञानघनत्व स्वयं ज्योतिष्ट्व साधक श्रुतियां तथा 'नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानाति' इत्यादि सुषुप्त्यवस्था-प्रतिपादक श्रुतियां साधक हैं।

(२) "स्मरणाभाव से ज्ञानाभाव का अनुमान नहीं हो सकता" यह कथन निःसार है, क्योंकि स्मरणाभाव सामान्यानुभवाभाव के साधक भले ही मत हो अस्मरण नियम तथा स्मरणाभाव विशेषतो अनुभवाभाव के साधक होते ही हैं। कोई देवदत्त से पूछता है कि 'क्या आपके मित्र विष्णुमित्र आपके पास आये थे'। देवदत्त स्मरणभाव से अनुभवाभाव का तथा अनुभवाभाव से विष्णुमित्र के आगमनाभाव का अनुमान कर कहता है कि—नहीं आये थे। ऐसे स्थलों में स्मरणाभाव को अनुभवाभावानुमापकता सर्वानुभव सिद्ध है। सुषुप्ति काल प्राणमृन्मात्रानुभूत है कृत्स्न सुषुप्ति काल मे भूतवर्तमान कृत्स्नप्राणियों को अहमर्थआत्मा के अतिरिक्त अनुभूत पदार्थों का स्मरण कभी नहीं होता एवंविध स्मरणाभाव अनुभवाभाव को सिद्ध करता ही है।

(३) सुषुप्ति में अहमर्थं आत्मा के प्रकाश के साधक अनुभव तथा श्रुतियों को क्रिया समभिहारेण कह आये हैं।

(४) सुषुप्ति में संविद् का अभाव 'सुखमहमस्वाप्सम् एतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यादिक अनुभवों से तथा 'प्राज्ञेनात्मा संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, नो एवेमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है, अतः 'संविद् का अस्तित्व अज्ञान सुखादिभासकत्वेन अत्यन्त प्रसिद्ध है' यह कथन असङ्गत है।

(५) 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह परामर्श अंश विशेष में प्रत्यभिज्ञात्मक तथा अंशविशेष में अनुमानात्मक है। इसका उपपादन पूर्व सम्यक् कर आये हैं। अतः 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह स्मरण ही है इत्यादि कथन निःसार है"

इनमें प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि— स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्वयं भासमानत्व तो उत्पन्न हो सकता है किन्तु उसके स्वयं भासन में स्वार्थत्व का स्वरूप दुरुपपाद है। आत्मा यदि अहं पद वाच्यार्थ है तो अहंकार (अन्तःकरण का

अवस्था विशेष) कि पद वाच्य है ? सुषुप्ति में आत्मा का अहंत्वेन प्रकाश अनुपपन्न है। क्यों कि सुषुप्ति में सविकल्पक (सप्रकारक) ज्ञान नहीं होता। 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादिक परामर्श सुषुप्ति में अहमर्थानुभव का साधक नहीं है क्योंकि उक्त परामर्श अहमंशमें प्रत्यक्ष है और इतरांश में स्मरण है, यह हम पूर्व में कई वार कह आये हैं। श्रुतियाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा के विज्ञानघनत्व तथा स्वयं ज्योतिष्ट्व की साधिका हैं उसके अहमर्थत्व की साधिका नहीं हैं। 'नाहं खल्वयम्' इत्यादिक सुषुप्त्यवस्था प्रतिपादक श्रुतियाँ भी सुषुप्ति में अहमर्थानुभव की साधिका नहीं हैं यह हम पूर्व में श्रुत्यर्थोपवर्णन पूर्वक कई वार कह आये हैं।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—स्मरणाभाव ज्ञानाभाव का अनुमापक नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व में तदर्थविषयक ज्ञान के रहने पर पर भी तदर्थविषयक संस्कार के अनुद्बोध अथवा लोप से भी स्मरणाभाव होता है, अतः स्मरणाभाव ज्ञानाभाव का व्यभिचारी है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—सुषुप्ति में अहमर्थ का भान नहीं होता इसको हम भी पूर्व में क्रियासमभिहारेण कह आये हैं।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि—सुषुप्ति में अन्तःकरणवृत्तिरूपज्ञान का अभाव अनुभव तथा श्रुतियों से सिद्ध है, स्वप्रकाश संवित्स्वरूप आत्मा का अभाव नहीं। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'।

पांचवे आक्षेप का उत्तर है कि—हम भो पूर्व में सम्यक् उपपादन पूर्वक कह आये हैं कि 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह अनुभव अहमंश में प्रत्यक्ष है तथा इतरांश में स्मरण है क्योंकि सुषुप्ति तथा तात्कालिक सुख असंदिग्ध होने से अनुमेय नहीं है और सुषुप्ति तथा सुख के अनुमापक ज्ञानाभाव तथा दुःखाभावादि हेतु स्वसाधक हेत्वन्तरानपेक्षा में स्वरूपासिद्ध हैं और तदपेक्षा में अनवस्था दोष है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह स्मरण ही है इस श्रीकरपात्री जी के वचन का अभिप्राय है कि—अहमंश में प्रत्यक्ष होने पर भी सुखांश और सुषुप्त्यंश में स्मरण ही है।

२८१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—(१) "विवर्तवादियों के मत में असङ्ग निर्विशेष चिति तन्मात्र आत्मा किसी भी विशेष का कभी भी आश्रय

नहीं है, वह कभी भी अहंकारादिकों से विशिष्ट नहीं होता, अहंकारादि विशिष्टता प्रभृति की उसमें केवल कल्पना ही है। सर्वविक्रियाशून्य वह कल्पनाओं का भी कर्ता नहीं हो सकता, वह सदा कूटस्थ है अतः कल्पनाओं का दुःखों का दुःखमोचनार्थ प्रवृत्तियों का आश्रय अहंकारादिकों को ही कहना होगा। अतः कृत्स्नाध्यासात्मक-वृत्तियों का कर्ता जो मोक्षार्थ प्रवृत्त है, उसका मोक्ष में विनाश ही है, अतः विवर्तवादियों के मत में मोक्ष की पुरुषार्थता का उपपादन बृहस्पति भी नहीं कर सकते।"

(२) "किञ्च अध्यास अनध्यस्त प्रमाता को ही हो सकता है, जैसे मिश्र ने कहा है—"प्रमाता संदिहानोऽप्यसंदिग्धो विपर्यस्यन्नप्यविपरीतः परोक्षमर्थमुत्प्रेक्षमाणोऽप्यपरोक्षः स्मरन्नप्यानुभविकः प्राणभृन्मात्रस्य"। अनध्यस्त प्रमाता विवर्तवादियों को मान्य नहीं है। अतः इनके मत में अध्यास के अनुपपन्न होने से अध्यासमूलक इनका अत्यन्त अनुपपन्न है।"

(३) "इस ग्रन्थकार ने एक-एक बातों का अनेकों वार पुनरुक्तियों को किया है, उसके परवश होकर समालोचक को भी उपेक्षा करते हुए भी पुनरुक्तियाँ करनी पड़ जाती है।"

इन आक्षेपों में प्रथम का उत्तर है कि—विवर्तवादियों के मत में असङ्ग निर्विशेष चिति तन्मात्र आत्मा सभी विशेषणों का कल्पनाऽधिष्ठान होने से व्यवहार-दशा में सविशेष है। वह व्यवहारदशा में अहंकारादिकों से विशिष्ट है। तथा उसको अविद्याकृत देहान्तःकरणादि तादात्म्याध्यास है यही उसका बन्ध है। वस्तुतः उसका बन्ध नहीं है—'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। वस्तुभूतबन्ध न होने से उसका मोक्ष भी वस्तुतः नहीं है। वह नित्य मुक्त है। अविद्या जीव की उपाधि है, अविद्यावृत्ति ही कल्पना है कल्पनाश्रयत्वरूप कल्पनाकर्तृत्व अविद्या में है उपाधि में कल्पनाकर्तृत्व होने से अविद्योपहितचैतन्य रूप जीव कल्पना कर्ता व्यवहृत होता है तत्त्वसाक्षात्कार रूप चरम अन्तःकरणवृत्ति से अविद्या तथा तत्कार्य अन्तःकरणादि की निवृत्ति होती है यही जीव का बन्धनाश या मोक्ष है, मोक्ष-दशा में जीव के उपाधिरूप अविद्या तत्कार्य के नाश होने पर भी उपधेय चैतन्य बना रहता है अतः मोक्ष स्वोच्छेद नहीं है इस प्रकार से—

'स्वं च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।
इति स्वोच्छित्ति मुक्त्युक्तिर्वैदग्धी वेदवादिनाम् ॥

यह आक्षेप परिहृत हुआ । तथा मोक्ष अविद्या तत्कार्य अन्तःकरणाद्युपहित चैतन्य रूप पुरुष को अर्थ्यमान हुआ ।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—'अध्यासं प्रति अनध्यस्तप्रमाता कारणम्' यह कार्यकारणभाव नहीं है क्योंकि इसमें कारणतावच्छेदक का गौरव है 'अध्यासं प्रति प्रमाता कारणम्' यह कार्यकारणभाव उचित है। क्योंकि इसमें कारणतावच्छेदक में लाघव है। विवर्तवादियों के मत में प्रमाता व्यावहारिक सत्य है अतः उसमें अध्यास उपपन्न होगा ।

'विपर्यस्यन्नपि अविपरीतः' इस मिश्र वचन का अर्थ है कि 'प्रमाता विपर्यासरूपाध्यासाश्रयोऽपि अविपरीतः—विपर्ययागोचरः' । विवर्तवादियों के मत में व्यवहारदशा में 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्, ब्राह्मणोऽहम्, कर्ताऽहं भोक्ताहं सुखी दुःखी अहम्' इत्यादि प्रत्यय विपर्यय नहीं है—

'देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥'

यह वार्तिक में लिखा है । अतः व्यवहारदशा में व्यावहारिकसत्य प्रमाता में सर्वविध विपर्यय का संभव है ।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—अहमर्थकार ने विशेष कथन के लिए पूर्वोक्त का आगे चलकर अनुवाद किया है जिसमें आपको पुनरुक्ति विभ्रम हो रहा है ।

सुषुप्ति में अज्ञानादि के अनुभव की समालोचना

२८२, २८३, २८४ पृष्ठों में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव होता ही है" यह निःसारकथन स्वमताभिनिवेशमात्र मूलक है, क्योंकि सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव इतर दार्शनिकों को मान्य नहीं है, "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्" इत्यादि श्रुतियों से निषिद्ध है । इसको पूर्व सम्यक् कह आये हैं ।

(२) "अहं अहं इस एकाकार से प्रतीति सुषुप्ति में अहमाकार वृत्ति होती ही नहीं" इत्यादि कथन प्रलापमात्र है क्योंकि अनुपपत्ति सहस्रदूषित स्वप्रक्रिया रटन से पण्डितपामर सिद्ध अनुभव तथा मीमांसा न्याय निर्धारितार्थ श्रुतिसिद्ध सिद्धान्त का खण्डन समझना सावधान कृत्य नहीं हैं। अनुभव तथा श्रुति का निरूपण पूर्व सम्यक् कर आये हैं।

(३) संसारदशा में सामग्र्यधीन बाह्यार्थगोचर ज्ञान के सामग्र्यभाव कृत अभाव होने पर भी स्वयंज्योतिः विज्ञान घन अहमर्थ प्रत्यगात्मा के अहं-अहं इस एकाकार:से प्रतीति में कोई आपत्ति नहीं है।

(४) "परामर्श दशा में अहमर्थ के विद्यमान होने से अनुभूति में अहमर्थ का अध्यास करके 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह परामर्श होता है" इत्यादि प्रकार के प्रलापों से अनुभवों के तथा श्रुत्यादि प्रमाणों के स्वारस्य सिद्धार्थ को दूषित कर तथा स्वोत्प्रेक्षित यत् किञ्चिदर्थपरत्व की कल्पना कर कोई भी धृष्ट किसी भी अनुभव को तथा किसी भी श्रुति को स्वोत्प्रेक्षितार्थ में प्रमाण दे सकता है, ऐसी स्थिति में किसी भी अनुभव को तथा किसी भी श्रुति की किसी अर्थ की प्रमापकता नहीं रह जायगी।"

(५) इसीलिए संमान्यपञ्चपादिकाकार कहते हैं कि—"अवहितचेतस्तथा निपुणतममभिवीक्ष्य रूपकपरीक्षकवत् स्वानुभवमप्रच्छादयन्तो वदन्तु भवन्तः परीक्षकाः" इति। अतः अनुभवों के तथा श्रुतियों के स्वारसिकार्थ को दूषित कर तथा स्वोत्प्रेक्षितार्थ परत्व की कल्पना कर स्वोत्प्रेक्षितार्थ में प्रमाण देना यह परीक्षककृत्य नहीं है। किन्तु अनुभवस्वारस्य से तथा श्रुतिस्वारस्य से अर्थ को सिद्ध करना यही सुपरीक्षक का कर्तव्य है।

(६) "सुखमहमस्वाप्सम्' इस परामर्श के स्वारस्य से सुषुप्ति में अहमर्थ आत्मा का सद्भाव सिद्ध है।"

इन आक्षेपों में प्रथम आक्षेप का उत्तर यह है कि—"विशिष्टाद्वैत इतर दार्शनिकों को मान्य नहीं है अतः वह अमान्य है। 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' इत्यादि श्रुतियों से बाह्य तथा आन्तर सर्व पदार्थविषयक वृत्तिरूप ज्ञान का अभाव सिद्ध होता है, अज्ञान विषयक साक्षिरूप निर्विकल्पक तथा अनभिलप्य ज्ञान तो

सुषुप्ति दशा में रहता ही है। क्योंकि स्वयंज्योतिःस्वरूप आत्मा नित्य होने से सुषुप्ति में भी रहता ही है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—'अद्वैतसिद्धि' और 'गौडब्रह्मानन्दी' में अद्वैत प्रक्रिया के अनुपपत्ति सहस्रों का उद्धार किया गया है। कोई भी पण्डित पामर सिद्ध अनुभव सुषुप्ति में अहमर्थ के अनुभव को नहीं सिद्ध करता। हम भी अनुभव तथा श्रुति का निरूपण पूर्व में सम्यक् कर आये हैं।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा की सुषुप्ति में अहं-अहं प्रतीति नहीं होती। क्योंकि प्रत्यगात्मा अहं पद का अर्थ नहीं है और सुषुप्ति में अहंकार का विलय है। और सुषुप्ति में कोई भी सप्रकारक प्रतीत नहीं होती। अतः अहंत्वप्रकार प्रतीति भी तदानीं नहीं होगी। कोई भी सप्रकारक प्रतीति करणजन्य ही होती है सुषुप्ति में सभी करणों का अभाव है।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि—श्रीकरपात्री जी के इस वचन को प्रलाप कह देने से ही यह वचन प्रलाप नहीं होगा। क्या परामर्श दशा में अहमर्थ विद्यमान नहीं है? और क्या परामर्श दशा में अनुभूति में अहमर्थ का अध्यास अनुपपन्न है? यदि है तो सिद्ध कीजिये, यदि नहीं तो प्रलाप कहना अनुचित है।

पाँचवे आक्षेप का उत्तर है कि—विवर्तवादी अपने अनुभव का प्रच्छादन नहीं करता और अनुभवों तथा श्रुतियों के स्वारसिकार्थ को दूषित नहीं करता। श्रुतियों के स्वोत्प्रेक्षितार्थ परत्व की कल्पना तो आप ही करते हैं, अन्यथा विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त नहीं सिद्ध होगा। अनुभव तथा श्रुतिस्वारस्य को अवहेला तो आप ही करते हैं। बताइये कौन अनुभव और कौन श्रुति विशिष्टाद्वैत को सिद्धकर रही है। इसका नामग्राह पूर्वक उत्तर दीजिये।

छठे आक्षेप का उत्तर है कि—'सुखमहमस्वाप्सम्' यह परामर्श अहमंश में प्रत्यक्ष है और इतरांश में स्मृति है। अतः इस परामर्श के स्वारस्य से सुषुप्ति में अहमर्थ का सद्भाव नहीं सिद्ध होता।

२८४ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी कहते हैं कि—

(१) "प्रत्यक्त्व और अहंता का कोई सामानाधिकरण्य नहीं" यह कथन विचित्र के प्रलापों के समान है। संपूर्ण आचार्यों ने प्रत्यगर्थ का व्यवहार 'अस्मद्' शब्द से ही किया है। विवर्तवादियों के भाष्यकारने भी—

"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः अस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके—सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदम्—कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषये - अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्"

इत्यादि प्रयोगों से अहमर्थ और प्रत्यक् को एक सिद्ध किया गया है। तथा प्रत्यक् को केवल अस्मत् प्रत्ययगोचर कहा है। परागर्थ व्यावृत्तप्रत्यगर्थ का साधक केवल अस्मत्प्रत्यय ही है इसको पूर्व सम्यक् कह आये हैं।"

(२) "अकल्पित प्रमाता को अकल्पित दोष से ही अध्यास लोक में दृष्ट है। विवर्तवादियों को अकल्पित प्रमाता तथा अकल्पित दोष मान्य नहीं हैं अतः उनके मत में अध्यास अनुपपन्न है, अध्यास को अनुपपत्ति से अध्यासमूलक सारी प्रक्रिया अनुपपन्न है। अनुपपन्न प्रक्रिया का अभ्यसन किसी अर्थ की साधिका नहीं है"।

इन आक्षेपों में प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि—अहंत्व शब्द में त्वप्रकृतिभूत अहं शब्द अव्यय है। उसका अर्थ अहंकार है। अतः अहंत्व अहंकार का धर्म है। अहमाकार वृत्तिविशिष्ट अतः करण को अहंकार कहते हैं अहमाकार वृत्ति गर्वात्मक है।

'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥'

यह इसमें प्रमाण है 'अहं शुंभमोर्युस्'। इस सूत्र के अर्थ तथा साध्य प्रयोग के अर्थ के पर्यालोचन से भी अहं शब्द का अव्ययत्व तथा अहंकारार्थकत्व निर्धारित होता है। 'अस्मद्' शब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा है उसमें अहंत्व नहीं रहता क्यों कि वह निर्धर्मक है जो उसमें धर्म मानेगा वह भी उसमें मत्त्व मानेगा अहंत्व नहीं। 'अहम्' यह रूप 'अस्मद्' के प्रथमा में भी बनता है अतः उसका विषय प्रत्यगात्मा हो सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अहं शब्द अव्यय अहंकार का वाचक है और अस्मद् शब्द प्रत्यगात्मा का वाचक है और उसका आध्यासिक धर्ममत्त्व है अहंत्व नहीं तब प्रत्यक्त्व और अहंत्व का सामानाधिकरण्य कैसा। प्रत्यक्त्व और मत्त्व एक हो सकता है अथवा समानाधिकरण हो सकता है।

(२) दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि – प्रमाता दोषसहकार से अध्यास का कारण है। यही कार्यकारणभाव है कारणतावच्छेदक कोटि में प्रमातृ विशेषणतया तथा दोषविशेषणतया अकल्पितत्व का निवेश गौरवग्रस्त है विवर्तवाद में प्रमाता तथा दोष व्यावहारिक सत्य हैं अतः उनसे अध्यास की उपपत्ति अवश्य हो जायेगी।

"कुछ लोग कहते हैं—सुप्ति में तमोगुण से अभिभूत होने के कारण परागर्थ का अनुभव नहीं होता। इसीलिए अहमर्थ का स्फुट अनुभव न होने पर भी अहं-अहं रूप से सुषुप्ति में अहमर्थ आत्मा का अनुभव होता ही है"।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं है—जिसके मत में अहमर्थ प्रत्यगात्मा है उसके मत में तो वह त्रिगुणातीत है, फिर उसका तमोगुण से अभिभव कैसे हो सकेगा ? यदि कहा जाय कि प्रकृति के संसर्ग से स्वतः त्रिगुणातीत होने पर भी उसमें सगुणता संभव है तो यह भी ठीक नहीं। कारण असङ्ग में प्रकृति संसर्ग सम्भव ही नहीं है। "असङ्गो नहि सज्जते" श्रुति आत्मा को असङ्ग कहती है इत्यादि प्रलाप शास्त्राभ्यास श्रमभीरु यतस्ततः कुछ वाक्यों को सुनकर कृतार्थंमन्य के हैं। जो श्रुति—"असङ्गों ह्ययं पुरुषः" इत्यादि वाक्यों से जिस पुरुष को असङ्ग कह रही है वही जनक याज्ञवल्क्य संवादात्मिका श्रुति उसी पुरुष को —

"स वा अयमात्मा ब्रह्मविज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते"।

इत्यादि वाक्यों द्वारा सकल प्राकृत विकारों से समन्वारब्ध कहती है। इन श्रुतियों का विज्ञ के साथ सम्यक् विचार करने से त्रिगुणातीत के तमोगुणाभिभूतत्व का कथन ठीक लगेगा। हम लोग दुष्प्रक्रिया का अवलम्बन करके अनुभवों के तथा श्रुतियों के स्वारसिकार्थ का संवरण करने वाले नहीं हैं। किन्तु प्रमाणानुग्राहक तर्कों से प्रमाणों को स्वार्थ में प्रतिष्ठित करने वाले हैं।

इसका समाधान यह है कि—आत्मा को श्रुति असंग तथा प्राकृत विकारसंगी दोनों ही वताती हैं भावाभाव का संसार में विरोध प्रसिद्ध है अत: आत्मा का असङ्गत्व वास्तव तथा गुण सङ्ग अध्यारोपित समझना चाहिए। यह विवर्तवादियों का मत है, बिना अध्यारोप के अपवाद नहीं होता। "निषेधाश्च वलीयांस:" इस न्याय से निषेध पक्ष ही प्रवल है। श्रुति असंगत्वांश में प्रमाण है क्योंकि आत्मा असङ्गत्व अपूर्व है। आत्मा का गुण संग इतर प्रमाणों से प्राप्त है अत:, श्रुति उस अंश में अनुवादिका है। अत: आत्मा का गुण संग श्रुत्यभिमत नहीं है। श्रुति कहीं पर अनुवाद कहती है जैसे—"अग्निर्हिमस्य भेषजम्"। कहीं पर अर्थवाद है—जैसे रुद्ररोदनश्रुति, कहीं पर लाक्षणिकार्थं ग्राहिका भी है जैसे "यजमान:, प्रस्तर:" इत्यादि। ऐसी दशा में श्रुति के बल से आत्मा में विरुद्धार्थ कल्पना उचित नहीं है। विज्ञों का यही विचार है।

२८६ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियें को साक्षि चेतन्य का अनुभवाश्रयत्व रूप अनुभवितृत्व मान्य नहीं है अत: "वही अविद्या वृत्तियों से सुख एवं अज्ञान का अनुभव करता है" यह कथन ठीक नहीं है"

इसका समाधान यह है कि—सुषुप्ति में अविद्यावच्छिन्न साक्षिचैतन्य अनुभविता है, अविद्यावृत्ति अनुभव है। वह अविद्या में है विशेषण को अनुभवाश्रय होने से विशिष्ट को अनुभविता कहा जाता है। केवल साक्षिचैतन्य अनुभविता नहीं है वह तो अनुभवरूप है।

२८६ पृष्ठ में यह कहना कि—"अत्रायं पुरुष: स्वयं ज्योति:" इस श्रुति में पुरुषरूप प्रत्यगात्मा संविन्मात्र नहीं है किन्तु ज्ञाता ही है" परम असंगत है क्योंकि ज्ञान का ही स्वप्रकाशत्व युक्तिसंगत है ज्ञानाश्रय का नहीं। वह तो ज्ञान से वेद्य है पुरुषोत्तम भी मायोपहितचैतन्य होने से वेद्य ही है। निर्विशेष चिद्रूप ब्रह्म स्वप्रकाश है वह ज्ञाता नहीं है किन्तु ज्ञान स्वरूप है। श्रुतियों में सूत्रों में उपहित चेतन्य द्रष्टा श्रोता ज्ञाता उपाधिवृत्ति सम्बन्ध से कहा गया है। अद्वैतवाद श्रुति विरुद्ध नहीं है किन्तु "शिवमद्वैतं तुरीयं मन्यन्ते" इत्यादि श्रुति संमतहै। पुरुष पद का सर्वपापदाहकत्वादि अर्थं व्यवहारदशा में ठीक ही हैं क्योंकि सर्वपापदाहक पुरुष उपहित है। असङ्गपुरुष में प्रकृति संसर्ग वस्तुत: संभव नहीं है, किन्तु जैसे असंग आकाश घटावच्छिन्न कहा जाता है, उसी तरह असंग चैतन्य अविद्या से

अहंकारावच्छिन्न व्यवहृत होता है। "यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्" इस श्रुति का अर्थ है कि–जो गन्ध ग्रहणविषयक इच्छा का आश्रय है वह आत्मा है और गन्धग्रहण के लिए घ्राणेन्द्रिय है। इच्छा का आश्रय अन्तःकरण श्रुतिसंमत है। 'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। मनोऽवच्छिन्न चैतन्य आत्मा जीव है, अतः मन रूप विशेषण के इच्छाश्रय होने से विशिष्ट आत्मा को इच्छाश्रय कहा। घ्रातृत्वादि आत्मा का स्वाभाविक धर्म है यह इस श्रुति के पदों से सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार द्रष्टृत्व भी निर्विशेष आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है आत्मा तो अपरोक्ष ज्ञानस्वरूप है। किन्तु द्रष्टृत्वादि मनोधर्म हैं दर्शन आदि वृत्तिरूप ज्ञान हैं।

२८८ पृष्ठ में –किसी को संविद् में द्रष्टृत्वादि का भ्रम होने पर भी सर्वज्ञ श्रुति संविद् को द्रष्टा श्रोता नहीं कह सकती, यह श्री त्रिदण्डी जी का कथन असंगत है क्योंकि असंग अनुपहित निर्विशेष चैतन्य का वर्णन अशक्य है अतः स्थूलारुन्धती निदर्शन न्याय से उपहित आत्मा का वर्णन श्रुति श्रोतृ हित के लिए कर रही है।

यद्यपि विवर्तवादियों को अनभ्यस्त प्रमाता और अनभ्यस्त दोष मान्य नहीं है तथापि उनके मत में प्रमाता और दोष दोनों ही व्यावहारिक सत्य हैं अतः उनके मत में अध्यास अनुपपन्न नहीं है। ज्ञान का आत्मरूपत्व श्रुतिसिद्ध है किन्तु ज्ञान का गुणत्व श्रुतिसिद्ध नहीं है। वृत्तिरूप ज्ञान का मनः परिणामत्व पूर्वोदाहृत श्रुति से सिद्ध है।

२८९ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी परमात्मतत्त्व को श्रुत्येकसमधिगम्य कहते हैं और जीवात्मतत्त्व को अनुभव तथा श्रुति उभय से ज्ञेय कहते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से परमात्मा और जीवात्मा का ऐक्य सिद्ध है। अतः दोनों ही श्रुत्येकसमधिगम्य ही हैं। "नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानाति अयमहमस्मीति" यह श्रुति "अयमस्मि, अहमस्मि' दोनों ज्ञानों का सुषुप्ति में निषेध करती है। अतः सुषुप्ति में "अहमहम्" यह ज्ञान कहना असंगत है। "ममाप्यहं नाज्ञासिषम्" यह अहमंश में प्रत्यक्ष है और अज्ञानांश में परामर्श है यह हम पहले कह चुके हैं। जैसे—"पर्वतो वह्निमान्" यह

अनुमिति पर्वतांश में प्रत्यक्ष है और वह्न्यंश में परोक्ष है। "नाहं गृहे घटमपश्यम्" यह ज्ञान भी अहमंश में प्रत्यक्ष ही है इतरांश में परामर्श है। अत: यह दृष्टान्त रूप से "मामप्यहं न ज्ञासिषम्" के अहं विषयक परामर्शत्व का साधक नहीं हो सकता।

२९१ पृष्ठ में श्री करपात्री जी के प्रश्न विकल्पों का उत्तर न देकर श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"गुरुपरम्परा से श्रीभाष्याधीती से श्रीभाष्य का अध्ययन करना चाहिये"।

यह कहना उचित नहीं क्योंकि गुरुपरम्परा से श्रीभाष्याधीती श्री त्रिदण्डी जी हैं ही उनको उत्तर देना उचित था।

"मोक्ष में भी अहं नहीं रहता" इत्यादि कथन अर्थहीन है, इसका उपपादन कर आये हैं।

इस श्री त्रिदण्डी जी के कथन का उत्तर यही है कि—यह कथन अर्थहीन है क्योंकि इसका उत्तर हम कर आये हैं।

२९१ पृष्ठ में ही श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—जैसे दुःखनाश के लिए प्रयत्नशील होता है इत्यादि की समालोचना सम्यक् पूर्व हो चुकी है।

इसका उत्तर यह है कि—इस समालोचना का उत्तर भी पूर्व में हो चुका है।

२९१ तथा २९२ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी कहते हैं कि—"विवर्तवादियों के मत में मोक्ष प्रवृत्ति का अनर्थहेतुत्व अनिवार्य है"

इसका उत्तर है कि—अहंकार और आत्मा का तादात्म्याध्यास अविद्या के कार्य अहंकार में है। क्योंकि अविद्यावृत्ति रूप अध्यास दो प्रकार का होता है, एक व्यावहारिक दूसरा प्रातिभासिक। व्यावहारिक अध्यास अविद्या कार्य अन्त: करण में रहता है। जैसे—देहेन्द्रियाहंकारादि तादात्म्याध्यास। प्रातिभासिक अध्यास अविद्या में रहता है और अविद्यावच्छिन्न चैतन्य में आश्रितत्वेन व्यवहृत होता है। व्यावहारिक अध्यास आत्मसाक्षात्कार से निवृत्त होता है और प्रातिभासिक अध्यास रज्ज्वादिरूपाधिष्ठान के साक्षात्कार से भी निवृत्त होता है। अत: व्यावहारिक तादात्म्याध्यास निवृत्ति फलक मोक्षार्थ प्रवृत्ति अनर्थ हेतु नहीं है। तादात्म्याध्यास से अहंकार धर्म सुखदुःखादि आत्मा में भासता है। अत: तादात्म्याध्यास निवृत्ति प्रयास उचित है।

२९२ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—इन कल्पनाओं का कल्पक कौन होगा।

इसका उत्तर है कि—इन कल्पनाओं का कल्पक अन्तःकरण है वह अविद्या कार्य होने पर भी जगत् के तरह व्यावहारिक सत्य है। 'एष संप्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय—इत्यादि स उत्तमः पुरुषः' इत्यन्त श्रुतिवाक्य सुषुप्ति में आत्मस्वरूप का प्रतिपादक है और 'स तत्र पर्येति' इत्यादि 'नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्' इत्यन्त श्रुति वाक्य स्वप्न में आत्मस्वरूप का प्रतिपादक है। अर्थात् सुषुप्ति में अनुपहित आत्मा है और स्वप्न में उपहित।

अथवा पूर्ववाक्य विदेहमुक्ति का प्रतिपादक है और उत्तरवाक्य जीवन्मुक्ति का प्रतिपादक है। अतः इस श्रुतिवाक्य से सर्वोपाधिविनिर्मुक्तमुक्त अहमर्थ आत्मा का स्वसंकल्पमात्रोपस्थित सर्वपुरुषार्थानुभवितृत्व मोक्षावस्था में नहीं सिद्ध होता। मुक्त अहमर्थ की सर्वज्ञता में कोई प्रमाण नहीं है। मुक्त आत्मा तो असंग सर्व प्रपञ्चोपशम तथा अद्वितीय है। तब सर्वाभाव में सर्वज्ञता कैसी? 'भेदादयो नानुभूतिधर्माः दृश्यत्वाद् रूपादिवत्' इस अनुमान में एकत्वनित्यत्व स्वप्रकाशत्व आदि धर्म पक्षकुक्षि क्षिप्त हैं। यह भी अनुभूति के धर्म नहीं हैं। एकत्व-अनेकत्वाभावरूप-नित्यत्व-अनित्यत्वाभावरूप-स्वप्रकाशत्व-परप्रकाश्यत्वाभावरूप हैं। अतः यह समत्वाधिकरणीभूत अनुभूतिस्वरूप हैं अनुभूति के धर्म नहीं हैं। "एकत्व नित्यत्व स्वप्रकाशत्व आदि धर्म भी मिथ्या ही हैं। अत एव अपसिद्धान्त आदि दोष नहीं ठहरता" यह श्रीकरपात्री जी का कथन ठीक ही है क्यों कि यह सब धर्म मिथ्याभूत तथा प्रकृत पक्ष के कुक्षिनिक्षिप्त हैं। ऐसा मानने में कोई अपसिद्धान्त नहीं है। विवर्तवादी अनुभूति में नित्यत्व स्वप्रकाशत्व-एकत्व का समर्थन इस लिए करते हैं कि एकत्व अनेकत्वाभावरूप-स्वप्रकाशत्व-परप्रकाश्यत्वाभावरूप-और नित्यत्व जन्यत्वाभाव समानाधिकरणध्वंसप्रतियोगित्वाभावरूप है। यह सब अनुभूति में रहते हुए भी अनुभूति स्वरूप हैं। अनुभूति के धर्म नहीं है क्योंकि अभाव अधिकरण स्वरूप विवर्तवादियों को अभिमत है।

बौद्धों की अनुभूति तथा विवर्तवादियों की अनुभूति में व्यवहार तथा

परमार्थ में महान् अन्तर है जो श्रीत्रिदण्डी जी को द्वेषान्धवो होने से प्रतीत नहीं होता।

अब दोनों की अनुभूति में भेद सुनिये। विवर्तवादियों की अनुभूति परमार्थ में एक है, बौद्धों की अनुभूति अनन्त तथा परस्परव्यावृत्त है, विवर्तवादियों की अनुभूति कूटस्थ नित्य है। बौद्धों की अनुभूति विषयाकारेण परिणामिनी तथा क्षणिक है। विवर्तवादियों की अनुभूति वासना रहित है उनके मत में वासना संक्रम नहीं होता, बौद्धों की अनुभूति वासनावती है उनकी अनुभूति में वासना संक्रम होता है। इत्यादि भेद के रहते हुए दोनों के मत में कोई अन्तर नहीं है। यह कथन प्रलापमात्र है।

'भेदादयो नानुभूतिधर्माः' इस अनुमान प्रयोग में अनुभूतिधर्मत्वाभाव अथवा अनुभूति भेदसाध्य ही असिद्ध प्रतियोगिकाभावत्व प्रयुक्त साध्याप्रसिद्धि नहीं है। क्यों कि 'शशशृङ्गं नास्ति' इत्यादि अनुभवबल से अद्वैती अप्रसिद्ध-प्रतियोगिक भी अभाव मानते हैं। यदि न भी माना जाय तो अद्वैतमत में अनुभूति एकत्व नित्यत्वादिधर्म अविद्याकल्पित हैं अतः अविद्याधर्मत्व की वहाँ पर भ्रान्तिरूप प्रसिद्धि हो गयी। 'अभावबुद्धि प्रति प्रतियोगिज्ञानं कारणम्' यह कार्य-कारणभाव लघुभूत होने से उचित है। प्रतियोगी प्रमात्वकारणावच्छेदक गुरुभूत होने से हेय है। 'अनुभूतिर्निर्विशेषा सर्वधर्मशून्यत्वात्, व्यतिरेके घटादिवत्' इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि के परिहार के लिए 'भेदादयो नानुभूतिधर्मा दृश्यत्वाद् रूपादिवत्' इस अनुमान की प्रवृत्ति हुई। अतः श्री त्रिदण्डी जी का २९९ पृष्ठ में यह कथन प्रलापमात्र है कि—

"यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि—पूर्वोक्त अनुमानभेद आदि धर्मपक्षक हैं अनुभूति पक्षक नहीं"।

निर्विशेषत्व साधकानुमान में श्री त्रिदण्डी जी दुरुद्धर दोषों की प्रतिज्ञा करते हैं किन्तु उनका उल्लेख नहीं करते। अतः यह कथन भी प्रलापमात्र है।

"आश्रयत्व विषयत्व आदि अनुभूति के विशेष प्रमासिद्ध हैं या भ्रमसिद्ध यह संशय होता है। अनुमान से अनुभूति की निर्विशेषता सिद्ध करके सविशेषत्व को भ्रमसिद्ध बताया जाता है।"

यह श्रीकरपात्री जी का कथन युक्ति संगत है। क्योंकि प्रकृत संशय संवादि-प्रवृत्ति से निराकृत नहीं हो सकता। क्योंकि पक्षीभूत अनुभूति प्रवृत्त्यगोचर है। "अहं सुखी, अहमिहास्मि" इत्यादि ज्ञानों के प्रमात्व में संशय यद्यपि कदापि नहीं होता, तथापि उनके सविशेषत्व निर्विशेषत्व का संशय तो मतभेद से होता ही है।

२९७ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अनादिकाल से कभी भी किसी भी अनुभविता को निर्विषयक निराश्रयक ज्ञान की उपलब्धि नहीं हुई"।

यह उक्ति वृत्ति रूप ज्ञान के लिये उचित हो सकती है। ब्रह्म रूप नित्य विज्ञान के लिए नहीं। वह तो उपलब्धि रूप होने से उपलब्धि का अगोचर है और अद्वितीय होने से निर्विषय तथा निराश्रय है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इस श्रुति से निर्विषयक तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति से निराश्रयक ज्ञान रूप ब्रह्म सिद्ध है। निर्विषयक तथा निराश्रयक ज्ञान उपलब्धिस्वरूप है अतः उपलब्धि का विषय नहीं है। पञ्चपादिकाकार सविषयक वस्तुविशेष को ही वृत्तिरूप अनुभव के वाचक अनुभव पद का वाच्य समझते हैं। विवरणकार के मत में भी ज्ञातृसमवेत ज्ञान साभासवृत्ति रूप ही है। 'लौकिक या अलौकिक अनुभूति का सविषयकत्व साश्रयकत्व रूप विशेष प्रमासिद्ध है या भ्रमसिद्ध' यह संशय हो सकता है। क्योंकि अलौकिक अनुभूति में यह विशेष भ्रमसिद्ध है और लौकिक अनुभूति में प्रमासिद्ध है। अतः २९७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी का आक्षेप प्रलाप मात्र है।

"भेदादयो नानुभूतिधर्मा दृश्यत्वाद् रूपादिवत्"

यह विवर्तवादियों का अनुमान 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति से अनुगृहीत है, अतः दुरनुमान नहीं है।

"रूपगन्धादयो न पृथिव्यादिधर्मा, दृश्यत्वाद्, अनुभूत्यादिवत् सुखादिवद् वा" यह दुरनुमान है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि श्रुतियों से अनुगृहीत निर्गुणबोधक श्रुतियों का पारमार्थिक प्रामाण्य है और सगुण बोधक श्रुतियों का तद्विरोध में देहात्मप्रत्यय के तरह व्यावहारिक प्रामाण्य है।

अतः २९८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी का यह आक्षेप कि—"कृत्स्न श्रुतिवाक्यों के अप्रामाण्य का वारण कौन कर सकता है।"

यह प्रलापमात्र है। निर्गुण ब्रह्म सर्वव्यवहारातीत है अतः तद्बोधक श्रुतियों का व्यावहारिक प्रामाण्य अनुपपन्न है। अतः उनका पारमार्थिक प्रामाण्य है। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इन दोनों श्रुतियों के विषय में सामान्यविशेषभाव होने से उत्सर्गापवादन्याय से संकोच करके विषयभेदव्यवस्था संभव है किन्तु सगुण निर्गुण बोधक श्रुतिवाक्यों में उत्सर्गापवादन्याय से विषयसंकोचपूर्वक विषयभेद व्यवस्था का संभव नहीं है क्योंकि उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं है।

किञ्च जब भगवान् सर्वाधार तथा व्यापक हैं तब कल्याण अकल्याण दोनों गुणों का आश्रय हैं। भगवान् हेय गुणों से रहित हैं, यह निर्गुणबोधक श्रुतिवाक्यों का अर्थ नहीं है।

'भेदादयो नानुभूतिधर्माः, दृश्यत्वाद् रूपादिवत्' यह अनुमान 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च, नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों से अनुगृहीत है। अतः सदनुमान है और—

"रूपगन्धादयो न पृथिव्यादिधर्माः, दृश्यत्वाद, अनुभूत्यादिवत् सुखादिवद् वा।" इत्यादि अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने से दुरनुमान हैं।

अतः श्रीत्रिदण्डी जी का २९७ पृष्ठ का सब आक्षेप प्रलाप मात्र है। उपास्य ब्रह्म में गुणों का अध्यारोप उपासना में प्रवृत्ति सिद्धयर्थं हो सकता है, ब्रह्म में निर्गुणत्व के अध्यारोप का कोई फल नहीं है। अतः निर्गुणत्व ब्रह्म में वास्तव है, ब्रह्म में गुणबोधकपदों का कल्याणगुण में लक्षणा करना और निर्गुण पद का हेय गुण रहित में लक्षणा करना जघन्य है। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्र से मायोपहित चेतन ब्रह्म का जगत्कारणत्व तथा अचेतन प्रकृति का तदभाव सिद्ध होता है इस सूत्र से ब्रह्म में कल्याणगुणाश्रयत्व नहीं सिद्ध होता। उपासना परवाक्यस्थ विशेष बोधक अवान्तरवाक्यविशेषों के अध्यारोपविधया विधायक हैं, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्यथा विधि में निर्गुण बोधक श्रुतियों का विरोध है श्रुतियों के प्रामाण्य से अपरमार्थ विषयक उपासना से भी फल होता है। जैसे अपरमार्थ

विषयक स्वप्न से फल होता है। "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इस सूत्र में तद्धर्म पद से ब्रह्म में अध्यारोपित धर्मों का निर्देश है क्योंकि ब्रह्म वस्तु तो निगुण ही श्रुति संमत है। जैसे सांख्यसिद्धान्त में पुरुष निर्विशेष है उसी प्रकार वादरायण दर्शन में भी वादरायण ने पुरुष के निर्विशेषत्व का खण्डन कहीं भी नहीं किया है। सांख्य के स्वतन्त्र प्रकृतिकारणतावाद तथा पुरुषनानात्ववाद का ही उन्होंने खण्डन किया है। आनन्दादि उपास्य ब्रह्म के अध्यारोपित गुण हैं। वस्तुतः ब्रह्म तो सच्चिदानन्दरूप है वह उपास्य नहीं है। क्योंकि श्रुति कहती है—

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्मणत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥'

उपासना से क्रमिक मुक्ति (ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप) प्राप्त होती है। कैवल्यरूप मुक्ति नहीं प्राप्त होती। क्रतु संकल्प को कहते हैं। संकल्प का विषय पदार्थ अविद्यमान होने से अतथ्य है। अतः तत्क्रतुन्याय से क्रियमाण ब्रह्मोपासना यथावस्थित ब्रह्म विषयक नहीं है। 'अनुभूतिः सविशेषा भासमानत्वात् घटादिवत्' इस अनुमान में हेतु स्वरूपासिद्ध है क्योंकि साभासमानत्व विषयत्व रूप है। और अनुभूति में विषयत्व अद्वैती को मान्य नहीं है। भास धात्वर्थ विषयता है और 'शानच्' का अर्थ आश्रयत्व रूप कर्तृत्व है।

'सजातीयप्रकाशान्तरनिरपेक्षः प्रकाशमान एव' इस विवरण वाक्य से अनुभव में स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है विषयत्व रूप भासमानत्व नहीं। विधिरूप एकत्व नित्यत्व स्वरूपातिरिक्त है, किन्तु अनेकत्व निषेधरूप एकत्व और कार्यत्व निषेधरूप नित्यत्व अभावरूप होने से स्वरूपातिरिक्त नहीं है। भावरूप एकत्वादि अनुभवरूप ब्रह्म में अध्यारोपित हैं। अभावरूप एकत्वादि ब्रह्मस्वरूप होने से परमार्थ हैं। अनुभूतिस्वरूपका व्यावहारिकभेद तथा तद्धर्म एकत्वादिका व्यावहारिक भेद विवर्तवादी को मान्य है। इस प्रकार अनुभूति में सविशेषत्व अध्यारोपित है। परमार्थ तो अनुभूति में निर्विशेषत्व ही है। उत्सर्गापवादन्याय से अनुभूति के सविशेषत्व और निर्विशेषत्व व्यवस्था का खण्डन हम पूर्व में कर आये हैं।

"चतुर्मुखायुर्यदि कोटिवक्त्रो भवेन्नरः क्वापि विशुद्धचेताः।
स ते गुणानामयुतैकदेशं वदेन्न वा देववर प्रसीद ॥"

इत्यादि वाक्यों से भगवान् के अध्यारोपित गुण ही सिद्ध होंगे। अन्यथा निर्गुणबोधक श्रुतिवाक्य विरोध दुर्वार है। इस प्रकार श्री त्रिदण्डी जी से २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२ पृष्ठों में उद्भावित समस्त आक्षेपों का समाधान हो जाता है।

३०३ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी यह प्रयास किये हैं कि—"सुखमहमस्वाप्सम्" इस परामर्श से सुषुप्ति में अहमर्थ का भान होता है अन्यथा अहमर्थ का परामर्श अनुपपन्न होगा।"

किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि—उक्त परामर्श अहमर्थ विषय में प्रत्यक्ष है स्मरण नहीं। सर्वविषयक ज्ञान के अभाव को ही सुषुप्ति कहते हैं तब उसमें अहमर्थ का ज्ञान कैसे। सुषुप्ति में अहमर्थ का ज्ञान अनुभवविरुद्ध भी है। 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह ज्ञान सामान्य का निषेध है। 'न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्' यह श्रुति आन्तर अहमर्थ के ज्ञान का भी निषेध करती है।

विवर्तवादी सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्वादिरूप से उपास्य ब्रह्म के स्वरूप को मिथ्या बताते हैं, इसमें प्रमाण—'तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' यह श्रुति है। निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप परमार्थ है इसमें—'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। अतः इस विषय में श्री त्रिदण्डी जी का आक्षेप श्रुति-विरुद्ध है।

३०५ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सुषुप्त्यवस्थजीवाभिमानी भगवान् प्राज्ञपदाभिधेय सदा स्वतः सर्वज्ञ हैं अज्ञान गन्ध से सदा ही अस्पृष्ट है।"

यह कथन असंगत है। क्योंकि जब सुषुप्ति में सर्व नहीं तब सर्वज्ञता कैसी। और 'न किञ्चिदवेदिषम्' इस परामर्श से सुषुप्त पुरुष में सुषुप्ति दशा में अज्ञान सिद्ध होता है।

'अहं नाज्ञासिषम्' इस परामर्श वाक्य में अहं पद का लक्ष्यार्थ अहमर्थ या शुद्ध आत्मा है, यह श्री करपात्री जी का कथन युक्तियुक्त है। क्योंकि अज्ञाना-श्रयत्व शुद्ध आत्मा में बन सकता है, लिखा है—

'आश्रयत्व-विषयत्व-भागिनी निर्विभागचितिरेव केवला'

अविद्यावच्छिन्न चित् भी अहं पद का लक्ष्यार्थ है उसमें अज्ञानाश्रयत्व बन सकता है। अहं पद का वाच्यार्थ अहंकार है अथवा तदवच्छिन्न चित् है उसमें

अज्ञानाश्रयत्व नहीं उपपन्न होगा। क्योंकि ज्ञान तथा अज्ञान दोनों चित् में ही उपपन्न होगा जड़ में नहीं। अहंकार स्वरूपतः जड़ है—तदवच्छिन्नचिद्रूप विशिष्ट विशेषण के जड़ होने से जड़ है। इस प्रकार अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति होने से यहां पर लक्षणा उपपन्न है।

यद्यपि साक्षिचैतन्य का अनुभव मात्र स्वरूप है तथापि अन्तःकरणोपहित-चैतन्य साक्षि-चैतन्य है, अतः अन्तःकरण की अनुभव रूप तथा स्मरण रूप वृत्ति भी साक्षी की उपाधि है अतः तदुपहित साक्षिचैतन्य अनुभविता तथा स्मर्ता हो सकता है। अहमर्थं आत्मा के धर्मभूत ज्ञान का सुषुप्ति में संकोच और जाग्रत् में प्रसार होता रहता है, यह विशिष्टाद्वैतियों का सिद्धान्त अनुभव श्रुति तथा सूत्रों से विरुद्ध है। क्योंकि निरवयवज्ञान का संकोच विकास अनुपपन्न है सावयवत्व मानने पर अनित्यत्वापत्ति है। यह सब पहले कई बार कह आये हैं।

'सुप्ति में मैं नहीं जानता हूँ' ऐसा अनुभव होता है यह श्री करपात्री जी की उक्ति अत्यन्त युक्त है। उस अनुभवोक्ति का अभिप्राय यह है कि— उत्थान समय में मैं जानता हूँ सुप्ति में मैं नहीं जानता हूँ।"

३०६ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"नाहं किञ्चिदवेदिषम्' यह अनुभव सुप्तिकाल में सर्वाभ्युपगत ज्ञानाभाव का साधक है वन्ध्यासुत समान भावरूप अज्ञान का साधन नहीं है"।

इसका उत्तर यह है कि—'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' यह अनुभव नहीं है किन्तु स्मरण है सुषुप्ति में ज्ञानाभाव ज्ञान के विना सुप्तोत्थित को उसका स्मरण अनुपपन्न है। सुषुप्ति में ज्ञानाभाव का ज्ञान अनुभव विरुद्ध है क्योंकि सुषुप्ति में किसी भाव या अभाव का ज्ञान नहीं रहता है और भावरूप अज्ञान वन्ध्यासुत-समान नहीं है क्योंकि—

'देवदत्तप्रमातत्स्थ–प्रमा–भावातिरेकिणः।
अनादेर्ध्वंसिनी मत्वादविगीतप्रमा यथा॥'

यह अनुमान भावरूप अज्ञान में प्रमाण है।

यहीं पर श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि -"सुषुप्ति में अहमर्थभूत आत्मा के धर्मभूत ज्ञान के प्रसर का अभाव—'प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्' इस श्रुति से भी सिद्ध है।"

इसका उत्तर है कि—इस श्रुति से सुषुप्ति में ज्ञान के प्रसर का अभाव नहीं सिद्ध होता, किन्तु ज्ञान का अभाव और भावरूप अज्ञान सिद्ध होता है।

श्रीकरपात्री जी का यह कथन है कि—"यदि सुषुप्ति में अहं निजरूप से न प्रकाशता हुआ ज्ञानरूप से प्रकाशता है तब तो सुषुप्ति में अहं का अभाव सिद्ध ही हो गया।"

इसका खण्डन श्रीत्रिदण्डी जी इस प्रकार करते हैं कि—"विशिष्टाद्वैतियों को प्रत्यक्त्वेन भासमान विज्ञानघन वस्तु ही अहंपद वाच्यत्वेन इष्ट है। स्वपर्यवसायी प्रकाश ही प्रत्यक् है, उसके प्रकाश में अहमादि पदों का उल्लेख व्युत्पत्ति के अधीन है, संस्कृतज्ञों को अहं पदार्थ के प्रकाश में अस्मद् शब्द का उल्लेख रहता है।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि–विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में आत्मा अहमर्थ है और प्रकाश अर्थात् ज्ञान उसका धर्म है आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है तब प्रकाश ही प्रत्यक् है यह कथन अयुक्त है। और अहमादिपदों का उल्लेख विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अहमर्थ आत्मा में होता है उसके प्रकाश में नहीं। यदि अहमर्थ आत्मा ज्ञानस्वरूप हो तब तो अद्वैत मत प्रवेश अनिवार्य है।

२०७ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—प्रत्यग् वस्तु स्वस्मै स्वयं-प्रकाश मात्र वपु है धर्मभूतज्ञान की प्रकाशता से इसकी प्रकाशता विलक्षण है, धर्मभूत ज्ञानरूप प्रकाश का फली धर्मभूतज्ञान नहीं है, किन्तु प्रत्यग्रूप अहमर्थ ही फली है।"

यह कथन परस्पर विरुद्ध है। क्योंकि यदि धर्मभूत ज्ञान का फली अहमर्थ-रूप प्रकाश है तब वह स्वयं प्रकाश कैसे हुआ। क्योंकि उसमें तो धर्मभूत ज्ञान का फलज्ञातता है।

२०८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी विवर्तवादी भाष्यकार के वचन को उद्धृत किया है—"प्रदीपवद् विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथते इति ब्रुवताऽ प्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकं स्यात्। शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्।" प्रत्यगर्थ में स्वनिरूपितविषयता के समान अनुभवसिद्ध होने से धर्मभूत ज्ञान-निरूपित विषयता भी मान्य है।"

यह कथन पूर्वोक्त भाष्य वचनानवबोधमूलक है, क्योंकि पूर्वोक्त भाष्य वाक्य में विज्ञानपद वृत्तिरूप ज्ञानपरक है। और वृत्तिरूप ज्ञान साक्षीरूप ज्ञान की अपेक्षा करता है। अतः वृत्तिरूपज्ञान अवभासकान्तर निरपेक्ष नहीं है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सुषुप्ति में धर्मभूतज्ञान सर्वथा निरुद्ध प्रसर है अतः सुप्ति में अहमादि शब्दाद्यनुवेध-रहित ही प्रत्यक्त्व एकत्व अनुकूलत्व धर्म पुरस्कारेण प्रत्यगर्थं स्वस्मै स्वयं प्रथता रहता है।"

यह कथन अनुभवविरुद्ध है क्योंकि सुषुप्ति में प्रत्यक्त्वादि प्रकारक सविकल्पक ज्ञान का संभव नहीं है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं—'धर्मभूत ज्ञान स्वयं प्रकाश हुआ भी स्व को नहीं प्रकाशता।'

यह वचन परस्पर व्याहत है। 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' इत्यादि श्रुतियों में अहं पद का लक्ष्यार्थ शुद्ध चित् है। तब ही यह वाक्य उपपन्न होगा। अन्यथा—'एतमभिसंभवितास्मि' यह नहीं बनेगा, यहाँ पर एतत्पदार्थ शुद्धचित् है। 'संविद् निष्प्रपञ्च ही है' यह श्रीकरपात्री जी का कथन सर्वथा सत्य है। क्योंकि अद्वैतवाद में संवित् सप्रपञ्चता की उत्पत्ति नहीं है। पुरुषोत्तम में सर्वज्ञत्वादि गुणगणमायाकल्पित हैं। क्योंकि अद्वैतवाद में सर्वाभाव में वस्तु भूत सर्वज्ञत्व कैसे बनेगा।

३११ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—'वास्तविक प्रमाता को वास्तविक दोष से ही अध्यास दृष्ट है। अध्यस्त प्रमाता को अध्यस्त दोष से क्वचिदपि अध्यास दृष्ट नहीं है। प्रमाता के अध्यस्त होने पर दोष के अध्यस्त होने पर भी यदि अध्यास मान्य हो तर्हि अधिष्ठान के अध्यस्त होने पर अध्यास का वारण कौन कर सकता है।

यह कथन असंगत है। क्योंकि—अद्वैतवादी प्रमाता और दोष को यद्यपि अध्यस्त मानते हैं तथापि माया कार्य मानते हैं, अतः दोनों सत्य रजत के तरह व्यवहारिक हैं प्रातिभासिक नहीं है, क्योंकि अविद्या कार्य ही प्रातिभासिक होता है अतः अधिष्ठान भी यदि व्यावहारिक नहीं है तो अध्यास नहीं होगा। अध्यास के प्रति अप्रातिभासिक प्रमाता और तादृश दोष और तादृश अधिष्ठान कारण हैं।

३११ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—'कामादिक आत्मा के स्वरूप निरूपक ज्ञान के अवस्थाविशेष रूपतया सिद्धान्ती को मान्य है। अत एव मुक्तावस्था में भी उनका सद्भाव 'सत्यकामः' इत्यादि श्रुति सूत्रादिकों से सिद्ध है।'

यह कथन श्रुति विरुद्ध है, क्योंकि—श्रुति – 'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादि कहकर 'एतत्सर्वं मन एव' यह कहती है। इससे सिद्ध होता है कि काम और ज्ञान दोनों मन का अवस्था परिणाम है काम ज्ञान का अवस्था परिणाम नहीं है। सत्यकामत्वादिगुण जीवन्मुक्तावस्था में अविद्यालेशानुवृत्ति से संभवी है, विदेहमुक्ति में नहीं।

३११ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"इच्छा द्वेष सुख दुःखादि सब क्षेत्र के धर्म हैं यह कथन शोधनीय है।"

इसका उत्तर है कि—इस कथन में क्षेत्र पदार्थ सूक्ष्म शरीर है।

३१२ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अकामयत पद के स्थान पर तदैक्षत इत्यादिक श्रुतियों में 'ईक्षति' का पाठ होने से काम शब्द का ज्ञानावस्था विशेषवाचित्व मानना होगा। एवं 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इत्यादिक श्रुतियों में काम तथा संकल्प पद का श्रवण होने से काम तथा संकल्प को ज्ञानावस्था विशेष वाचित्व मानना होगा"।

इसका उत्तर है कि—ईक्षण संकल्प है और काम तथा संकल्प दोनों इच्छाविशेषरूप ही है। काम तथा संकल्प को ज्ञानावस्था विशेष कहना असंगत तथा श्रुति विरुद्ध है। श्रुति ने काम को मन का अवस्था विशेष बताया है।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अनुकूलज्ञान को ही आनन्द कहते हैं।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि—अनुकूलस्वप्रकारकज्ञान का विषय आनन्द है अनुकूल ज्ञानरूप नहीं है। अत एव 'तर्कसंग्रह' में लिखा है—'अनुकूलवेदनीयम् सुखम्' यहां पर 'विद' धातु से कर्म में अनीयर् प्रत्यय है। अनुकूल वेदनीय पद का अनुकूलवेदना विषय अर्थ है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादि श्रुतियों में मुक्ताश्रिततया आनन्द का श्रवण नहीं है किन्तु 'इह वने आम्राः' की तरह अभेद में आधाराधेयभाव है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'

यहां पर 'राहोः शिरः' के तरह अभेद में षष्ठी है अतः यहाँ पर ब्रह्माश्रिततया आनन्द का श्रवण नहीं है। अतः "आनन्दापरपर्याय सुख को भी ज्ञानावस्था विशेष रूप मानना" अप्रामाणिक तथा अयुक्त होगा।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि---"जैसे अनुकूल ज्ञान को सुख कहते हैं, वैसे ही प्रतिकूल ज्ञान को दुःख कहते हैं, अतः दुःख भी धर्मभूत ज्ञान अवस्था विशेष ही है।"

यह कथन भी असंगत है क्योंकि---जैसे अनुकूलत्वप्रकारक ज्ञान का विषय सुख है उसी प्रकार प्रतिकूलत्वप्रकारक ज्ञान का विषय दुःख है, अत एव प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् यह दुःखलक्षण किया गया है। दुःख को धर्मभूत ज्ञान का अवस्था विशेष कहना अप्रामाणिक तथा अयुक्त है। इच्छा द्वेष सुख दुःखादि को सूक्ष्मशरीर रूप क्षेत्र के धर्म मानने पर चार्वाक मतप्रसक्ति नहीं होगी। 'सुख दुःखादि संविद विशेष रूप ही हैं' इसका खण्डन अनुपद में ही हो चुका है। "संविद् क्षेत्रज्ञ है" श्री करपात्री जी के इस कथन का अर्थ है कि नित्यसंविद् रूप ब्रह्म रूप साक्षी क्षेत्रावभासक है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" यह श्रुति इसमें प्रमाण है। 'एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' इस गीता वाक्य का भी यही अभिप्राय है। अहंकार को महत्तत्त्व रूप अन्तःकरण का परिणाम न कह कर प्रकृति का परिणाम कहना असंगत है।

३१३ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुति में काम संकल्पादि पद का काम संकल्पादि हेतु मनोवृत्तिविशेष अर्थ किया है। यह अर्थ अप्रामाणिक लक्षणा मूलक होने से हेय है।

श्रीत्रिदण्डी जी कहते हैं कि—"अहमर्थ अहंकार नहीं है तब अहंकार शब्द का प्रयोग भी अहङ्कार में नहीं होगा। क्योंकि अहंकार पद की व्युत्पत्ति है—'अहमिति क्रियते साक्षात् क्रियते इति अहंकारः'। अतः अहंकार में अहं शब्द का प्रयोग मानना पड़ेगा। तव अहमर्थ अहंकार होगा।

श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि--'अहं शब्द मान्त अव्यय रूप का प्रयोग अहंकार में ही होता है। और अस्मद् शब्द के प्रथमैकवचनान्त अहं शब्द का प्रयोग प्रत्यगर्थ में ही होता है।'

यह विभाग अयुक्त तथा अप्रामाणिक हैं क्योंकि विनिगमनाविरह है। दोनों अहं शब्दों का साम्य है अतः एकतर प्रत्यभिज्ञा दुर्घट है। 'अहं ब्रह्मास्मि' यहाँ पर अहं पद का लक्ष्यार्थ निर्विशेष चैतन्य है। अहं पद की शक्ति अहंकार में है। अहं सुखी' इत्यादि स्थलों में 'अहंकारावच्छिन्न चैतन्य में अहं पद की लक्षणा है। "वास्तविक प्रमाता के बिना तथा वास्तविक दोष के बिना अध्यास हो ही नहीं सकता' इसका उत्तर हम बार-बार दे चुके हैं।

"इह मर्त्यो अमृतो भवति व ी विद्या से अब्रह्मत्व निवृत्ति एवं ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।"

यह श्रीकरपात्री जी का कथन यथार्थ है क्योंकि 'अमृतो भवति' इस वाक्य से मर्त्यत्व निवृत्ति और 'अन्न ब्रह्म समश्नुते' से ब्रह्मत्व प्राप्ति बोधित होती है।

'अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्।'

इस पद्य की आलोचना श्रीत्रिदण्डी जी—

'अक्षमा मुण्डिनः केयमधिष्ठानप्रकल्पने।
किं न पश्यसिसाधारं जगत्संवृतिकल्पितम्॥'

इस माध्यमिकोक्ति से करते हैं। किन्तु यह माध्यमिकोक्ति ही अयुक्त है क्योंकि 'सति कुड्ये चित्रम्' इस लौकिक न्याय से निराधार कल्पना नहीं हो सकती। और सर्वकल्पनाधिष्ठान आत्मभूत ब्रह्म का खण्डन उन्मत्त भी नहीं कर सकता। क्योंकि सबको 'अस्मि' यही अबाधित प्रतीति होती है 'नास्मि' यह प्रतीति नहीं होती। 'स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः' यह श्रुति जनकादि के तरह जीवन्मुक्तिदशा में कामाचार और सर्वज्ञत्व की प्रतिपादिका है क्योंकि उस दशा में अविद्यालेश की अनुवृत्ति रहती है।

"अद्वैत मत में अध्यास अविद्यावृत्ति है प्रमा अन्तःकरणवृत्ति है, अविद्यावान् आत्मा में ज्ञातृत्व आदि बन सकता है" यह श्रीकरपात्री जी ने लिखा है।

'यदि अविद्यावृत्ति से ही दुःखित्व आदि बन जाय' यह श्रीत्रिदण्डी जी ने उसका अनुवाद किया है वह असंगत है।

३१६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जो लिखते हैं कि—"दृष्टि ही सृष्टि है ऐसा वादी इन्द्रिय आदिकों की भी कल्पना नहीं करता।"

यह लेख अत्यन्त असंगत है, क्योंकि—दृष्टिसृष्टिवादी सभी पदार्थों की दृष्टिरूप से कल्पना करता है। "विवर्तवादी के मत में ज्ञातृत्व का उपपादन वृहस्पति भी नहीं कर सकते यह पूर्व कह आये हैं" यह श्रीत्रिदण्डी जी लिखे हैं।

इसका उत्तर है कि—विवर्तवादी के मत में ज्ञातृत्व का उपपादान हम कर आये हैं।

३१७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखे हैं कि—'अहंकार पद तथा मान्त अव्यय अहं पद प्रकृति परिणाम विशेष के वाचक हैं, प्रत्यगर्थ के नहीं। तथा अस्मद् शब्द के रूप तथा तत्पर्यायभूत भाषाओं के शब्द प्रत्यगर्थ के वाचक हैं, प्रकृति परिणाम विशेष के नहीं।"

इसका खण्डन हम पूर्व में कर आये हैं कि—अहंकार पद अहमाकारवृत्ति-विशिष्ट अन्तःकरण का वाचक है। मान्त अव्यय तथा अस्मद् शब्द से निष्पन्न अहंपद विनिगमनाविरह से अहंकार का वाचक है और अहमाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा निर्विशेष चैतन्य का लक्षक है। 'बहुस्यां प्रजायेय, अहं सर्वस्य प्रभवः' इत्यादि श्रुति स्मृतियों में मान्त अव्यय तथा अस्मद् शब्द निष्पन्न अहं पद समष्टिरूप अहंकार का वाचक है और मायावच्छिन्नचैतन्य, मायोपहित-चैतन्य और शुद्धचैतन्य का लक्षक है। और जीवस्वरूप प्रतिपादक श्रुति स्मृति सूत्रों में अहं पद का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पूर्वोक्त ही है। "साक्षिभास्य पदार्थ अज्ञात होकर नहीं रहते" यह श्रीकरपात्री जी का कथन अत्यन्त युक्तियुक्त है। "मिथ्या मात्र की अज्ञात सत्ता नहीं हो सकती है" यह श्रीत्रिदण्डीजी का कथन असगत है। क्योंकि साक्षिभास्यत्वरूपधर्म अखण्डोपाधिरूप विषयतात्व से अनुगतीकृत होने से व्याप्यव्यापकभाव में लाघव है। और मिथ्यात्व को अननुगत होने से व्याप्यव्यापकभाव में गौरव है।

३१८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने यह आक्षेप किया कि—"अहंकार आदि का अविद्या में लय मानने पर अकारण में लय की आपत्तिरूप दोष होगा।"

इसका उत्तर है कि—मुद्गरपात से घटकपाल-कपालिकाक युगपत् प्रलय जैसे मृत्तिका में होता है इसी प्रकार सुषुप्ति में अहंकारआदि का अविद्या में युगपत्

प्रलय होता है। अहंकार आदि के अविद्या में लय होने पर भी संस्कारों का नाश नहीं होता, वह अविद्यारूप से स्थित रहते हैं, अत एव पूर्वानुभूत का सुप्तोत्थित को स्मरण होता है यह श्री करपात्री जो कहते हैं। इस पर श्रीत्रिदण्डी जी कहते हैं कि—"यह कथन अपने कूटस्थ के मुँह में हड़ताल पोतना है।"

इसका उत्तर है कि—इस कथन से कूटस्थ के ऊपर कोई दोष नहीं आता, क्योंकि कूटस्थ न अनुभविता है और न स्मर्ता है। उपलब्धि और स्मृति के एककर्तृकत्व प्रतिपादन पर ३१९, ३२०, ३२१ पृष्ठों में उदाहृत शांकरभाष्य जीवपरक है कूटस्थपरक नहीं। क्योंकि कूटस्थ अनुभविता या उपलब्धा नहीं है वह तो अनुभव या उपलब्धिरूप है।

३२२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) इस भाष्य में द्रष्टा और स्मर्ता का ऐक्य सम्यक् उपपादित किया गया है।

(२) तथा उपलब्धा का स्थैर्य स्थापित किया गया है।

(३) उपलब्धा का प्रतिसुषुप्ति विनाश मानना भ्रान्ति है यह भाष्योक्त युक्तियों से सुप्रसिद्ध है।

(४) विवर्तवादियों के अवच्छिन्नवाद में या प्रतिबिम्बवाद में स्मृति प्रत्यभिज्ञाओं का उपपादन नहीं हो सकता।

(५) तथा अकृताभ्यागम कृतविप्रणाशादि दोषों का परिहार नहीं हो सकता है यह पूर्व सम्यक् कह आये हैं।"

इन पाँच आक्षेपों में प्रथम का उत्तर है कि—अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य जीव है और अन्तः करण का सुषुप्ति में विनाश नहीं होता है किन्तु अविद्या में लय होता है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—अन्तःकरण का सुषुप्ति में सर्वथा विनाश न होने से उपलब्धा का स्थैर्य स्थापित किया जा सकता है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—अद्वैतवादी उपलब्धा का प्रतिसुषुप्ति विनाश नहीं मानता, किन्तु उसके उपाधि अन्तःकरण का लय मानता है। लय और विनाश में महान् भेद है।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि–अविच्छिन्नवाद अथवा प्रतिबिम्बवाद में स्मृति प्रत्यभिज्ञाओं का उपपादन हो सकता है क्योंकि अवच्छेदक अथवा प्रतिबिम्बोपाधि का विनाश नहीं होता किन्तु लय होता है।

पाँचवें आक्षेप का उत्तर है कि–सुषुप्ति में कृत का विनाश नहीं होता किन्तु लय होता है और जाग्रत् में लीन का प्रादुर्भाव होता है अतः अकृत का अभ्यागमन नहीं होगा।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"एक ही अहंकार प्रतिदिन सुषुप्ति में अविद्या और जागर में अन्तःकरण रूप में प्रकट होता रहता है, यह कथन चार्वाकनन्दन है।"

इसका उत्तर है कि—आपने इस कथन में दूषण का निर्देश नहीं किया।

३२३ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डो जो लिखते हैं कि—"परिणामी अहंकारोपाधिक जीव को मानने पर घटादि के समान जीवात्मा की अनित्यता श्रुति स्मृति सूत्र विरुद्धा इस मत में आ पड़ती है।"

इसका उत्तर है कि - जीव का उपाधि अहंकार अनित्य अवश्य है किन्तु उपाधेय जीव अनित्य नहीं है। अवच्छिन्नवाद तथा प्रतिबिम्बवाद में उक्त आक्षेपों का समाधान पूर्व में कर आये हैं।

श्री करपात्री जी ने कहा है कि - वेदान्त में समष्टि बुद्धि को भी महत्तत्त्व कहा जाता है। बुद्धि पञ्चभूतों के समष्टि सात्त्विक अंशो से निर्मित होती है।"

इसको श्री त्रिदण्डी जी नितान्त निराधार बताते हैं। अब हम उसका आधार बता रहे हैं। 'मनो मतिर्महान् ब्रह्मा' यह महत्तत्त्व के पर्याय हैं। जो सर्व मान्य हैं। 'महत्तत्त्वमन्तःकरणं बुद्धिरित्युच्यते' यह मुक्तावली में आत्मनिरूपण प्रकरण में लिखा है। वेदान्त पद का प्रयोग श्रीकरपात्री जी ने यहाँ अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों में किया है। वेदान्त में समष्टिबुद्धि को भी महत्तत्त्व कहा गया है और बुद्ध्यतिरिक्त तत्त्व को भी।

श्री त्रिदण्डी जी से यहाँ पर उदाहृत श्रुतियों से ही इन्द्रियों का तन्मात्र कार्यत्व अर्थात् भूतसूक्ष्मकार्यत्व सिद्ध होता है। ज्ञान सत्त्व कार्य है अतः ज्ञानेन्द्रिय सूक्ष्मभूतों के सात्त्विकांश के ही कार्य हैं। चक्षुरादि इन्द्रिय तेज आदि एक-एक

मूत के कार्य हैं, अतः विषयपञ्चक में एक-एक को ही ग्रहण करते हैं बुद्धिविषय पञ्चक का ग्रहण करती है, अतः सभी भूत सूक्ष्मों का कार्य है 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते' इस सूत्र का यही भाव है।
इस सूत्र के शांकरभाष्य से भी यह अर्थ सिद्ध होगा। सावधान होकर पढ़िये।

"यह अद्वैति मत श्रुति संमत है; ईक्षण एवं व्यचिकीर्षा के अनन्तर ईश्वर ने मन को बनाया और वह भौतिक है तभी 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' यह श्रुति मन को अन्नमय कहती है। यहाँ अन्न शब्द से अन्नप्रधान पञ्चभूत ही कहा गया है। यह श्री करपात्री जी का कथन है।

इसको श्री त्रिदण्डी जी अत्यन्त निःसार बताते हैं। किन्तु श्री करपात्री जी ने अपने कथन में जब श्रुतिप्रमाण दिया है तब वह अत्यन्त निःसार नहीं है। श्रुतियों में कहीं पर तेज आदिक तीन भूतों की सृष्टि और कहीं पर आकाशादिक पांच भूतों की सृष्टि कही गई है। दोनों का समन्वय श्रीशंकराचार्य महाराज ने किया है, पांच भूतों की सृष्टि मानकर 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि श्रुति साक्षात् परम्परा साधारण है। अतः 'अन्नमयं सोम्य मनः' से विरोध नहीं होगा। यह श्रुति व्याकृत पञ्चभूतात्मक अन्न से मनकी साक्षात् उत्पत्ति कह रही है और तत्पर है। जब 'इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु' इस श्रुति से भूत सूक्ष्म कार्यत्व मन में सिद्ध होता है तब तद्विरुद्ध सात्त्विकाहंकार से मन की उत्पत्ति के प्रतिपादक इतिहास पुराणबाधित हो जाएंगे। 'तयोर्द्वैधे श्रुतिर्वरा' यह आप्तोक्ति है।

अथवा अहंकार कार्यत्व परम्परया है और भूत सूक्ष्म कार्यत्व साक्षात् है। उदाहृत रत्नप्रभा में परम्परया ब्रह्मकार्यत्व तथा साक्षाद् ब्रह्मकार्यत्व का विचार प्राण में किया है अतः उससे कोई विरोध नहीं है।

३२७ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"परन्तु ब्रह्मसूत्र में भगवान् व्यासने सांख्यसिद्धान्त को अशब्द अश्रौत कह कर उसे अनुमान पर निर्धारित ही बतलाया है इत्यादि कथन निःसार है"।

इसका उत्तर है कि—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्र में इस अर्थ को भगवान् व्यास ने स्पष्ट बताया है इसको शांकरभाष्य से समझिये।

इसी पृष्ठ में आगे श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"भगवदशरीरभूत अजा का जगत्कारणतया निषेध 'ईक्षतेर्ना शब्दम्' इस सूत्र में व्यास ने किया है, भगवच्छरीरभूत अजा का निषेध नहीं किया है। प्रत्युत 'चमसवदविशेषात्' इस सूत्र में भगवच्छरीरभूत अजा के जगत्कारणत्व का प्रतिपादन किया गया है"।

इसका खण्डन यह है कि—अजा का भगवदधिष्ठितत्व तो अद्वैतवाद में और—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इस गीता में प्रसिद्ध है किन्तु अजा का भगवच्छरीरत्व कहीं श्रुति स्मृति में प्रतिपादित नहीं है। "अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा" इस सूत्र से प्रधान के किसी भी अंश का न तो समर्थन है और न खण्डन है। "तदधीनत्वादर्थवत्" इस सूत्र का सांख्याभिमत तत्व वर्ग का अब्रह्मात्मकतया निरास में तात्पर्य है यह श्री त्रिदण्डी जी की उक्ति सर्वथा शब्द मर्यादा की उपेक्षा मूलक है।

"ज्योतिरुपक्रमातु तथा ह्यधीयत एके, कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः" इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में उक्त अर्थ की असंगतता शांकरभाष्य से ही, जानना, ग्रन्थ विस्तार भय से यहां उसका अनुवाद नहीं किया है।

इस दृष्टि से ईक्षण में महत्तत्त्व और व्याचिकीर्षा में अहंतत्त्व का अन्तर्भाव हो जाता है यह श्री करपात्री जी की उक्ति अनर्गल नहीं किन्तु युक्तियुक्त है, क्योंकि ईक्षण सत्त्वप्रधान महत्तत्त्व का प्रथम व्यापार है और 'अहं व्याकरवाणि' इत्याकारक व्याचिकीर्षा 'अहंकार का कार्य है।

३२९ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यह घटादिकों के समान परिणामिजीववाद जीवात्माके कूटस्थ नित्यता के उपपादन से निरस्त है"।

इसका उत्तर है कि—अद्वैती भी जीवात्मा को कूटस्थ नित्य ही मानते हैं। उसके उपाधि अन्तःकरण तथा अविद्या को परिणामी अवश्य मानते हैं इससे परिणामिजीववाद की प्रसक्ति नहीं है। "अहंकार अविद्या का धर्म परिणाम है" यह श्री त्रिदण्डी जी का कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि अविद्या की स्थूलावस्था ही अहंकार है।

३३० पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—"अतः जो निश्चित अर्थ है वही कहना चाहिए। उससे अन्य अर्थ का कहने वाला केवल अपनी बहुप्रलापिता का ख्यापन करता है"।

इसका उत्तर है कि—श्री करपात्री जी ने निश्चित अर्थ ही लिखा है यदि नहीं तो आपको अनिश्चितता सिद्ध करनी चाहिए। जीवात्मा परमात्मा का स्वरूप शास्त्र मात्र समधिगम्य है यह अद्वैती भी मानते हैं। जीवात्मा का जीवन्मुक्ति कालिक रूप सत्यकामत्व सत्यसंकल्पत्व सर्वज्ञत्वादिक है विदेहमुक्ति कालिक नहीं। विदेह मुक्ति कालिक जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन यह श्रुति करती है—

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" इत्यादि।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—"समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्याय से अनवधिकातिशयासंख्येय कल्याणगुणगणविशिष्ट तथा अपरिमित प्रकारों से विशिष्ट परमात्मा का स्वरूप निर्धारित होता है"।

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्यों कि—पूरे ब्रह्मसूत्रों का निर्गुण ब्रह्म में तात्पर्य शांकरभाष्य में सिद्ध किया गया है। परमात्मा के कल्याणगुणगण स्वाभाविक हैं, अर्थात् मायिक हैं यह अद्वैती मानता ही है। स्वभाव का अर्थ प्रकृति है और प्रकृति माया है।

३३१ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—"'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रतिसंधान की अन्यथाऽनुपपत्ति से यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति में प्रतिसन्धीयमान सभी का अस्तित्व था। क्योंकि ऐसा मानने से स्वप्नोत्थित के स्वाप्निक प्रतिसंधान से स्वप्न में स्थूलशरीर का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। इत्यादि कथन असार है"।

इसका उत्तर यह है कि यह ज्ञान सुख और सुषुप्ति अंश में स्मरण है और अहमंश में प्रत्यक्ष है। तब इस ज्ञान से सुषुप्ति में अहमर्थ को सत्ता नहीं सिद्ध होती। और असार कह देने से ही किसी वाक्यार्थ की असारता नहीं सिद्ध होती।

३३२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रत्यक् अहमर्थ का स्वतः प्रत्यक्त्वेन अनुकूलत्वेन सुप्ति में प्रकाश होने पर भी प्रत्यक्त्व रहित चैतन्य के तथा अज्ञान के सुप्ति में प्रकाश का साधक न होने से सुप्ति में अज्ञान तथा चैतन्य का प्रकाश मानना भ्रम मात्र है।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि—सुषुप्ति में अहमर्थ के स्वतः प्रत्यक्त्वप्रकारक तथा अनुकूलत्वप्रकारक ज्ञान की सत्ता अनुभवविरुद्ध है। अद्वैतवाद में

सभी चैतन्य प्रत्यगर्थरूप ही हैं अतः स्वप्रकाश साक्षीरूप हैं। अज्ञान का सुषुप्ति में प्रकाशक साक्षि-चैतन्य है।

२३३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अस्मच्छब्द वाच्य प्रत्यगात्म-परक अहंकार शब्द का प्रयोग दुर्व्युत्पत्ति कृत है।"

यह कथन विनिगमनाविरह से कबलीकृत है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यदि अहंकार होता तो उसका प्रकाश भी अवश्य होता इत्यादिक अनर्थक वचन हैं।"

इसका उत्तर है कि—आनर्थक्य की पुष्टि नहीं की गयी है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सन्निकृष्ट साक्षी तथा अज्ञान का स्मरण मानने वालों का वस्तुतः अनुभूत एवं असन्निकृष्ट का ही स्मरण होता है, यह कथन प्रमादमूलक है।"

इसका उत्तर यह है कि—साक्षी अद्वैतवाद में नित्य तथा स्वप्रकाश है अतः उसका स्मरण कदापि नहीं होता। और अज्ञान अद्वैत सिद्धान्त में साक्षिभास्य है अतः इन्द्रियसंनिकृष्ट या मनःसन्निकृष्ट नहीं है। 'सोऽयं देवदत्तः' यह प्रत्यभिज्ञा तत्तांश में स्मरणात्मिका है और तद्देश-काल-वृत्तित्वरूप तत्ता अवर्तमान होने से असंनिकृष्ट है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—" 'सुखमहमस्वाप्सम्' परामर्श से तथा पूर्व प्रदर्शित अनेक प्रमाणों से सुषुप्ति में अहमर्थ प्रत्यगात्मा के प्रकाश की निर्बाध सिद्धि होने से 'मामन्यच्च नाज्ञासिषम्' इस परामर्श में देहविशेष-विशिष्ट-तया देहविशेष कालविशेष विशिष्टतया 'अपने को मैं नहीं जाना' इस अर्थ की प्रतिपादकता का आश्रयण करते हैं।"

इसका उत्तर है कि—'सुखमहमस्वाप्सम्' यह ज्ञान सुख और सुप्ति अंश में स्मरण है अहमंश में प्रत्यक्ष है यह पहले भी कह आये हैं। 'मामन्यच्च नाज्ञा-सिषम्' इस परामर्श के भवदुक्तार्थ में कोई कारण या प्रमाण नहीं है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अहंकार या तत्सूक्ष्मभावापन्न अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही प्रत्यगात्मा है इस कथन की समालोचना पूर्व सम्यक् कर आये हैं।"

इसका उत्तर है कि—इस समालोचना का उत्तर हम भी पहले कर चुके हैं।

३३३ पृष्ठ के अन्त में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अन्तःकरण एवं अन्तःकरणकार्यं ज्ञानेच्छादि प्रत्यक्ष हैं तो अन्तःकरण की अवस्था विशेष अहंकार का प्रत्यक्ष होना भी सिद्ध ही है यह कथन सर्वथा अनर्थक है।"

यह उक्ति अनुभवबाधित है क्योंकि—'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादि प्रत्यक्ष का गोचर अहंकार हो रहा है।

३३४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अहंकाररूप परिणाम अतीन्द्रिय अहंकार तत्त्वानुगृहीत मन के आयत्त है। यह महाभारत विष्णुपुराण श्रीमद्भागवत परिशीलकों को सुव्यक्त है।"

यह सब कथन अहमनुभव से बाधित है अतीन्द्रिय अहंकारतत्त्व में महाभारतादि प्रमाण नहीं है यदि हैं तो उल्लेख करना उचित है जिस पर हम भी विचार कर सकें।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ज्ञानसामान्याभावरूप-निद्रा की प्रकृतिरूपता तथा प्रत्यक्षता का कथन प्रमाण शून्य होने से प्रलाप मात्र है।"

इसका उत्तर है कि—'अविद्या, माया, प्रकृति' यह पर्याय-शब्द शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं अविद्या त्रिगुणात्मक है, तमःप्रधान अविद्या का कार्य निद्रा है। वह भावरूप है ज्ञानसामान्याभावरूप नहीं। इसीलिए चरकशारीरस्थान में 'निद्रा' को 'भूतधात्री' कहा है। निद्राकाल में ज्ञानसामान्याभाव रहता है अत एव ऐक्य विभ्रम आपको हो रहा है।

'तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥'

अविद्यारूप माया के भावरूपत्व में यह वचन प्रमाण है। क्योंकि अविद्या यदि अभावरूप हो तो 'तरति' और 'विततम्' यह दोनों पद अनन्वितार्थक हो जायंगे। सुषुप्तिरूप निद्रा जीव की अवस्था-विशेष है जो कि जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के तरह भावरूप है। निद्रा स्वकाल में प्रत्यक्ष है इसीलिए सुप्तोत्थित को 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह परामर्श होता है। महत्तत्त्व को ज्ञानरूपता का खण्डन बादरायण ने कहीं नहीं किया है। महत्तत्त्व बुद्धिरूप होने से ज्ञानरूप हो सकता है।

"ईक्षतेर्ना शब्दम्" इस सूत्र में प्रकृति के ईक्षण का खण्डन है। प्रकृति विकृति के कार्य को नहीं कर सकती। घट के कार्य जलाहरणादि को मृत्तिका नहीं कर सकती। जगत्कारण ब्रह्म के सर्वज्ञत्व सत्यसंकल्पत्वादि-गुणगण कल्पित हैं। क्योंकि भगवत्पराशर ने कहा है—

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते।
मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥

इस श्लोक में 'शुद्धे' का अर्थ 'अविकृते' है। यदि ब्रह्म की सर्गाद्यनुकूल-शक्ति वास्तव हो और उसका कार्य भी वास्तव हो तब ब्रह्म का शुद्धत्व नहीं रहेगा। 'आत्मा द्रष्टा ही है दृश्य नहीं होता' इस श्रीकरपात्री जी की उक्ति का अर्थ है कि आत्मा स्वरूपभूतनित्यदर्शन का विषय नहीं है—'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया' इस श्रुति के अनुसार साक्षात्काररूपा अन्तःकरणवृत्तिका विषय तो है ही।

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥

इस उक्ति से भी यही सिद्ध होता है। अन्तःकरण वृत्तिविषयता को ही लेकर 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' यह श्रुतिवाक्य उपपन्न हो जायगा। जीव के उपाधि अन्तःकरण में दृष्टिरूपवृत्ति का आश्रयत्वरूप द्रष्टृत्व है अतः तदुपहित चैतन्य में द्रष्टृत्व व्यवहृत होता है।

२३५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अहं प्रतीति में आत्मा का भान अद्वैती को मान्य है। परन्तु वह भान विशिष्टआत्मा का होता है यह कथन अधूरा है।"

इसका उत्तर है कि—श्री करपात्री जी ने यह नहीं लिखा है कि वह भान विशिष्ट आत्मा का ही होता है। अतः लक्षणया शुद्धात्मप्रतीति भी हो सकती है 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' यह प्रतीति विशिष्टात्मविषया ही है। 'बहु स्यां प्रजायेय' 'अहं कृत्स्नस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादि श्लोकों में अहं प्रतीति सहकारिकारण विशिष्टात्मविषया ही है। जगत्सर्ग में परमात्मा के सहकारिकारण अदृष्ट और माया हैं।

३३६ पृष्ट में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—'यदि मुक्ति और ईश्वर शुद्धआत्मा में अहं शब्द का लक्षणा से प्रयोग करते हैं तो अभिधा से किसमें करते हैं।"

इसका उत्तर है कि—देहादिविशिष्ट में अभिधा से अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे—राम कृष्णादि ने व्यवहार में अस्मदादि के समान अहं शब्द का विशिष्टात्मा में अभिधा से प्रयोग किया है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"वस्तुत: कोई भी व्यवहार अचेतन संबन्धशून्य आत्मा में होता ही नहीं यह संमुग्ध कथन है"

इसका अर्थ है कि—व्यवहर्ता के अचेतनसंबन्ध के विना कोई व्यवहार नहीं होता। आत्मा वस्तुतः असङ्ग है तब उसमें कोई भी व्यवहार नहीं होगा। यहाँ पर अचेतन संबन्धोपपादन के लिए उदाहृत श्रुति सूत्र आरोपित संबन्ध परक हैं, अतः उनसे स्वार्थसिद्धि नहीं होगी।

३३७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अथवा जो स्वतन्त्रता के प्रिय विवर्तवादी अपने मुख्यसिद्धान्त में सर्व-वेद-वेद्य परमेश्वर को भी जीवाविद्याकल्पित कहने के साहसी हैं जिनके मुख्यसिद्धान्त में अनादिकाल से अद्यावधि कोई भी मुक्त नहीं हुआ।"

इसका उत्तर है कि—श्रुति ही ईश्वर को माया कल्पित बताती है—

"जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति"। विवर्तवादियों के मुख्य सिद्धान्त में शुकदेव वामदेव आदि की ईश्वरभावापत्ति-रूप मुक्ति मानी गई है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"शुद्ध चेतन आत्मा की कर्तृता भोक्तृता शास्त्रविरुद्ध है यह कथन आक्रोश मात्र है।"

इसका उत्तर है कि—शरीरेन्द्रिय संबन्ध के विना कर्तृता और भोक्तृता नहीं प्रसिद्ध है, शुद्ध चेतन आत्मा शरीरेन्द्रिय रहित है अत: उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व अनुपपन्न हैं। उदाहृत श्रुति सूत्र आत्मा में आरोपित कर्तृत्वादिपरक हैं। आत्मा के अशरीरत्व में 'अशरीरं वा वसन्तं न प्रिया-प्रिये स्पृशत:' यह श्रुति प्रमाण है।

३३८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने लिखा है कि—"अत एव अन्तःकरणादिविशिष्ट आत्मा में ही अहं पद की मान्यता उचित है इत्यादि वचन अनर्थक हैं"

इसका उत्तर है कि—इन वचनों के आनर्थक्य का उपपादन नहीं किया गया है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यदि लाघवमात्र के लिए शुद्ध आत्मा को अहमर्थ माना जायगा तो उसे ही कर्ता भोक्ता मानना पड़ेगा फिर कभी भी उसकी मुक्ति की आशा न रहेगी। यह कथन परिदेवन मात्र है।"

इसका उत्तर है कि—परिदेवन मात्र कथन निर्हेतुक है।

"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" यह श्रुति अपर ब्रह्म के समान भोगरूप क्रमिकमुक्ति की प्रतिपादिका है। कैवल्य मुक्ति की नहीं।

३३९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विशिष्टाद्वैतियों का श्रुति स्मृति सूत्र प्रमाणकसिद्धान्त यह है—स्वतः स्वस्मै सदा प्रकाशने वाला अहमर्थं प्रत्यगात्मा प्रत्यक्त्वेन एकत्वेन अनुकूलत्वेन जागर स्वप्न सुषुप्ति प्रलय आत्यन्तिकप्रलय रूप सभी अवस्थाओं में स्वतः प्रकाशता है"

यह सिद्धान्त अनुपपन्न है क्योंकि—प्रत्यक्त्वादि-प्रकारक-सविकल्पक-ज्ञान सुषुप्ति प्रलय में अनुभव विरुद्ध है। प्रत्यगात्मप्रकाश का संकोच और प्रसार नित्य तथा निरवयव होने से अनुपपन्न है। जीव का उपाधि अन्तःकरण कल्पादि में उत्पन्न होता है और कल्पान्तस्थायी है, अतः विवर्तवादियों को कृतहानि अकृताभ्यागमादिदोष नहीं प्रसक्त होता। अतः अवच्छिन्नवाद प्रतिबिम्बवादरूप दोनों वादों में उपाधिगमनकाल में प्रतिक्षणं पूर्व-पूर्व जीव विनाश उत्तरोत्तर जीवोत्पाद कहना अद्वैतवाद-सिद्धान्तानभिज्ञता सूचक है। 'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः' यह सूत्र एक जीववाद का विरोधी नहीं है। इस सूत्र का शांकरभाष्य अवलोकनीय है।

३४० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—" जिस 'नाहमवेदिषम्' प्रतीति को ज्ञानाभाव का प्रतिसन्धान कहा जाता है, इत्यादिक की समालोचना पूर्व में सम्यक् हो चुकी है"

इसका उत्तर है कि—इस समालोचना का उत्तर भी पूर्व में हो चुका है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"पूर्व कह आये हैं कि पारमार्थिक प्रमाता को पारमार्थिक दोष से अध्यास होता है।

इसका उत्तर कई बार पूर्व में कर चुके हैं। 'विवर्तवादियों के मुख्य मत में अद्यावधि कोई तत्त्वविद् न हुआ न होगा ही' यह श्रीत्रिदण्डी जी का कथन सिद्धान्ताज्ञानमूलक है क्योंकि—दृष्टिसृष्टिवाद में भी दृष्टि द्विविध है व्यावहारिक और प्रातिभासिक। तदनुसार सृष्टि भी द्विविध है। इस प्रकार वह भी व्यावहारिक तत्त्वविद् मानते हैं।

३४१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि" इत्यादिक-वेदान्तगत-वाक्यगण स्वरूपतः, रूपतः, गुणतः, विभूतितः, ऐश्वर्यतः ब्रह्म के आनन्त्य के प्रतिपादक हैं यह आकरग्रन्थों से जानना चाहिए"

यह कथन उदाहृत श्रुतिगण की वाक्यमर्यादा के विपरीत है। क्यों कि शक्त्या भवदुक्त अर्थ का लाभ नहीं होता। लक्षणा का बीज अनुपपत्ति भी नहीं है। इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "अहंकार को अहमर्थ न मानना 'वदतो व्याघात' है यह कथन असामयिक परीक्षकत्व प्रथालिप्साकृत है"

इसका उत्तर कई बार पूर्व दे चुके हैं। संक्षेप में उत्तर यह है कि—अव्यय अनव्यय दोनों अहं शब्द विनिगमनाविरह से अभिधया अहंकार को तथा लक्षणया अहमाकार वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य तथा निर्विशेषचैतन्य को कहता है। भवदुदाहृत 'काशिका' और 'कौमुदी' में 'मान्तमव्ययमहंकार एव' अथवा 'मान्तमव्ययमेवाहंकारे' यह नहीं लिखा है। 'असति बाधके सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति' यह न्याय भी यहाँ प्रवृत्त नहीं होगा। क्योंकि विनिगमनाविरह बाधक है।

३४२ पृष्ठ में—" 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' यहाँ भी आत्मा शब्द का अर्थ शुद्ध आत्मा नहीं है" यह श्री करपात्री जी की उक्ति युक्तियुक्त है क्योंकि सृष्टिप्रकरण का यह आदिवाक्य है। विना मायासहकार के शुद्धआत्मा में स्रष्टृत्व नहीं बनेगा। 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' यह गीतावाक्य इस अर्थ में प्रमाण है।

३४२ तथा ३४३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"जो किसी पद का वाच्य होता है वही पदान्तर का लक्ष्य होता है, जो किसी पद का वाच्य नहीं है वह किसी पद का लक्ष्य भी नहीं हो सकता। अतः शुद्धआत्मा या ब्रह्म लक्ष्यार्थ ही है वाच्य नहीं इत्यादिक अनर्गल कथन है"

इसका उत्तर है कि—यद्यपि शुद्ध आत्मा या ब्रह्म विधिमुखेन भावरूपतया किसी शब्द का वाच्य नहीं है, किन्तु अतन्निषेधमुखेन अधिष्ठानात्मकाभावरूपतया नञ् पद का वाच्य है। "अथात आदेशो नेति नेति" इत्यादि श्रुति तथा—'अतद् व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' यह पुष्पदन्तवाक्य इसमें प्रमाण है। इस वाक्य में 'अभिधत्ते' पद का 'अभिधया बोधयति' अर्थ है।

३४३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "अहं शब्द सब के साथ नहीं प्रयुक्त होता। वह केवल अनात्मा में ही प्रयुक्त होता है। यह कथन वक्ता की व्युत्पत्ति को बता रहा है। श्रीशाङ्करभाष्य विषयी प्रत्यगर्थ को "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः" इत्यादिकभाष्य में जगदध्यासाधिष्ठान विषयी प्रत्यगर्थ को केवल अस्मत्प्रत्ययगोचर कह रहा है"

इसका उत्तर यह है कि—अहं शब्द शक्त्या सब के साथ नहीं प्रयुक्त होता है। वह शक्त्या केवल अनात्मा में ही प्रयुक्त होता है। 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः' का अर्थ है कि अस्मत् शब्द का लक्ष्यार्थ होकर अस्मत्प्रत्यय का गोचर प्रत्यगर्थ विषयी है। 'यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी कहते हैं कि—"व्यञ्जक चैतन्यविशिष्ट अहंकार अथवा व्यङ्ग्य अहंकारविशिष्ट व्यञ्जकचैतन्य ही अहमर्थ है, यह कथन व्युत्पत्ति-शून्यताकृत है।"

इसका उत्तर है कि—तादृश चैतन्य या तादृश अहंकार में अहं पद का प्रयोग सभी प्रयोक्ता करते हैं। अपने अनुभव को तथा मध्यस्थ शिष्टों से पूछिये।

३४४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अध्यस्त तथा अधिष्ठान में व्यङ्ग्य–व्यञ्जकभाव विवर्तवादी ही कह सकते हैं प्रामाणिक कोई नहीं कह सकता।"

इसका उत्तर है कि—मन्दिर के अन्दर दर्पण में अध्यस्त सूर्यप्रतिबिम्ब स्वाधिष्ठानदर्पण तथा गेहस्थ अन्य पदार्थों का व्यञ्जक देखा गया है अतः अध्यस्त तथा अधिष्ठान मे व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव हो सकता है।

"विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में अस्मच्छब्द का स्वातन्त्र्येण स्वप्रयोक्तृत्वविशिष्ट चेतनत्व प्रवृत्ति निमित्त है" यह श्रीत्रिदण्डी जी की उक्ति असंगत है। क्योंकि अस्मच्छब्द की शक्ति तादृश विशिष्टचेतन में नहीं है, अत एव शक्यविशेषणतया स्वातन्त्र्येण स्वप्रयोक्तृत्व का मान अस्मच्छब्दजन्यबोध में नहीं होता "अध्यास पारमार्थिकप्रमाता को पारमार्थिकदोष से ही होता है" इत्यादि आक्षेपों का उत्तर पूर्व में कई बार दे चुके हैं।

३४४ पृष्ठ में 'कहा जाता है कि एक अहंकार अहं बुद्धि का वाचक है परन्तु यह बात ठीक नहीं है, कारण यहाँ अभूततद्भाव है ही नहीं। अहं देहादि में अहं बुद्धि अहंकार है और अहं आत्मा में अहं बुद्धि अहंकार नहीं है। यह उपहासास्पद बात है।'

इस श्री करपात्री जी के कथन का उत्तर श्रीत्रिदण्डी जी न देकर "पारमार्थिकप्रमाता पारमार्थिकदोष के विना स्वयंप्रकाश मात्र रूप वस्त्वधिष्ठानक अध्यास कहना इत्यादि हासहेतु किस विदूषक में हो सकते हैं" यह उपहास किये हैं। क्या इससे श्री करपात्री जी के आक्षेप का उत्तर हो गया? पाठक विचार करें।

"फिर ऐसे ही यह क्यों न कहा जाय कि अत्वं मे त्वं बुद्धि त्वंकार है और त्वं में त्वं बुद्धि त्वंकार नहीं है, इसी तरह अनिदं में इदं बुद्धि इदंकार है और इदं में इदं बुद्धि इदंकार नहीं।"

इस श्रीकरपात्री जी के कथन का खण्डन श्रीत्रिदण्डी जी करते हैं कि—"त्वं में तथा अत्वं में त्वं बुद्धि परक त्वंकार शब्द का, तथा इदं में और अनिदं में इदं बुद्धि परक इदंकार शब्द का प्रमाणभूत वाक्यों में प्रयोग जब उपलब्ध नहीं है तब उसकी चर्चा निरर्थक है।"

इसका उत्तर है कि—"उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् सप्त द्वीपा वसुमती त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः" इत्यादि। अत्वं तथा त्वं में त्वंकार

शब्द मान्त अव्यय त्वं शब्द से च्विप्रत्यय तथा तदभाव में भी बन सकता है। ऐसे इदंकार शब्द भी इदं शब्द से च्वि तथा तदभाव में भी व्याकरण से बन सकता है। तब उपलब्धि में यत्न करना चाहिए। अतः समझना चाहिए कि अर्थबाध से तथा प्रयोग नहीं होता।

३४६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रत्यगर्थ में तथा अहंकार में प्रयुज्यमान अहंशब्द तथा अहंकार शब्द को अहमर्थंकार समानार्थक समझते हैं।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है। क्योंकि—अहमर्थंकार दोनों में अहं शब्द का प्रयोग होता है यह कहते और समझते हैं।

३४७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सर्वथाऽपि अहं शब्द का अर्थ शुद्धआत्मा नहीं है यह कथन अनर्थक है।"

इसका उत्तर है कि—अर्थ शब्द अभिधेय परक है। अहं शब्द का शुद्ध-आत्मा अभिधेय नहीं किन्तु लक्ष्य है। 'तदैक्षत बहु स्याम्' 'हन्ताहमिमाः' इत्यादि वाक्यों में अहं शब्द शुद्धात्मविषयक नहीं है किन्तु मायावच्छिन्नचैतन्य परक है क्योंकि उसी में सृष्टिकर्तृत्व उपपन्न होगा। गर्व अर्थ में अहंकार शब्द का प्रयोग लक्षणा से है यही उचित है क्योंकि अहंकार शब्द की शक्ति अहमाकार-वृत्ति सामान्य विशिष्ट मन में है, तब 'आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया' इत्यादि रूप वृत्तिविशेषविशिष्टमन में लक्षणा मानना ही उचित है। गर्व रूप अहंकार ही त्याज्य है।

यह श्रीत्रिदण्डी जी कि उक्ति असंगत है क्योंकि—इस संकुचित अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं। क्योंकि गीता में श्री भगवान् कह रहे हैं—

'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥

इसके देखने से प्रतीत होता है कि सभी प्रकार का अहंकार त्याज्य है। आत्मा अहं शब्द का लक्ष्य है वाच्य नहीं, बद्ध-मुक्तेश्वरों में अहं शब्द का प्रयोग लक्षणया होता है यह हम कई बार कह चुके हैं। पारमार्थिकप्रमाता को पारमार्थिकदोष से अध्यास होता है इसका खण्डन कई बार पूर्व में कर चुके हैं।

श्रीत्रिदण्डी जी को अद्वैतवाद का सम्यक् परिज्ञान नहीं है। अद्वैतवादी अहंकार को जीव आत्मा परमात्मा नहीं कहते।

३४८ पृष्ठ में जिस शाङ्करभाष्य का उद्धरण श्रीत्रिदण्डी जी ने किया है उसका अर्थ अहं शब्द का वाच्य जीव कभी नहीं है। 'अथातोऽहंकारादेश:' इसका अर्थ है कि जीव में पूर्वोक्तरीत्या प्रयुज्यमान अहं शब्द का भूमा में आदेश किया गया है जीव और भूमा के भेद भ्रम की निवृत्ति के लिए। अग्रिम शाङ्कर-भाष्य का अभिप्राय है कि अविवेकी—अर्थात् देहादिसंघात और आत्मा के अपृथक्-त्वदर्शी देहादिसंघात में भी अहंकार का प्रयोग करते हैं वह प्रचुर प्रयोग के कारण शक्त्या प्रयोग है और शुद्ध आत्मा में अल्प प्रयोग के कारण लक्षणया अहं शब्द का प्रयोग है। सर्वात्मा सर्वोपाधिक होने से शुद्ध आत्मा नहीं है। अन्त:प्रवि-श्य शास्तृत्व शुद्ध में नहीं बनता। शुद्ध तो असंग तथा निर्विकार है। सर्वात्मा सर्वनाम रूपशाली है, अतः विकृत है शुद्ध नहीं। 'विकारो नामधेयम्' यह श्रुति कहती है। अद्वैतवादी 'स एवाधस्तात्, आत्मैवाधस्तात्, अहमेवाधस्तात्' तीनों की एकता मानता है। और विश्व की एकता को मानता है।

अद्वैतवादी के मत में भूमा और अहं पद लक्ष्यार्थ का अभेद है। भूमा अपरिछिन्न को कहते हैं। अत्मा भूमा है अणुपरिमाण नहीं। जीव और अन्तर्यामी का भी वस्तुतः अभेद है। सोपाधिक भेद है। भूमा का सर्वात्मकत्व सर्वोपादानत्व प्रयुक्त है। यहाँ पर भूमा में विवर्तोपादानत्व विवक्षित है। भूमा में सर्वात्मकत्व रहने पर भी इतरव्यवच्छेद बन सकता है। जैसे रज्जु में सर्पा-द्यात्मकत्व रहने पर भी सर्पादिव्यवच्छेद उपपन्न है।

३५३ पृष्ठ में—'आथातः अहंकारादेश:, अथात आत्मादेश:' इन उक्तिद्वय से भी अहंकार और आत्मा का भेद सिद्ध होता है। 'अहमिति शब्दान्तरमहंकारे वर्तते, अहमिति मान्तमव्ययमहंकारे' इस वाक्य द्वय में एवकार नहीं है जिससे 'शब्दान्तरमेव, मान्तमव्ययमेव' यह अर्थ किया जाय। अतः विनिगमनाविरह से दोनों शब्द दोनों अर्थों में शक्त्या तथा लक्षणया प्रयुक्त होते हैं।

३५६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी ने प्रयास किया है कि—अहं पद की ब्रह्मवाचकता

सिद्ध हो जाय। किन्तु यह विफल प्रयास है क्योंकि हम पूर्व में कई बार सिद्ध कर आये हैं कि अहं पद अहंकार का वाचक है और आत्मा का लक्षक।

३५७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"जब विशिष्टाद्वैतियों की व्याख्या के अनुसार तीनों आदेशों का श्रुत्यक्षर स्वारस्यावगत अर्थ तथा प्रामाण्य एवं साफल्य सिद्ध हो रहा है तब विवर्तवादियों के लक्षणाश्रयणादिना श्रुतिपद कदर्थन को तथा स्थूलारुन्धती न्याय से पर्याय विशेष के अप्रामाण्य को वाक्यों के अपदार्थभूत वस्तु प्रतिपादनपरत्व को कौन मीमांसक आदर करेगा।"

इस आक्षेप का समाधान श्रीशंकराचार्य के आदेशत्रितयसम्बन्धी उपनिषद् भाष्य के पढ़ने से हो जायेगा।

इसी पृष्ठ में श्री करपात्री जी ने लिखा है कि—'चेतनाचेतन भूमा का शरीर है वह शरीररूप निरुपचरितरूप से नहीं हो सकता।'

इसके खण्डन के लिए श्री त्रिदण्डी जी ने कुछ श्रुतियों का उद्धार किया है, उनमें 'तदैक्षत' 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादि श्रुतियों से शरीरशरीरिभाव नहीं सिद्ध होता, किन्तु निमित्तकारणता सिद्ध होती है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, सर्वं खल्विदम्' इत्यादि श्रुतियों से उपादानोपादेयभाव सिद्ध होता है। 'यस्यात्मा शरीरम्' यहाँ पर आत्मा में शरीरत्वानुपपत्तिमूलक शरीरत्वारोपरूप लक्षण है। सर्वात्मा का 'सर्वस्वरूपः' यह अर्थ है इससे भी उपादानोपादेयभाव ही सिद्ध होता है। 'सोऽभिध्याय' इससे जगत् में भगवच्छरीरत्व नहीं सिद्ध होता। 'जगत्सर्वं शरीरं ते' यहां पर भी शरीरत्वारोप ही है क्यों कि पृथ्वी में 'पादत्वा रोप, दिव् में मूर्धत्वारोप, चन्द्र सूर्य में चक्षुष्ट्वारोप निश्चित है। 'यदम्बुवैष्णवः कायः' यहां पर भी कायत्वारोप है। क्योंकि करचरणादिमत्वरूप कार्य लक्षण जल में नहीं है।

'ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' इत्यादि से उपादानोपादेयभाव 'सर्वं समाप्नोषि' से व्याप्यव्यापकभाव प्रतीत होता है, इन वाक्यों से शरीर शरीरी का ऐक्य नहीं सिद्ध होता। चेतनाचेतन और परमेश्वर का मुख्य सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। क्योंकि कार्यकारणभाव व्याप्यव्यापकभाव शरीर शरीरिभाव अत्यन्त भेद में ही होता है। अतः विवर्तवादियों ने 'स एवेदं सर्वम्' इत्यादि स्थल में बाधा में सामानाधिकरण्य माना है।

३५९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"इसी तरह यदि अहं शब्द का अर्थ अहमर्थं न लेकर अहमर्थशरीरक ब्रह्म ही लेना है और उसकी सर्वात्मकता कहनी है तो सिवाय पुनरुक्तिदोष के और कोई लाभ नहीं यह कथन अनर्थक है"

इसका खण्डन यह है कि—पुनरुक्तिदोष का आपने उद्धार नहीं किया।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "मुमुक्षु अहमर्थ शरीरक ब्रह्म का अध्यवसाय करता हुआ स्वमें ब्रह्म शरीरत्वरूप चरमकाष्ठापन्न ब्रह्मस्वत्व का और ब्रह्म में चरमकाष्ठापन्न शरीरित्वरूप स्वामित्व का अध्यवसाय करता है।"

(२) "तादृशाध्यवसायशाली—अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इस श्रुति से कथित 'सोऽश्नुत सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इत्यादि श्रुति समधिगत सर्वकल्याणगुणगणविशिष्ट ब्रह्मानुभवितृत्वरूप सत्ताशाली होता है।"

इसमें प्रथम वाक्यार्थं स्वसमर्थक प्रमाणरहित होने से अग्राह्य है।

द्वितीय वाक्यार्थ में ब्रह्मानुभवितृत्वरूप अर्थं स्वोत्प्रेक्षित है सर्वकामानुभवितृत्वरूप अर्थं शब्द मर्यादा लभ्य है और यह वाक्य ब्रह्मलोक स्थित जीवन्मुक्त परक है विदेहमुक्त परक नहीं।

३६० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के 'बाधायां सामानाधिकरण्य' बोध से परिशिष्यमाणानवगन्तृ का ज्ञप्तिशिलाघनमध्यस्थ प्रदीपसहस्रप्रथनवत् वृथा ही है।"

इसका उत्तर है कि—ब्रह्मरूपा वह ज्ञप्ति आनन्दघन होने से वृथा नहीं है।

३६० पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ब्रह्म की सर्वात्मकता के अनुसन्धान में प्रवृत्त मुमुक्षु स्वतः स्वस्मे उपस्थित स्व को छोड़कर दूसरे में सर्वात्मकता के अनुसन्धान में क्यों प्रवृत्त होगा।"

इस वाक्य में 'स्वतः स्वस्मै उपस्थित' यह अंश अनर्थक है। ब्रह्म की सर्वात्मकता के अनुसंधान में यह अंश अपूर्ण है, स्वाभिन्न ब्रह्म की सर्वात्मकता के अनुसंधान में ऐसा लिखना चाहिए क्योंकि 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' ऐसा श्रुति कहती है। अहमर्थं शरीरकब्रह्म की सर्वात्मकता के अनुसंधान का मोक्षार्थं विधान कहीं भी नहीं है यदि है तो लिखिए।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"जैसे नील की घट से अपृथक्-सिद्धत्वप्रतीति होने पर भी नील घट से भिन्न है, वैसे ही चेतनाचेतन अन्तर्यामी से अपृथक् सिद्ध होने पर भी भूमा उससे भिन्न ही है, यह कथन सत्य है श्रुति स्मृति सिद्ध है।"

यह कथन असंगत है—क्योंकि—अपृथक्सिद्धत्वका अपृथक् प्रतीतित्व अर्थ होगा। सिद्धि प्रतीति रूप ही है। और चेतनाचेतन से यदि अन्तर्यामी या भूमा भिन्न ही है तब अभेद या पृथक्त्व कैसा। और अत्यन्त भिन्न गो अश्व के तरह सामानाधिकरण्य कैसा।

'पृथगात्मानम्, ज्ञाज्ञौ, भोक्ता भोग्यम्' इत्यादि श्रुतियाँ 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' इत्यादि स्मृतियाँ लोकसिद्ध जीवेश्वरभेद का अनुवाद करती हैं। 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्' यह स्मृति और 'यो मामेवमसंमूढो जानाति' यह स्मृति 'यो मामेवं जानाति' 'स मां सर्वभावेन भजति' इस अर्थ का विधान करती हैं। तब "इत्यादि श्रुति स्मृतियाँ शरीरभूत चेतनाचेतन से शरीरी-परमेश्वर के भिन्नत्वेन ज्ञान को अमृतत्व का साधन तथा असंमोह बताती हैं।" यह श्रीत्रिदण्डी जी का कहना अत्यन्त असंगत और शब्दार्थ के विपरीत है।

३६१ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अतः इससे भूमा ही सब कुछ है यह सिद्ध नहीं होता यह कथन असार है, अचिरात् सामानाधिकरण्य का उपपादन कर आये हैं।"

इसका उत्तर है कि—इस कथन से असारत्व का उपपादन आपने नहीं किया है अतः आपका असारत्व कथन ही असार है। हम भी अचिरात् सामानाधिकरण्य के उपपादन को दूषित कर आये हैं। "साथ ही यदि" इत्यादि कथन निःसार है।

यह श्रीत्रिदण्डी जी की उक्ति अहेतुक प्रतिज्ञामात्र होने से निःसार है।

"तीनों आदेशों की समानार्थकता का तथा सप्रयोजनकता का उपपादन कर आये हैं।"

यह श्रीत्रिदण्डी जी की उक्ति अयुक्त है क्योंकि—तीनों आदेशों में यदि समानार्थकता हो तो पुनरुक्ति दोष अनिवार्य आपतित होगा।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इत्यादि प्रतीतियों में परमात्मप्रकारतया इदंता का तथा अहंता का भान होता है।"

यह कथन असंगत है क्योंकि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' यह परमात्मप्रकारक ज्ञान नहीं है। "सुषुप्ति में इदन्ताभान की आपत्ति कैसे आ पड़ती है" यह श्रीत्रिदण्डी जी का कथन भी असंगत है क्योंकि अहंता बुद्धि का व्यापक इदन्ता बुद्धि है। "परमात्मा की कभी भी सुषुप्ति अवस्था ही नहीं है" यह श्रीत्रिदण्डी जी का कथन भी असंगत है।

"शेतेऽनन्तासने विश्वामात्मसात्कृत्य चाखिलम्"

यह पुराण वचन इसमें प्रमाण है।

"स्वप्ता को सुषुप्ति में ब्रह्मदर्शन भी नहो है"

यह श्रीत्रिदण्डी जी का कहना असंगत है। क्योंकि —ब्रह्म तो सदाभासमान स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप है। उसको स्वदर्शन के लिए इतर की अपेक्षा नहीं है। सुषुप्ति में अहंताप्रतीति का खण्डन सम्यक् हो चुका है। सुषुप्ति में अहंता-प्रतीति मानने पर श्रीत्रिदण्डी जी को इदन्ताप्रतीति की आपत्ति दी जा रही है। इसलिए यह चर्चा अकाण्डताण्डव नहीं है।

" 'देवोऽहं मनुष्योहऽम्' इस विशेषणविशेष्यभाव में सामानाधिकरण्य प्रतीति नहीं हो सकती।"

यह श्रीकरपात्री जी का कथन युक्तियुक्त है। क्योंकि - विशेष्य-विशेषणभाव वहीं होता है जहाँ विशेषण वस्तुगत्या विशेष्य का धर्म होता है। 'देवोऽहम्' इत्यादि स्थल में अहमर्थ में देवत्व अथवा मनुष्यत्व वस्तुतः नहीं है, अतः इस प्रतीति में बाधायां सामानाधिकरण्य मानना ही उचित होगा। 'उष्णमयः पिण्डम्' 'स्निग्धास्तिलाः' यहाँ पर भी मुख्य सामानाधिकरण्य नही है किन्तु उपचरित है क्योंकि उष्णत्व तेजोधर्म है अयःपिण्ड का धर्म नहीं है और स्निग्धत्व अर्थात् स्नेह तैलधर्म है तिल धर्म नही है।"यस्य पृथिवी शरीरम्' यस्यात्मा शरीरम्' 'जगत्सर्वं शरीरम्' 'तानि सर्वाणि त्वद्वपुः"

इत्यादि श्रुति स्मृति वाक्य शरीरत्वारोप के बोधक हैं। 'सोऽस्मिन्याय शरीरात् स्यात्' इससे जगत् में भगवच्छरीरत्वप्रतीति नहीं होती। अचिद्-विशेष का अहमर्थ के साथ अपृथक्-सिद्धत्वरूप-संबन्ध अप्रामाणिक है। यदि प्रमाण है तो लिखना चाहिए।

३६३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"'अहमर्थ अनात्मा है' क्योंकि वह शरीर के तुल्य अहं प्रत्यय का विषय है शरीर भी अहं प्रत्यय का विषय होता है उसकी अनात्मता भी प्रतिवादिसंमत है यह कथन असार है।"

इसका उत्तर है कि—"अहमर्थं अनात्मा अहं प्रत्ययविषयत्वात् शरीवरत्" यह अनुमान श्रीकरपात्री जी को अभिप्रेत है। यह हेतु दोष रहित होने से सदनुमान है। अद्वैती के मत में आत्मा अहं प्रत्यय विषय नहीं है अतः व्यभिचार दोष नहीं है। आत्मा यद्यपि अहं शब्द का लक्ष्य है तथापि अहंत्वेन नहीं किन्तु स्वरूपेण कहा भी है—

"अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते।
संसर्गासिङ्गिसम्यग्धी हेतुताया गिरामियम्॥
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता।'

'घटो द्रव्यं सद्बुद्धिबोधगम्यत्वात् रूपवत्, रूपं न गुणद्रव्यं वा सत्प्रत्यय-विषयत्वात् घटवत्' इत्यादिक दुरनुमानों से निर्विशेष ही है" यह श्रीत्रिदण्डी जी का कहना असंगत है। क्योंकि इन दोनों अनुमानों में व्यभिचार दोष है और 'अहमर्थं अनात्मा अहं प्रयविषयत्वात्' यह अनुमान निर्दुष्ट है। यथार्थ अहं प्रत्यय विषयत्व आत्मत्व का साधक नहीं है क्योंकि अहं प्रत्यय में आत्मविषयकत्व संप्रतिपन्न नहीं हैं। अहं शब्द अन्वय और अनन्वय और अहंकार शब्द का अद्वैतमतानुसार विवेचन पूर्व में कई बार कर चुके हैं। बिना प्रमाणोपन्यास के यह बालकल्पित है इत्यादि अप शब्दों का प्रयोग साधुजनोचित नहीं है।

"अग्रिम श्रुतिविरुद्ध-प्रक्रिया-रटन उपेक्षणीय है" यह श्री त्रिदडी जी का कथन श्रुतिविरोध दिखाये बिना अश्रद्धेय है। यदि अहंकारादेश और आत्मादेश समान विषयक हैं तो पुनरुक्ति है और यदि स्थूलारुन्धती प्रदर्शनन्याय से इन दोनों आदेशों में भिन्न विषयकत्व है तब अहंकार में अनात्मत्व दुर्वार है। इन

आक्षेपों का समाधान श्रीत्रिदण्डी जी नहीं कर सके और इन आक्षेपों को अकाण्डताण्डव ३६५ पृष्ठ में लिखे हैं।

यह श्री त्रिदण्डी जी का लेख 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' इस न्याय को स्मरण कराता है।

'एवं विजानत आत्मतः प्राणः' इस वाक्य का अद्वैतवादी अर्थ करते हैं कि-जो अन्तर्यामी को स्वाभिन्नत्वेन जानता है तब उसके अन्तर्यामी रूप आत्मा से ही प्राणादि यथासमय उत्पन्न होते हैं। श्री त्रिदण्डी जी का अभिप्राय है कि एवं विज्ञाता का आत्मा अन्तर्यामी भी है उसी से प्राणादि उत्पन्न होते हैं क्योंकि चेतनाचेतन का आत्मा अन्तर्यामी है। किन्तु यह अर्थ असंगत है क्योंकि अन्तर्यामी तो आपके मत में चेतनाचेतन दोनों का आत्मा है तब श्रुति में 'एवं विजानत आत्मतः' ऐसा क्यों लिखा है और एवं विज्ञान का यहां पर क्या उपयोग हुआ।

३६५ पृष्ठ में "अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः साधक का भूमा ही आत्मा होता है यह कथन स्वसिद्धान्ताज्ञानमूलक है"

यह श्री त्रिदण्डी जी का कथन प्रमाद कृत है क्योंकि—अद्वैतसिद्धान्त में जीव और भूमा का वस्तुतः ऐक्य है। भूमा को साधक के आत्मा का आत्मा कहना श्रुत्यसंमत है।

३६६ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अखण्डार्थबोध करता हुआ क्या 'अहं वै त्वमसि' बोल सकता है।"

इसका उत्तर यह है कि—समाधिदशा में अखण्डार्थबोध करता हुआ ब्रह्म-दर्शी व्युत्थान दशा में ऐसा बोल सकता है।

"अतः शरीरात्मभाव का ही प्रमापिकायें उदाहृत श्रुतियां हैं" यह श्री त्रिदण्डी जी का कथन भी असार है क्योंकि—उदाहृत श्रुतियों से शब्दमर्यादया शरीरात्मभावविषयक शाब्दबोध नही होता।

३६७, ३६८, ३६९ पृष्ठों में पञ्चरात्र प्रक्रिया का आलम्बन करके अनिरुद्ध को जीवान्तर्यामी कहा है और अहंकृतिरूप कहा है। और जो 'अव्य-क्ताद् व्यक्तमुत्पन्नम्' इत्यादि पञ्चरात्रप्रक्रिया-प्रतिपादक पद्यों का उद्धरण करके व्याख्या स्वेष्ट सिद्धि के लिये किया है वह सब असंगत है क्योंकि —

उत्पत्त्यसंभवात्, न च कर्तुः करणम्, विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः, विप्रतिषेधाच्च''

इन सूत्रों में पञ्चरात्रप्रक्रिया का श्रुतिविरुद्ध होने से खण्डन किया गया है। "विप्रतिषेधाच्च" इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में लिखा है—

"विप्रतिषेधश्चास्मिन् शास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः। ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मानं एवैते भगवन्तो वासुदेवा इत्यादिदर्शनात्। वेदविप्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान् इत्यादिवेदनिन्दा-दर्शनात्। तस्मादसंगतेषा कल्पनेति सिद्धम्"।

३६९, ३७० पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"इन वाक्यों में सांख्यानुसार महत्तत्त्व में एवं अहंतत्त्व में ही महान् एवं अहं शब्द का प्रयोग हुआ है, यह कथन असार है क्योंकि—सांख्यकारिका कौमुदी प्रसिद्ध सांख्यवाद निरीश्वरवाद है। उसमें ईश्वरवर्णन का प्रसङ्ग ही कहाँ है। भारत भागवतादिवर्णित सांख्य आदरणीय वेदान्तदर्शन से अभिन्न ही है। मोक्षधर्म के वचनों की मोक्षधर्मानुसारिणी ही व्याख्या सुव्याख्या है इतर व्याख्या कुव्याख्या है।"

यह कथन सर्वात्मना असंगत है क्योंकि—सेश्वरसांख्य और निरीश्वरसांख्य दोनों में ईश्वरतत्त्व को छोड़कर अन्यतत्त्व निरूपण में कोई भेद नहीं है, अत एव योग को भी सेश्वरसांख्य कहते हैं।

> सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
> एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

यह गीतावाक्य इसमें प्रमाण है। शब्दप्रयोग निर्धारण में निरीश्वरवादी अमर और हेमचन्द्र यदि प्रमाण हो सकते हैं, तब निरीश्वरवादी सांख्य क्यों नही प्रमाण होगा।

भारत भागवत में वर्णित सांख्यसिद्धान्त वेदान्तदर्शन के ईश्वरांश और योगांश में समान होने से आदरणीय हो सकता है अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि इतरांश में ब्रह्मसूत्रसंमत नहीं है। ब्रह्मसूत्रों में सांख्य के इतर तत्त्वों का

खण्डन स्पष्ट रूप से बाहुल्येन प्रसिद्ध है। मोक्षधर्म के वचनों की शब्दमर्यादा-नुसारिणी व्याख्या ही सुव्याख्या है, इतर व्याख्या कुव्याख्या है।

"ईक्षण ही महत्तत्त्व है बहुभवन की इच्छा ही अहंतत्त्व है" इस श्री करपात्री जी की उक्ति को श्रीत्रिदण्डी जी प्रलपन कहते हैं। और 'ईक्षतेर्नाशब्दम्, गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इत्यादिक ब्रह्मसूत्रपदों से निरस्त कहते हैं।

यह कथन असंगत है क्योंकि—इन दोनों सूत्रों का महत्तत्त्व और अहंतत्त्व से कोई संबन्ध नहीं है। 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इस श्रुति के अर्थनिरूपण करते हुए श्रीत्रिदण्डी जी कहते हैं कि— उस कारण-ब्रह्म ने दर्शनात्मकसंकल्प किया। उस दर्शनात्मकसंकल्प को अभिनय करके श्रुति दिखाती है—बहुत नाम रूप बाला होऊँ, तदर्थं प्रकर्षेण उत्पन्न होऊँ। यही स्वारसिक 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि सकल श्रुतिसंवादी अर्थ है। इतर विवर्तवादी से कथित अर्थ कदर्थ है।"

यह कथन सर्वथा असंगत है। क्योंकि— दर्शनशब्द और संकल्पशब्द स्वप्रकृतिभूत विभिन्नार्थक धातुभेद से विभिन्नार्थक हैं। किसी पदार्थ की सम्यक्त्व कल्पना (शोभनत्व कल्पना) को संकल्प कहते हैं। वह तदर्थविषयक इच्छा का मूल कारण है, इसलिये इच्छा को भी लक्षणया संकल्प कहते हैं। "बहुत नाम रूप बाला होऊँ, तदर्थं प्रकर्षेण उत्पन्न होऊँ" यह भी इच्छात्मक संकल्प है दर्शनात्मक नहीं। अतः श्रीत्रिदण्डी जी का "यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि सकल श्रुतिसंवादी अर्थ है" यह कहना असंगत है।

३७१ पृष्ठ में—"विशिष्टाद्वैती जीवान्तर्यामी की सर्वात्मकता का उपपादन करते हैं, अहंकार की सर्वात्मकता का उपपादन नहीं करते हैं" यह श्रीत्रिदण्डी जी की उक्ति ३६७ पृष्ठ के "जीवान्तर्यामी जो अनिरुद्ध हैं वे ही अहमिति बुद्धया उपास्य अहंकार हैं" इस उक्ति के विरुद्ध है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इत्यादि श्रुति स्मृतियाँ अन्तःप्रविश्य नियमनेन सर्वात्मकता कहती हैं।"

यह कथन अत्यन्त अयुक्त है क्योंकि—'यदि अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' यह उद्देश्य और सर्वात्मा विधेय हो तब अन्तःप्रविश्य नियमनेन सर्वात्मकता

उपपन्न हो सकती है किन्तु ऐसा नहीं है, किन्तु यह दोनों अन्तर्यामी के परिचायक हैं। अत एव 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' यह स्मृति अन्यथा सर्वात्मकत्व का उपपादन करती है। इस स्मृति वाक्य का अर्थ है "यतस्त्वं सर्वं समाप्नोषि संहृत्य स्वस्मिन् सूक्ष्मरूपेण कारणात्मना स्थापयसि ततः सर्वः सर्वात्मकः असि" 'सम्' पूर्वक 'आप्' धातु की समाप्ति अर्थात् संहार अर्थ में शक्ति है और संहार-पूर्वक स्वस्मिन् स्थापन में लक्षणा है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी कहते हैं कि—"यदि प्रत्यक् शुद्धआत्मा न होता तो पराग् दर्शन वर्जित प्रत्यक् का दर्शन तथा क्रतुन्यायसे अमृतत्व का साधन होता। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः' इत्यादि"

यह कथन असार है, क्योंकि—श्रुत्यर्थ यह है—'कश्चित् प्रत्यक् = विपरीतात्मदर्शी धीरः, अमृतत्वमिच्छन् आवृत्तचक्षुः विषयेभ्यो व्यावृत्तचित्तः आत्मानं शुद्धमैक्षत्"

यदि प्रत्यक् पद आत्मा का विशेषण माना जाय तो विशेषण वैयर्थ्य रूप दोष आपतित होगा। 'आत्मानमैक्षत्' इतना ही अमृतत्व प्राप्ति के लिये पर्याप्त था। अहं प्रत्यय विषय प्रत्यक् नहीं है, किन्तु अहंकार है यह पहले कई वार हम उपपादन कर आये हैं।

२७२ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "आत्मेतर पदार्थ स्वेतर आत्म-वस्तु को प्रकाशते हैं।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि—आत्मेतर पदार्थ जड़ होने से स्वप्रकाश आत्मा का प्रकाशन नहीं करते हैं।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' यह श्रुति इस अर्थ में प्रमाण है।

२७३ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"परमेश्वर ने स्वबहुभवनार्थ स्वपर्यन्त सभी नाम रूपों की रचना की, अतः सभी नाम रूप परमेश्वर पर्यन्त हैं, अतः परमेश्वर के अहं प्रत्यय के विषय सभी चराचर हैं।" इस शास्त्रदृष्टि वाले ब्रह्मदर्शी जीवों के भी अहं प्रत्यय के विषय चराचर हैं।

यह सब बातें अद्वैतवाद में ही उपपन्न हो सकती हैं विशिष्टाद्वैतवाद में नहीं। क्योंकि नित्यशुद्ध चेतनरूपपरमेश्वर निमित्त और उपादान उभय होकर जड़का जनक नहीं हो सकता। मायावच्छिन्न चैतन्यरूप परमेश्वर हो सकता है और उसके अहं प्रत्यय के विषय चराचर हो सकते हैं। और ब्रह्मदर्शी जीवों के भी अहं प्रत्यय के विषय चराचर तब हो सकता है जब जीव और परमेश्वर का वस्तुभूत अभेद हो।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि--"अद्वैतमत में माया-परिणामात्मक--वृत्तिविशेष का आश्रय होने से जगत्कारण ईश्वर है यह कथन असार है।"

यह कथन विद्वेषमूलक है। क्या अद्वैतमत में मायावच्छिन्न चैतन्य परमेश्वर जगत्कारण नहीं माना जाता। अद्वैतवाद में जीवसृष्ट और ईशसृष्ट दो प्रकार का जगत् माना गया है—

'अन्या मांसमयी योषा काचिदन्या मनोमयी।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी॥'

इत्यादि पञ्चदशी के वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

३७४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"कृत्स्न वेदान्तभाग जीव परमात्मयाथात्म्य-ज्ञानपूर्वक-वर्णाश्रमधर्मेतिकर्तव्यताक अत्यर्थिप्रिय परमपुरुष चरणयुगल ध्यानार्चन प्रणामादिक तत्प्राप्ति फल है इस अर्थ का प्रतिपादक है।"

यह कथन अत्यन्त असंबद्ध है। कृत्स्नवेदान्तभाग जीव परमात्मयाथात्म्य का ज्ञापक है यह कहा जा सकता है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि "वेदान्त-भाग का द्वैविध्य प्रत्यक्त्व की स्वप्रकाशत्वरूपता का उपयोगी कैसे हो सकता।"

इसका उत्तर है कि—प्रत्यगात्मस्वरूपनिरूपण करने वाला वेदान्तभाग प्रत्यक्त्व की स्वप्रकाशत्वरूपता का उपयोगी हो सकता है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त ज्ञानगन्धशून्य का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में प्रत्यक्त्वादिकों का लक्षण वर्णन कलिकोलाहल क्रीडा है।"

इसका उत्तर है कि—अद्वैतसिद्धान्तज्ञान-गन्धशून्य का अद्वैतसिद्धान्त में अहंप्रत्ययविषयत्व तथा तत्प्रयोज्यत्व का वर्णन कलिकोलाहल क्रीडा है।

आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—' "अहं प्रत्ययविषयत्व की प्रत्यक्त्व प्रयोजकता में युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च, न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्" इत्यादि शंकरभाष्य ही प्रमाण हैं।"

इसका उत्तर है कि अद्वैतवेदान्त में अस्मत्प्रत्ययविषयत्व अहं पद के लक्ष्य आत्मा में उपपन्न हो सकता है। अहं पद का वाच्य तो अहंकार ही है, अतः अस्मत्प्रत्यय विषयत्वप्रत्यक्त्व का प्रयोजक नहीं हो सकता। यह हम कई बार पूर्व में कह आये हैं।

३७५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रत्यक्त्वव्यवहार केवल वेदान्तियों के यहाँ नहीं है, किन्तु नैयायिकादिकों के यहाँ भी है और उनके मत में स्वप्रकाश कोई वस्तु हो नहीं है अतः सर्वप्रयोगानुयायी न होने से स्वप्रकाशत्व प्रत्यक्त्व का प्रयोजक नहीं हो सकता, किन्तु सर्वप्रयोगानुयायी होने से अहं प्रत्ययविषयत्व ही प्रत्यक्त्व का प्रयोजक हो सकता है।"

इसका उत्तर है कि—नैयायिकों के यहाँ प्रत्येतुः प्रत्येतव्यादनतिरेकरूपलक्षण प्रत्यक्त्वव्यवहार का प्रयोजक है अहंप्रत्ययविषयत्व नहीं। 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्' यह नैयायिकों की उक्ति है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जो लिखते हैं कि "साक्षाद् द्रष्टा सदा अहं बुद्धि का गोचर होता ही है।"

इसका उत्तर है कि—लोक में प्रतिभूरूप साक्षाद् द्रष्टा साक्षी त्वं पद का गोचर है और वेदान्त में 'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि' इत्यादि स्थलों में साक्षी अहं पद और त्वं पद दोनों का गोचर है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जो लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के पक्ष में 'अहं पश्यामि' इस प्रतीति का उपपादन बृहस्पति भी नहीं कर सकते हैं, यह पूर्व में कह आये हैं।"

इसका उत्तर है कि—इस प्रतीति में अहंकारावच्छिन्न-चैतन्य अहंपद लक्ष्यार्थ है और उसमें दर्शनरूप मनोवृत्तिविशेष का आश्रयत्व विशेषण द्वारा उपपन्न है।

३७६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के मत में अनादिकाल से अद्यपर्यन्त न कोई मुक्त हुआ, न कोई ज्ञानी हुआ।"

यह धूलीप्रक्षेप मात्र है। विवर्तवादियों के एकात्मवाद में ईश्वरभावापत्ति रूप मुक्ति और जीवेश्वराभेदज्ञानरूप तत्साधन दोनों सिद्धान्तलेश में प्रसिद्ध हैं। 'पराञ्चि खानि' इत्यादि श्रुति का अर्थ पूर्व में कर आये हैं।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विशिष्टाद्वैतियों के तत्त्व-निरूपण पर ग्रन्थों के उद्देशप्रकरण में ही प्रायः धर्मभूतज्ञान को पराक् कहा गया है।"

यह उक्ति तब तक अग्राह्य है जब तक उन ग्रन्थों के किसी एक वाक्य का भी श्रीत्रिदण्डी जी उद्धरण नहीं करते और धर्मभूत ज्ञान के परावत्व का उप-पादन नहीं करते।

३७७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—मिथ्याविषय प्रत्ययगोचरता अविद्या विषयाश्रयनिर्विभाग चिति में कैसे हो सकती है, अतः अकामेनापि उक्त भाष्यवाक्य से अस्मत्प्रययगोचरता शुद्धआत्मा में ही माननी होगी।"

इसका उत्तर है कि—अविद्या विषय निर्विभागचिति अविद्यावृत्तिरूपमिथ्या-प्रत्यय का गोचर हो सकती है। और उदाहृत शांकरभाष्य 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र को अवतरणिकाभाष्य तथा अध्यासभाष्य भामत्यादि में लिखा है, अतः यहाँ पर अस्मत्प्रत्ययविषयत्व कर्तृभोक्तृरूप संसारी आत्मा में ही विवक्षित है शुद्ध में नहीं।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यदि पूर्वपक्षियों की दृष्टि से अस्मत्प्रत्यय-गोचर कहा गया है तो स्वदृष्टि से सर्वथा अख्यात होने से वह बन्ध्यासुत-सहोदर ही होगा"

इसका उत्तर यह है कि—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इससे पूर्व का अवतरणिका भाष्य अध्यासभाष्य कहा जाता है, अतः आत्मा में अस्मत्प्रत्यय-गोचरत्व पूर्व-

पक्षियों की दृष्टि से कहा गया है यह उपपन्न है और आत्मा स्वदृष्टि से सर्वथा अख्यात नहीं है किन्तु 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र तथा भाष्य में सम्यक् आख्यात है, अतः वह वन्ध्यासुत सहोदर नहीं है।

इस पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"जब शब्द प्रयोग स्वाधीन है तब अभिधायक आत्म शब्द को छोड़ कर भ्रामक अस्मच्छब्द का प्रयोग किस लिए किया गया है।"

इसका उत्तर यह है कि—अहंकारावच्छिन्न चिद्रूप आत्मा में अस्मच्छब्द को लक्षणा प्रयोजनवती नहीं है, किन्तु सार्षपादिस्नेह में तैलादिशब्द के तरह निरूढा है। अतः किसलिए यह प्रयोजन प्रश्न निरर्थक है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"किञ्च जो किसी शब्द का वाच्य होता है वही किसी शब्द का लक्ष्य होता है, विवर्तवादियों का निर्विशेषतत्त्व किसी शब्द का वाच्य नहीं है, अतः किसी शब्द का लक्ष्य भी नहीं हो सकता।"

इसका उत्तर है कि—विवर्तवादियों का निर्विशेषतत्त्व असत्य भिन्न, अज्ञान भिन्नादि शब्द वाच्य है अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थल में अहं पद का तथा वाक्य का लक्ष्य हो सकता है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सर्वथाऽपि अहं प्रत्यय विषय की अनात्मता सिद्ध है' इस निर्युक्तिक कथन में तुण्ड की स्वतन्त्रता कारण है।"

इसका उत्तर है कि—इस निर्युक्तिककथन में तुण्ड की स्वतन्त्रता ही कारण है।

३७८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सिद्धान्ती को धर्म-भूतज्ञान में पराक्त्व और परमात्मा में प्रत्यक्त्व इष्ट है।"

इसका उत्तर है कि—'पराञ्चि खानि' इस श्रुति में पराक् शब्द का प्रयोग बहिर्गामी अर्थ में किया गया है, बहिर्गामित्व रूप पराक्त्व धर्मभूतज्ञान में नहीं है और 'प्रत्येतुः प्रत्येतव्यादनतिरेकः प्रत्यक्त्वम्' यह नैयायिकों का प्रत्यग् लक्षण जीव में है क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य रूप जीव प्रत्येता और प्रत्येतव्य दोनों है। वह साक्षिभास्य होने से प्रत्येतव्य है। विशेषण के साक्षिभास्य होने से

विशिष्ट साक्षिभास्य है। परमात्मा में प्रत्यक्त्व नहीं है क्योंकि वह प्रत्येतव्य नहीं है। 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादि श्रुतियां इस अर्थ में प्रमाण हैं।

३७८ पृष्ठ में ही श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विशिष्टाद्वैतियों से उनके तत्त्वनिरूपण पर ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए"।

इसका उत्तर है कि—विशिष्टाद्वैतियोके तत्त्वनिरूपण पर ग्रन्थों की सयुक्तिक समालोचना करने वाला पुरुष उनके तत्त्वनिरूण पर ग्रन्थों को उनसे क्यों पढ़ेगा।

इसके आगे इसी आक्षेप का यही उत्तर समझना चाहिये।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"परस्मै अञ्चति प्रकाशते इति पराक्, स्वस्मै अञ्चति प्रकाशते इति प्रत्यक्" इत्यादि।

यह सब कथन अयुक्त है, क्योंकि—पराक् पद में 'परा' उपसर्ग का अर्थ परस्मै नहीं हो सकता और 'अञ्चति' का 'प्रकाशते' अर्थ नहीं होगा, और घटादि रूप परागर्थ में परस्मै प्रकाशमानत्व जड़ होने से बाधित है और प्रत्यक् पद में प्रति उपसर्ग का स्वस्मै अर्थ असम्भवी है।

३७९ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अतः अहमर्थत्व प्रयुक्त ही प्रत्यक्त्व है"।

यह कथन असंगत है क्योंकि—अहं पद वाच्यत्व रूप अहमर्थत्व की अपेक्षा से लाघवात् चित्त को ही प्रत्यक्त्व का प्रयोजक मानना उचित है।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ईश्वर अहमर्थ-भिन्न नहीं है"।

यह कथन असंगत है क्यों कि—'अहं ब्रह्मास्मि' यहाँ पर ईश्वर अहमर्थ नहीं है। 'चिदचिदीश्वरभेदात्तत्त्वं त्रिविधम्' यह विशिष्टाद्वैतियों का सिद्धान्त असंगत है क्योंकि ईश्वर भी चिद्रूप ही है।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सर्वनामरूपा व्याकृतसदेव सोऽयेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति से कथित परमेश्वर का" इत्यादि।

यह कथन सारहीन है क्योंकि—सर्वनाम रूपात्मक तथा अव्याकृतपरमेश्वर की शक्ति माया है, परमेश्वर में व्याक्रिया रूप विकार उचित नहीं है।

३८० पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यस्याक्षरं शरीरम्' 'यस्याव्यक्तं शरीरम्' 'यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादि श्रुतियों से स्थूलचिदचिद्रूप शरीर से शरीरित्व या सूक्ष्मचिदचिद्रूप से शरीरित्व सर्वदा ही प्रमित है"।

यह कथन असंगत है क्योंकि—यहाँ पर स्थूलचिदचिद्रूप से शरीरित्व किसी शब्द से प्रतीत नहीं होता। 'यस्यात्मा शरीरम्' इस श्रुतिवाक्य में आत्मशब्दार्थं मन है वह अचिद्रूप है। अव्यक्त भी अचिद्रूप ही है, अतः इन दोनों वाक्यों से चिद्रूप शरीर से शरीरित्व का भान नहीं होता।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"इस कथन के हेतु भ्रम की निवृत्ति विशिष्टद्वैतिविद्वानों से उनके ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए"।

यह कथन असामर्थ्य-द्योतक है क्योंकि—आपको स्वयं भ्रमनिवर्तक हेतुओं का उपन्यास यहाँ पर करना चाहिए। जिसकी समीक्षा यहाँ पर हम कर सकें :

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अहमर्थं को प्रत्यक् स्वीकार करने में अद्वैती को कोई हानि नहीं है इसीलिए अहमर्थं अखण्डात्म रूप होने में प्रत्यक्त्वानुपपत्ति प्रमाण नहीं है।

इसका उत्तर है कि—उसका खण्डन भी हम पूर्व में कर आये हैं।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"तत्त्व का याथात्म्येन दर्शन ही अमृतत्त्व का साधन है।"

यह कथन प्रमाण रहित है।

आगे चल कर श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"ब्रह्मेतर तत्त्वों का याथात्म्य 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्त्यम्' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ब्रह्मात्मकत्व ही है।"

यह कथन असंगत है क्योंकि—उदाहृत श्रुति का अभिप्राय यह है कि—'यदात्मकमिदं सर्वं प्रतीयते तत्सत्त्यम्— इदन्तु प्रतीयमानमसत्त्यम्' इति। अतः ब्रह्मेतरतत्त्व वस्तुतः ब्रह्मात्मक नहीं है।

३८१ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अतः शरीरिपर्यन्त शरीर-भूत जीवात्मदर्शन ही प्रत्यगात्मयाथात्म्य दर्शन है उसी का अमृतत्वसाधन प्रतिपादिका सकल 'तत्त्वमसि' प्रभृति श्रुतियों से प्रतिपादित है।"

यह सब कथन प्रमाणशून्य है यदि कोई प्रमाण हो तो उसका उल्लेख करना समीक्षा के लिये आवश्यक था। 'तत्त्वमसि' यह श्रुति प्रत्यगात्म याथात्म्य

दर्शन के अमृतत्वसाधनत्व का प्रतिपादका नहीं है, यह तो जीव परैक्य की प्रतिपादिका है।

३८१ पृष्ठ में ही श्री त्रिदण्डो जो लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के मुख्य मत में कारणब्रह्म के साथ जीवात्मा के तादात्म्य का प्र.तपादक तत्त्वमसि प्रभृति श्रुतियां भ्रान्तिसिद्धार्थ का प्रतिपादक होने से अनुवादिका ही हैं प्रमाणभूता नहीं हैं।"

यह कथन अद्वैतसिद्धान्ताज्ञान-मूलक है क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियां कारणब्रह्म के साथ जीवात्मा के तादात्म्य की प्रतिपादिका नहीं हैं। किन्तु अखण्डार्थ की प्रतिपादिका हैं। कहा भी गया है—

संसर्गासंगिसम्यग्धी हेतुताया गिरामियम्।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता॥

अतः अखण्डार्थ के अननुभूत होने से प्रमाणभूता हैं अनुवादिका नहीं हैं। यहाँ पर 'सिद्धान्तबिन्दुकार' के सृष्टि वचनों का उपन्यास अप्रासङ्गिक तथा असंबद्ध है।

३८२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी पुनः लिखते हैं कि—"इस पक्ष में अद्यावधि न कोई मुक्त हुआ न कोई ज्ञानी हुआ न आगे भी होने की आशा है' यह इष्टसिद्धिकारादिकों के 'कस्यचिन्मुक्तिरासीच्चेत्' इत्यादिक वचनों से सिद्ध है"

हम पहले भी कह आये हैं कि—अद्वैतियों के एकात्मवाद में शुकदेव वामदेवादि ज्ञानी हुए और आगे भी होंगे। शुकदेवादि की ईश्वरभावापत्ति मुक्ति है। ब्रह्मभावापत्ति रूप मुक्ति उनको अभी नहीं हुई।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विशिष्टाद्वैतियों ने प्रकृत श्रुतिगत प्रत्यगात्म पद में तत्पुरुषसमास का आश्रयण नहीं किया है"

यह कथन असंगत है क्योंकि—इस कथन से आत्मा के प्रत्यक्त्व रूप विशेषण के सार्थक्य की उपपत्ति नहीं हो रही है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"परमात्मा प्रतिवादी के मत में अहमर्थ नहीं है तो भी प्रत्यक् है, यह कथन विशिष्टाद्वैतियों के सिद्धान्ताज्ञान का गमक है"

इसका उत्तर यह है कि—परमात्म शब्द और परमेश्वर शब्द भिन्न प्रवृत्ति-निमित्तक होने से भिन्नार्थक हैं। आत्मा में परमत्व शरीराद्युपाधिशून्यत्व है और वह अहमर्थ नहीं है। ईश्वर में परमत्व माया रूप परम शक्ति संपन्न-स्वरूप है। अतः श्रुति स्मृतियों में परमेश्वर में अहंशब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। इसको मानने के लिए विशिष्टाद्वैती भी बाध्य हैं।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यदि आत्मा भी ज्ञेय होगा तो वह घटादि के तुल्य जड ही होगा, यह कथन अनर्थक है। यदि आत्मा ज्ञेय न होगा तो वह गगन कुसुमादि के तुल्य तुच्छ ही होगा"

यहाँ पर श्रीकरपात्री जी का परमतानुसार अनुमान है। 'आत्मा जडः ज्ञेयत्वाद् घटादिवत्'। श्रीत्रिदण्डी जी का परमतानुसार अनुमान है—'आत्मा तुच्छः ज्ञेयत्वाभावात् गगनकुसुमवत्'। श्रीकरपात्री जी के अनुमान में बाधादि दोष नहीं है। अत एव आत्मा को जड़ नैयायिक और प्राभाकर मानते हैं। श्रीत्रिदण्डी जी के अनुमान में अहमस्मि' इत्यादिक आत्मा के सत्त्व प्रत्यक्ष से आत्मा में तुच्छत्व बाधित है।

३८२ तथा ३८३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"आत्मा तथा परमात्मा का वेद्यत्व श्रुतिशत सिद्ध है"

इसका उत्तर है कि—आत्मा तथा परमात्मा का वृत्तिविषयत्व रूप वेद्यत्व अद्वैती को भी संमत है। पञ्चदशी में लिखा है—

'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्॥

३८३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"नैयायिक का अनुकरण करना अनात्मवाद में ही पतन है' यह कथन असार है"

यह कथन अत्यन्त असंगत है—क्योंकि असारत्व के उपपादक हेतु का उपन्यास नहीं है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"प्रत्यक्त्व पराक्त्व दोनों से अतीत आत्मा बन्ध्यासुतका सहोदर है"

यह कथन असंगत है क्योंकि—श्रुति ही आत्मा को निर्धर्मक तथा सर्व-शब्दागोचर बताती है। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्" 'साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च'।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यहां श्रीशाङ्करभाष्य में जगदध्यासाधिष्ठान अस्मत्प्रत्ययगोचर कहा गया है"

यह कथन सत्य से अत्यन्त दूर है, क्योंकि—इस शांकरभाष्य में देहेन्द्रियादि श्यामत्व गोरत्वादि, कर्तृत्व प्रमातृत्वादि, अध्यासाअधिष्ठान के ही अस्मत्प्रत्यय गोचरत्व का कथन है जगदध्यासाधिष्ठान के अस्मत्प्रत्यय गोचरत्व का कथन नहीं है। देहाद्युपहित उक्ताध्यासाधिष्ठान भी घटादि के तरह शुद्ध में अध्यस्त हो सकता है शुद्ध को न अध्यस्तता है और न अस्मत्प्रयय गोचरता है।

३८४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"एतद् भाषण मूलभूत बाल्य का अपनोदन विशिष्टाद्वैति-विद्वानों से उनके तत्त्वनिरूपण पर ग्रन्थों के अध्ययन से करना चाहिए"

इसका उत्तर यही है कि—श्रीकरपात्री जी के इस कथन को समझने के लिए अद्वैतिविद्वानों से उनके अद्वैततत्त्वनिरूपण पर ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए।

३८५ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के मुख्य-सिद्धान्त में गौरवदोषग्रस्त होने से इन्द्रियान्तःकरणादिकों की कल्पना ही नहीं है इसमें सिद्धान्तबिन्दु की "अज्ञानतत्कार्यंजातं प्रातीतिकं प्रतीतिमात्र-कालिकम्" इत्यादि 'नारायणी टोका' प्रमाण है"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि—यहीं पर लिखा है कि "इन्द्रिया-न्वयव्यतिरेकौ स्वप्न इव नेयौ"। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय तथा उसके अन्वयव्यतिरेक स्वाप्निकपदार्थं के तरह कल्पित हैं।

३८६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"जब तक स्वभाविक ज्ञातृत्व-शाली अहमर्थ प्रत्यगात्मा नहीं माना जायगा तब तक चार्वाकखण्डन नहीं हो सकता"

इसका उत्तर है कि—शरीरातिरिक्त अहंकार को अहमर्थ तथा वृत्तिरूप ज्ञानाश्रय होने से ज्ञाता मानने पर भी चार्वाकमतखण्डन हो सकता है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"धर्माध्यास होने पर अधिष्ठान तादात्म्येन प्रतीति होती है, इत्यादि। किञ्च देहात्माध्यास दारुवह्नि के अन्योऽन्यस्मिन् अन्योऽन्यात्मकता को तथा अन्योऽन्यस्मिन् अन्योऽन्यधर्मों को विषय करता है, यह सर्व परीक्षकमान्य है शांकरभाष्य भी इसमें साक्षी है"

यह सब कथन अत्यन्त असंगत है, क्योंकि—शांकरभाष्य में "अन्योऽन्यस्मिन् अन्योऽन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" यह लिखा है। इससे धर्म्यध्यासपूर्वकत्व धर्माध्यास में प्रतीत होता है। 'चेतनोऽहं गेहादिकं करोमि' इत्यादि अनुभावों से देहादि में चैतन्याध्यास अथवा चेतनतादात्म्याध्यास सिद्ध होता है। 'स्थूलोऽहं जानामि' इस अनुभव में देह में ज्ञातृत्वप्रतीति—अहंकार रूप ज्ञाता के तादात्म्याध्यास से है।

३८७ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"चैतन्य में देहाद्यध्यास की प्रतिपादिका भाष्यकारों से समादृत कोई श्रुति नहीं है"

यह कथन असंगत है—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादि श्रुति चैतन्य में देहाद्यध्यास की प्रतिपादिका है।

३८७ पृष्ठ में ही श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—'विशिष्टाद्वैति विद्वानों से श्रीभाष्य का अध्ययन करलेने पर ऐसे असबद्ध प्रलापों का अवकाश न होगा"

इसका उत्तर है कि—अद्वैतिविद्वानों से शांकरभाष्य का अध्ययन कर लेने पर ऐसे असंबद्ध प्रलापों का अवकाश न होगा।

३८८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्र की 'जानातीति ज्ञः' यह काशिका है। 'ज्ञोऽत एव' इस सूत्र का जो 'अतः ज्ञः' इस सूत्र में स्वभाष्य विरुद्ध भावार्थक कप्रत्यय कहना व्याकरणज्ञान शून्यता का अनुमापक है"

इसका उत्तर है कि—यद्यपि "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" यह सूत्र "कर्तरि कृत्" के अधिकार में है तथापि "कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र में 'बहुलम्' इस योग विभाग से 'दानीयो विप्रः' के तरह बाहुलक से भावार्थ में 'क' प्रत्यय हो सकता है। बाहुलक समाश्रयण का कारण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार आत्मा की ज्ञानरूपता ही है। उदाहृत शांकरभाष्य में नित्य चैतन्य पद में अभेद रूप षष्ठ्यर्थ को अन्यपदार्थ मान कर बहुव्रीहि की उपपत्ति है, क्योंकि श्रीशंकरभगवगवत्पाद को आत्मा का नित्यचैतन्याश्रयत्व अनभिप्रेत है। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इस श्रुति में विज्ञातृपद की प्रकाशक में लक्षणा है क्योंकि आत्मा की ज्ञानरूपता बहुतरश्रुतिसिद्ध है। 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इस श्रुति में 'विज्ञातुर्विज्ञातेः' यह दोनों समानाधिकरण षष्ठी हैं। यह पूर्व में बार-बार कह आये हैं।

आत्मा और ज्ञान की धर्मधर्मिभाव-कल्पना उक्त श्रुतिविरुद्ध है। 'विज्ञानघन एव' इस श्रुतिवाक्य से आत्मा की स्वात्मै स्वयंप्रकाश मानना शब्द-मर्यादा लभ्य नहीं है। "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" यह श्रुति विज्ञातिरूप विज्ञाता के अविनाशित्व का प्रतिपादन करती है ऐसा मानने पर वाक्यभेद नहीं होता। क्योंकि विधेय एक है विज्ञाता के और विज्ञाति के अविनाशित्वविधान में वाक्यभेद अवश्यंभावी है।

२८६ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा' यह पाठ पदाज्ञान-सूचक है।"

इसका उत्तर है कि—एवकारार्थक वा शब्द मानने पर यह पाठ उपपन्न हो सकता है. यद्यपि यहाँ पर श्रुति में वै शब्द का संभव है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"मैत्रेयी की प्रदर्शित शङ्का कथन में तुण्ड की स्वतन्त्रता ही कारण है क्योंकि उक्त प्रकार की शङ्का का प्रदर्शक कोई पद नहीं है।"

इसका उत्तर है कि—इस उत्तर वाक्य से मैत्रेयी की उक्त प्रकार की शङ्का का उन्नयन हो सकता है।

३९० पृष्ठ में श्रोत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि— "वैसे ही स्वरूपतः धर्मतश्च जीव-शरीरक परमात्मा।"

यह कथन प्रमाण रहित है।

इसी पृष्ठ में आगे चलकर श्रोत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यहाँ ज्ञानविकास के प्रादुर्भाव को उत्पत्ति और अत्यन्त ज्ञानसंकोच को विनाश जानना चाहिए।"

यह कथन असंगत है क्योंकि—हम पहले कई वार कह चुके हैं कि ज्ञान सावयव द्रव्य नहीं है अतः उसका संकोच-विकास असंभवी है।

इसी पृष्ठ में आगे लिखते हैं कि—"ये दोनों उत्पाद विनाश प्रज्ञानघन शब्दित जीव-शरीरक परमात्मा में जीव द्वारा हो सकते हैं ऐसा जानना चाहिए।"

यह कथन उपपत्ति रहित है क्योंकि— परमात्मा जीवशरीरक नहीं है। और जीव द्वारा परमात्मा का उत्पाद विनाश असंभवी है।

३९० पृष्ठ में ही श्रोत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) "प्रपूर्वक 'इण्' धातु चरमदेह—वियोगार्थक है।"

(२) "चरमदेहवियोग के बाद मोक्षदशा में स्वाभाविक अपरिच्छिन्न ज्ञान का संकोच न होने से संज्ञा नहीं है।"

(३) 'यहाँ 'सम्' यह उपसर्ग एकीकार अर्थ में है। 'ज्ञा' धातु का ज्ञान अर्थ है।"

(४) अतः पूर्वोक्त भगवदुपासन से ज्ञान संकोच हेतुभूत कर्मों का आत्यन्तिक नाश हो जाने से निरङ्कुश अपरिच्छिन्न ज्ञान वाले जीव को स्वस्वरूप के याथात्म्य का ज्ञान होने से संज्ञा शब्दित देहात्मभ्रमादि की निवृत्ति हो जाने से पूर्वोक्त भूतानुविधान प्रयुक्त उत्पत्ति विनाशादि मोक्षदशा में नहीं होता है।"

(५) अतः संसारचक्र-भ्रमण-निवृत्तिके लिए परमात्मोपासन ही करना चाहिए।

(६) यह उपदेश मैत्रेयी को भगवान् याज्ञवल्क्य ने किया।"

यहाँ पर प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि—प्रपूर्वक 'इण्' धातु का चरमदेह वियोग अर्थ नहीं है किन्तु प्रकृष्टगमन अर्थ है, गमन में प्रकर्ष पुनरागमन शून्यत्व है।

द्वितीय आक्षेप का उत्तर है कि—उक्तरीति से ज्ञान का संकोच विकास असंभवी है।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—'सम्' उपसर्ग का एकीकार अर्थ प्रकृत में नहीं है किन्तु सम्यक् अर्थ है।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि—भगवदुपासना से कर्मों का नाश नहीं होता किन्तु ज्ञान से कर्मों का नाश होता है। भगवदुपासना से तो ज्ञानसाधन चित्त शुद्धि होती है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।' और संज्ञा शब्द का अर्थ देहात्मविभ्रम शब्दमर्यादा लभ्य नहीं है।

पाचवें आक्षेप का उत्तर है कि—"संसारचक्रभ्रमण की निवृत्ति के लिए परमात्मोपासन-द्वारा चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानसंपादन करना चाहिए। ऐसा लिखना उचित है।

छठे का उत्तर है कि—याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जीवपरैक्य-ज्ञान के संपादन का उपदेश दिया। परमात्मोपादन का उपदेश नहीं दिया।

इसी पृष्ठ में आगे चलकर श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अतः मुक्ति में संज्ञाऽभावप्रतिपादक आप के वाक्य में मुझको मोह हो गया।"

इसका उत्तर है कि—'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इस वाक्य में प्रायण (मृत्यु) है मोक्ष नहीं। प्रेत शब्द में भी यही अर्थ है। संज्ञा शब्द का देहात्मैक्य-भ्रान्ति अर्थ नहीं है किन्तु सम्यग्ज्ञानाभाव अर्थ है, यह हम पूर्व में कह आये हैं।

३९२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—

(१) आत्मा का ज्ञानधर्म भी अविनाशी है।

(२) "अनुच्छित्ति विनाशाभाव धर्म है जिसका का यह अर्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा अर्थ करने में अविनाशी पद से पुनरुक्तिदोष की आपत्ति होगी।"

प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि—आत्मा का ज्ञान धर्म नहीं है। और ज्ञान के आत्मधर्मत्व का कथन श्रुति विरुद्ध है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—अनुच्छित्ति पद में यदि अर्थाभाव में अव्ययीभाव माना जाय तो पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभावसमास होता है, और यदि षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहिसमास माना जाय तो अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमास होता है, स्वार्थ में शक्तिकल्पनापेक्षया अन्यपदार्थ में शक्तिकल्पना गर्हित है। रह गई

पुनरुक्ति की बात । उसका समाधान है कि--अविनाश विशेषरूप से दर्शनाभाव का अभाव है जो विशेषदर्शन रूप होगा । 'णश्' अदर्शने यह धातु है । वह विशेष दर्शन आत्मा के कादाचित्कत्व तथा शाश्वतिकत्व दोनों में संभवी है । और अनुच्छित्ति (उच्छेदाभाव) प्रध्वंसाभावरूप हैं इससे आत्मा का शाश्वतिकत्व सिद्ध होता है ।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डो जी लिखते हैं कि—

(१) यहाँ ज्ञानोत्पत्ति-विनाशानुभव का कथन किससे संगत है ।

(२) धर्मज्ञान के नित्यत्व का प्रतिपादन धर्मज्ञान का धर्मिज्ञान के साथ संबन्ध का विघटक क्यों होगा ।

(३) धर्मभूतज्ञान के प्रति आत्मा उपादानकारण है ऐसा विशिष्टाद्वैति सिद्धान्त ग्रन्थों में कहीं कहा नहीं गया है ।

(४) किञ्च नित्य चिदचित् के प्रति ब्रह्म की उपादानता श्रीभाष्य पढ़कर जाननी चाहिए ।

(५) धर्मभूतज्ञान का और ज्ञाता आत्मा का नित्यत्व और अग्नि के औष्ण्य के समान स्वाभाविक सम्बन्ध 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इत्यादि श्रुति-सिद्ध है ।''

प्रथम आक्षेप का उत्तर है कि—यहाँ ज्ञानोत्पत्तिविनाशानुभव का कथन भवदभिप्रेतज्ञान नित्यत्व के साथ प्रत्याख्यान परतया संबद्ध है ।

दूसरे आक्षेप का उत्तर है कि—धर्मज्ञान के नित्यत्व का प्रतिपादन धर्मज्ञान का धर्मिज्ञान के साथ सम्बन्धका विघटक इसलिये होगा कि धर्मज्ञान का उत्पाद-विनाश अनुभव सिद्ध है ।

तीसरे आक्षेप का उत्तर है कि—धर्मभूतज्ञान के उत्पादविनाशानुभव से धर्मभूतज्ञान के प्रति आत्मा की उपादानकारणता अनुभवसिद्ध है । चाहें विशिष्टाद्वैति-ग्रन्थों में कहा गया हो अथवा नहीं ।

चौथे आक्षेप का उत्तर है कि—नित्य का उपादानकारण कदापि नहीं उपपन्न हो सकता ।

पाँचवें आक्षेप का उत्तर है कि—"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इस श्रुति से द्रष्टा और दृष्टि में धर्मधर्मिभाव नहीं सिद्ध होता। क्योंकि 'द्रष्टुर्दृष्टेः' यहाँ पर समानाधिकरण-षष्ठी है।

३९३ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डो जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के मुख्य-सिद्धान्त में अन्तःकरणादि की कल्पना ही नहीं है, यह पूर्व कह आये हैं।"

यह कथन अत्यन्त असंगत है क्योंकि—विवर्तवादियों के मुख्यमत में भी अन्तःकरणादिकों की कल्पना अवश्य है। यह पूर्व कह आये हैं।

इसी पृष्ठ के अन्त में श्रीत्रिदण्डी जी लिख रहे हैं कि—"यह नहीं सूझ रहा है कि अधिष्ठान रूप ज्ञान की अध्यस्त अहंकार धर्मतया प्रतीति कैसे होगी।"

यह कथन असङ्गत है, क्योंकि—'इदं रजतम्, रजतमिदम्' इत्यादि अध्यास-स्थल में अधिष्ठान और अध्यस्त का परस्पर तादात्म्याध्यास प्रसिद्ध है।

३९४ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के मत में 'अहं जानामि' इस प्रत्यय का उपपादन बृहस्पति भी नहीं कर सकते।"

यह कथन असंगत है क्योंकि—अहङ्कार में वृत्तिरूप-ज्ञानाश्रयत्व की उपपत्ति भी इस अनुभव में हो सकती है। 'यो वेदेदं जिघ्राणि' 'इति स आत्मा' यह श्रुति स्थूलारुन्धती निदर्शनन्याय से अन्तःकरणोपहित आत्मा में घ्राणकर्तृत्व का प्रतिपादन करती है। "स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, संकल्पादेव तच्छ्रुतेः" इत्यादि श्रुति सूत्र जीवन्मुक्ति की विक्षेपावस्था में अन्तःकरणोपहित आत्मा के कर्तृत्व के साधक हैं। "शास्त्र भी अविद्यावान् पुरुष को ही लेकर प्रवृत्त होता है" यह श्रीकरपात्री जी की उक्ति उचित है क्योंकि—कर्मशास्त्र की प्रवृति "ब्राह्मणोऽहम्, कर्ताऽहम्, भोक्ताऽहम्" इत्यादि अविद्या को लेकर हुई है। और ज्ञानकाण्ड की प्रवृत्ति भी अज्ञानियों के प्रति ही हुई, ज्ञानियों के लिए नहीं; उनके प्रति तो निष्फल है। उपनिषद् या ब्रह्मसूत्र मिथ्यार्थबोधक नहीं है वह तो स्वयं स्वरूपतः स्वप्नवत् मिथ्या होते हुए भी परमसत्य परब्रह्म के प्रतिपादक हैं।

श्री त्रिदण्डी जी की—"विलक्षण अधिकारियों के यथार्थ वेदान्तार्थबोधन में प्रवृत्त ब्रह्मसूत्र भी यदि मिथ्यार्थबोधक ही है तो क्या गणेरियों के गीत यथार्थ-

तत्त्वबोधक होंगे" यह उक्ति विद्वेषमूलक या अज्ञानमूलक हैं। शुभाशुभ सूचक स्वप्न मिथ्या होते हुए भी सत्य के सूचक देखे गये हैं।

३९४ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—" 'अहमन्नम्' इत्यादिक वेद मोक्ष में भो अहमर्थ की सत्ता की नित्-ता को सिद्ध करते हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा का अहमर्थत्व श्रुति स्मृति सूत्रों से सिद्ध है।"

इसका उत्तर है कि—'अहमन्नम्' इत्यादिक वेद मोक्षावस्था में अहमर्थ की सत्ता को नहीं सिद्ध करता, किन्तु साधनावस्था में तथा जीवन्मुक्ति की विक्षेपावस्था में। जीवात्मा तथा परमात्मा का लक्षणया अहमर्थत्व श्रुति स्मृति सूत्रों से सिद्ध है शक्त्या अहमर्थ तो अहङ्कार ही है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"उसी तरह बुद्धि उपाधि को लेकर आत्मा में कर्तृत्व है स्वभाव से नहीं, यह संदर्भविरुद्ध कथन प्रलापमात्र है।"

इसका उत्तर है कि—कथन में सन्दर्भ विरुद्धत्व तथा प्रलापमात्रत्व का उपपादन आपने नहीं किया ! अतः आपका यह वचन अग्राह्य है।

३९६ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अपवादन्याय से पञ्चरात्र के प्रामाण्य को भी स्थिर किया" यह कथन असङ्गत है क्योंकि इसकी उपपत्ति नहीं की गई है, और न हो सकती है।

३९५, ३९६, ३९७ पृष्ठों में वर्णित अध्याय विषय-अनुपपादित होने से विप्रतिपन्न तथा अग्राह्य है। 'यथा च तथोभयथा' इस सूत्र से उपहित आत्मा का कर्तृत्व और अनुपहित आत्मा का अकर्तृत्व उभयसिद्ध होता है, अतः आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है किन्तु औपाधिक है।

३९८ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"सर्वज्ञ सर्वशक्ति सत्यसंकल्प परमेश्वर सहित जगत् की निमित्तोपादानता रूप द्विविध कारणता अज्ञानसहकृत जीव में ही स्वभोष्ट है।"

यह कथन विवर्तवादियों के सिद्धान्त के अत्यन्त प्रतिकूल है। विवर्तवादी परमेश्वर को कार्य तथा जीव कल्पित कदापि नहीं मानता। किन्तु जीवेश्वरभेद को कल्पित अवश्य मानता है—संक्षेपशारीरक में लिखा है—

"स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा:"

३६९ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखे हैं कि—"तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, संकल्पादेव तच्छ्रुते:' इत्यादि श्रुति सूत्रों से मुक्तावस्था में आत्मा की कर्तृता प्रमापित है।"

इसका उत्तर है कि उक्त श्रुति सूत्रों से जीवन्मुक्ति की विक्षेपावस्था में आत्मा का कर्तृत्व प्रमापित है। मुक्तावस्था में नहीं। 'अधिष्ठानं तथा कर्ता'

'अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते'

"तत्रैवं सति कर्तारम्" इत्यादि वाक्य उपहित आत्मा के कर्तृत्व का और अनुपहित के अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते हैं: स्वाभाविक कर्तृत्व का नहीं। मायोपहितब्रह्म में जगत्कारणता अद्वैतियों को मान्य है। सार्वज्ञ्यादि गुणों के सहित परमेश्वर की कल्पना जीव अपने अज्ञान से करता है ईश्वर में भी कर्तृत्वादिक मायिक ही हैं वास्तविक नहीं है इत्यादि श्री करपात्री जी की सूक्ति समुचित है। सगुण ईश्वर अज्ञानकल्पित है, निर्गुण परमार्थ है। निर्गुण निर्धर्मिक ईश्वर में कर्तृत्वादि माया कल्पित हैं।

'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'।

यह गीतावाक्य इसमें प्रमाण है। विष्णुपुराण से भी विष्णु में जगत्कर्तृत्व मायाशक्तिसहकार से ही कहा गया है—

'त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥'

इस भागवत के श्लोक से परमेश्वर का माया के गुणों से आरोपित कर्तृत्व प्रतीत होता है। क्योंकि पूर्वार्ध में ईश्वर को अनीह अगुण अविक्रिय कहा गया है। अत: उसमें वस्तुत: कर्तृत्व अनुपपन्न है। उत्तरार्ध में 'उपचर्यते गुणै:' इसका अर्थ है—"सृज्यमानानां पाल्यमानानां संह्रियमाणानाञ्च त्वदाश्रयत्वात् वर्तत्रष्टत्वात् त्वयि सर्गस्थितिसंयमकर्तृत्वं मायागुणैरुपचर्यते आरोप्यते।"

उपचार का आरोप अर्थ लोक तथा शास्त्र उभय में सिद्ध है। उपचर्यंते का कथ्यते यह अर्थ असङ्गत है। 'अस्थूलमनणु०' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म में सर्वगुण-भाव का प्रतिपादन करती हैं असंख्येय-कल्याण-गुणगणाश्रयत्व का प्रतिपादन नहीं करती हैं। "शब्दतस्तथाऽप्रतीतेः, जन्माद्यस्य यतः, अजायमानो बहुधा विजायते" इत्यादि सूत्र तथा श्रुतियाँ उपहितब्रह्म में कर्तृत्व तथा अनुपहित में अकर्तृत्व का प्रतिपादन करती हैं। उपहित और अनुपहित का औपाधिक भेद है वास्तविक नहीं। 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' 'परित्राणाय साधूनाम्' इत्यादि गीता का भी इसी अर्थ में तात्पर्य है। "ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिकं नात्मधर्मः विक्रियात्म-कत्वाद् दृश्यत्वाद् दृश्यनिष्ठत्वात् अहमर्थसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वात् संप्रतिपन्नवत्" यह सदनुमान है। 'यो वेदेदं जिघ्राणि, विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादि श्रुतियाँ उपहितआत्मा में कर्तृत्व का बोधन करती हैं। अतः उक्त अनुमान में श्रुतिबाध नहीं है। विवर्तवादी अहंकारावच्छिन्नत्व को वस्तुतः आत्मधर्म नहीं मानते, अतः अतिव्याप्तिदोष नहीं है। आत्मत्व में दृश्यत्व है और आत्मधर्मत्वाभाव भी है क्योंकि अनुपहित आत्मा अधर्मक है। ज्ञातृत्व-कर्तृत्वादिक में अहमर्थ समानाधिकरण्यतया प्रतीयमानत्व अवश्य है क्योंकि अहमर्थ अहंकार आत्मा में अध्यस्त है और ज्ञातृत्वादिक भी आत्मा में अध्यस्त है।

"विप्रतिपन्नोऽहं प्रत्ययः आत्मगोचरो न भवति अहं प्रत्ययत्वाद् देहात्म-प्रत्ययवत्।"

यह अनुमान "विप्रतिपन्नो रजतप्रत्ययो रजतगोचरो न भवति रजतप्रत्यय-त्वात् शुक्तिकायां रजतप्रत्ययवत्।" इस अनुमानाभास के समान नहीं है। क्योंकि प्रकृत अनुमानाभास में दृष्टान्त सिद्धि है। और पूर्वानुमान में दृष्टान्त उभय संप्रतिपन्न है।

४०७ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"निष्कर्ष शब्दों को छोड़कर अपृथक्सिद्धविशेषणवाची शब्दविशेष्यपर्यन्त के वाचक होते हैं। धातु सदा ही निष्कृष्टक्रियाओं के ही वाचक होते हैं।"

इसका उत्तर है कि—ज्ञान शब्द भी निष्कृष्टज्ञान का ही वाचक है विशेष्य-पर्यन्त अर्थ का वाचक नहीं है अतः 'आत्मा ज्ञानम्' इस प्रयोग की आपत्ति विशिष्टाद्वैतिमत में अनिवार्य है।

"अहमर्थं आत्मा हो तब तो सशरीर-अहमर्थ में ही आतमत्व पर्यवसित होगा।"

यह श्री करपात्री जी उक्ति अत्यन्त समुचित है क्योंकि अहं प्रत्यय का विषय सशरीर ही है। 'अशरीरं वा वसन्तम्, स तत्र पर्यति जक्षन् क्रीडन्' इत्यादि श्रुतियों का अहमर्थं से कोई संबन्ध नहीं हैं। वहाँ तो तच्छब्दार्थत्वेन आत्मा का वर्णन है।

इसी पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"आत्मा ज्ञातृत्वादि विकार रहित है' इत्यादि बालालाप उपेक्षणीय है।"

इसका उत्तर है कि—बालालाप कह देने से प्रत्याख्यान नहीं होगा। निर्विकारत्व श्रुतिउभयसंमत होने से प्रबल है। यह कथन अत्यन्त युक्त है असंबद्ध कह देने से खण्डन नहीं होगा। 'यो वेदेदं जिघ्राणि' इत्यादि श्रुति उपहित-आत्मा में कर्तृत्वादिकी बोधिका है। आत्मा का अविकारित्व स्वाभाविक है विकारित्व अध्यारोपित है। इस प्रकार उभयविधश्रुतियों की उपपत्ति है। उपहित आत्मा में ज्ञातृत्व अध्यारोपित है केवल में तदभाव है यह बार-बार कह आये हैं। धर्मभूत ज्ञान में संकोच विकास रूप विक्रिया मानने पर अनित्यत्वापत्ति रूप अनिष्टापत्ति होगी। आत्मा का अस्तित्व निर्धर्मक होने से कल्पित है नाशाभाव अधिष्ठान स्वरूप होने से अकल्पित है, अतः गगनकुसुम के सौरभ का दृष्टान्त यहाँ असंगत हैं।

४०९ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यदि क्षण-लवादिरूपेण विक्रियमाण काल संबन्धित्व संबन्धी की विक्रिया का आपादक नहीं है।"

यह कथन असंगत है क्योंकि—काल की क्षण-लवादिरूपेण विक्रिया नहीं होती। क्षण-लवादि व्यवहार तो काल के क्रियाकृतपरिच्छेद प्रयुक्त है। जैसे आकाश का घटादि परिच्छेद। अतः धर्मभूतज्ञान की संकोच विकास रूप क्रिया से धर्मी आत्मा में विक्रिया अनिवार्य 'उपपन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्।' यह लोकन्याय सिद्ध वचन है। स्वरूपभूत अनुभूति नित्य है। प्रमाणफलभूत वृत्ति-रूप अनुभूति का उत्पत्त्यादिमान्य है। उपहित आत्मा के ज्ञातृत्वादि बोधक श्रुतियाँ अनुपहित आत्मा की निर्विकारता को नहीं बाधित कर सकती हैं और धर्मभत वृत्तिरूप ज्ञान की विक्रियात्मकता को भी बाधित नहीं कर सकतीं।

यह श्री करपात्री जी का कथन अद्वैतसिद्धान्त का पोषक और विशिष्टा-द्वैतसिद्धान्त के प्रतिकूल है। विवर्तवादी संमत चिन्मात्र स्वप्रकास होने से ज्ञानाविषय है, अतः गगनकुसुम का सौरभ नहीं है। शुद्ध आत्मा अहं बुद्धि और शब्द दोनों का अगोचर है, अतः अहं शब्द का उसमें लक्षण या प्रयोग होता है। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इस श्रुति में द्वैतपद भेदसामान्य को कहता है और द्वैत को मिथ्या होने से द्वैतपदोत्तर इव शब्द का प्रयोग है। द्वैत यदि परमार्थ होता तो इव शब्द का प्रयोग न होता।

४११ पृष्ठ में श्री त्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्।" जिस मोक्षदशा में सर्व प्रकार विशिष्ट परमात्म रूप एक अर्थ का सक्षात्कार हो गया" इत्यादि। शब्दमर्यादा से यह अर्थ लभ्य नहीं हैं।

४१२ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा" जिस एक का प्रपञ्चान्तर्गत कृत्स्न वस्तु गुणरूप से या भूतिरूप से प्रकारभूत है वही यहाँ भूम शब्दार्थ है।"

यह अर्थ भी शब्दमर्यादा से अलभ्य है।

इसी पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"अतः प्रचालकों से विभूषित कलापी के समान गुणविभूति-विशिष्ट एक ब्रह्मतत्त्व का ही प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं।"

इस वाक्य में ही के स्थान पर भी का प्रयोग उचित है। क्योंकि श्रुतियाँ सगुण तथा निर्गुण दोनों का प्रतिपादन करती हैं।

४१३ पृष्ठ में श्रीत्रिदण्डी जी लिखते हैं कि—"विवर्तवादियों के मुख्यसिद्धांत के अनुसार शुक्तिरजत के समान गुण सहित परमेश्वर को अज्ञान से जीवकल्पित समझकर रसमयीभक्ति नहीं हो सकती।"

यह कथन असङ्गत है क्योंकि—निर्गुण भगवत्स्वरूप व्यवहारागोचर है, अतः विदेहमुक्ति के पूर्व सगुणभक्ति आवश्यक है सगुणभक्ति निर्गुणप्राप्ति का सोपान है। गीता में लिखा है—

'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' भागवत में लिखा है—

ये चारविन्दाक्षविमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।'

इस वाक्य से प्रतीत होता है कि निर्गुण परमधाम है और सगुण अपर-धाम है। सगुण को प्राप्त करके निवृत्त होते हैं। निर्गुण को प्राप्त करके निवृत्त नहीं होते।

इस प्रकार अन्त में यह सिद्ध हुआ कि अव्यय अथवा अनव्यय अहंपद का शक्यार्थ अहंकार है। अहंकारावच्छिन्न-चैतन्य अथवा शुद्धचैतन्य में अहंपद की लक्षणा है। इतिशम्।

अन्त में अखिल-द्वैतवाद-विध्वंसन-परायण-श्रीमधुसुदन-सरस्वती की उक्ति का उल्लेख करते हुये प्रजा की बुद्धि शुद्धि की प्रार्थना करते हैं।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरबिन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

बाणनेत्रवियदक्षिभिर्मिते
वैक्रमे शुचिदलेऽज़माश्रिते ।
भास्करेऽहमभिधेयनिर्णयः
पूर्तिमाप वसुसंमिते तिथौ ॥

—:०:—

❀ पूज्यस्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज के ग्रन्थ ❀

१ विचार पीयूष	१५-००
२ श्री विद्यारत्नाकरः	१२-००
३ रामायण मीमांसा	१०-००
४ श्री भगवतत्त्व	८-००
५ वेद का स्वरूप और प्रामाण्य (दो भाग)	७-५०
६ वेदस्वरूप विमर्शः	७-००
७ अहमर्थ और परमार्थसार	६-००
८ मार्क्सवाद और रामराज्य (गीता प्रेस)	५-००
९ भक्तिसुधा द्वितीय खण्ड	५-००
१० भक्तिसुधा तृतीय खण्ड	५-००
११ राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म	५-००
१२ भक्तिरसार्णवः	५-००
१३ चातुर्वर्ण्यसंस्कृति-विमर्शः (प्रथम भाग)	५-००
१४ सङ्घर्ष और शान्ति	३-५०
१५ भक्तिसुधा प्रथम खण्ड अप्राप्त	२-४०
१६ वर्णाश्रम-मर्यादा और संकीर्तन-मीमांसा	१-५०
१७ शांकरभाष्य पर आक्षेप और समाधान	१-५०
१८ राहुल जी की भ्रान्ति	१-५०
१९ जाति, राष्ट्र और संस्कृति	१-५०
२० वेद-प्रामाण्य-मीमांसा	१-००
२१ रामराज्य-परिषद् और अन्य दल	०-७५
२२ ये राजनीतिक दल	०-५०
२३ रामराज्य-परिषद् और स्वतन्त्र-पार्टी	०-५०
२४ आधुनिक राजनीति और रामराज्य परिषद्	०-५०
२५ व्यक्तिगत या सामूहिक	०-५०
२६ तिथ्यादिनिर्णयः कुम्भनिर्णयश्च	०-५०
२७ राजनीति में भी ईमानदारी	०-३०

प्राप्ति स्थान

श्रीसन्तशरणवेदान्ती धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी